THE

HISTORY OF RAJPUTANA

VOLUME I

राजपूताने का इतिहास

जिल्द् पहली

THE

HISTORY OF RAJPUTANA

VOL. I.

Early History of Rajputana

BY

MAHĀMAHOPĀDHYĀYA RĀI BAHĀDUR,

Gaurishankar Hirachand Ojha

Printed at the Vedic Yantralaya,

AJMER.

Second Edition. } 1937 A. D. { *Price Rs. 7*

राजपूताने का इतिहास

जिल्द पहली

राजपूताने का प्राचीन इतिहास

ग्रन्थकर्त्ता

महामहोपाध्याय

रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा

बाबू चांदमल चंडक के प्रबन्ध से

वैदिक-यन्त्रालय, अजमेर में छपा

द्वितीय संस्करण } विक्रम संवत् १९९३ { मूल्य ७)

राजपूताने का इतिहास—

कर्नल जेम्स टॉड

इतिहास के परमानुरागी

पुरातत्वानुसंधान के अपूर्व प्रेमी

राजपूत जाति के सच्चे मित्र

राजपूतों के इतिहास के सच्चे पिता

और

उनकी कीर्ति के रक्षक

महानुभाव

कर्नल जेम्स टॉड

की

पवित्र स्मृति को

सादर समर्पित

प्रथम संस्करण की भूमिका

संसार के साहित्य में इतिहास का आसन बहुत ऊंचा है। ज्ञान-भंडार के अन्यान्य विषयों में से इतिहास एक ऐसा विषय है कि उसके अभाव में मनुष्य-जाति अपनी उन्नति करने में समर्थ नहीं हो सकती। सच तो यह है कि इतिहास से मानव-समाज का बहुत कुछ उपकार होता है। देशों, जातियों, राष्ट्रों तथा महापुरुषों के रहस्यों को प्रकट करने के लिए इतिहास एक अमोघ साधन है। किसी जाति को सजीव रखने, अपनी उन्नति करने तथा उसपर दृढ़ रहकर सदा अग्रसर होते रहने के लिए संसार में इतिहास से बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं है। अतीत गौरव तथा घटनाओं के उदाहरणों से मनुष्य-जाति एवं राष्ट्रों में जिस संजीवनी शक्ति का सञ्चार होता है उसे इतिहास के सिवा अन्य उपायों से प्राप्त करके सुरक्षित रखना कठिन ही नहीं प्रत्युत एक प्रकार से असंभव है।

इतिहास का महत्त्व तथा उसकी उपयोगिता बतलाने के लिए किसी विशद विवेचन की आवश्यकता नहीं है। शिक्षित समाज अब इस बात को भलीभांति समझने लग गया है कि इतिहास भूतकाल की अतीत स्मृति तथा भविष्यत् की अदृश्य सृष्टि को ज्ञानरूपी किरणों-द्वारा सदा प्रकाशित करता रहता है। पृथ्वीतल की किसी जाति का साहित्य-भण्डार उस समय तक पूर्ण नहीं माना जा सकता, जब तक इतिहासरूपी अमूल्य रत्नों को भी उसमें गौरवपूर्ण स्थान न मिला हो; क्योंकि अधःपतित एवं दीर्घनिद्रा में पड़ी हुई जाति के उत्थान एवं जागृति के अन्यान्य साधनों में उसका इतिहास भी एक सर्वोत्कृष्ट एवं आवश्यक साधन है। यूरोप के सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ एडमंड बर्क का कथन है कि इतिहास उदाहरणों के साथ-साथ तत्वज्ञान का शिक्षण है। जब हमको किसी देश अथवा जाति के प्राचीन इतिहास का परिचय हो, जब हम यह जानते हों

कि अमुक जाति अथवा राष्ट्र का उत्थान इन-इन कारणों से हुआ और कौन-कौन से कारणों से तथा किस प्रकार की परिस्थिति के होने से उसको अपने पतन का दृश्य देखना पड़ा, तभी हम वर्तमान युग की परिस्थिति को समझने तथा सुधारने में समर्थ हो सकते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इतिहास मनुष्य जाति का एक सच्चा शिक्षक है, जो समाज को भविष्य का उचित पथ बतलाता रहता है। यह निश्चित है कि उन्नति अनुभव पर निर्भर रहती है और उन्नति के लिए यह भी नितान्त आवश्यक है कि हमें उसके तत्त्वों का ज्ञान हो। उन (तत्त्वों) का ज्ञान उनके पूर्व-परिणामों पर अवलंबित रहता है और उनको जानने का एकमात्र साधन इतिहास ही है। जिस प्रकार सिनेमा में भूतकाल की किसी घटना का संपूर्ण चित्र हमारी आंखों के सामने आ जाता है, उसी तरह इतिहास किसी तत्कालीन समाज के आचार-विचार, धार्मिक भाव, रहन-सहन, राजनैतिक संस्था, शासन-पद्धति आदि सभी ज्ञातव्य बातों का एक सुन्दर चित्र हमारी अन्तर्दृष्टि के सामने स्पष्ट रूप से रख देता है। इतिहास ही से हम जान सकते हैं कि अमुक जाति अथवा देश में धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक विचार कैसे थे, उस काल की परिस्थिति किस प्रकार की थी, राजा-प्रजा का सम्बन्ध किस तरह का था, उसकी उन्नति में कौन-कौन से कारण सहायक हुए, कौन-कौन से आदर्श जातीय जीवन के पथप्रदर्शक बने, किस प्रकार जातीय जीवन का निर्माण हुआ, किस तरह ललित कलाओं तथा विभिन्न विद्याओं की उन्नति हुई और किन-किन सामाजिक तथा नैतिक शक्तियों का उस देश के निवासियों पर प्रभाव पड़ा, जिससे वह कालान्तर में उन्नति की चरम सीमा पर पहुंच गया। इसी प्रकार किन कारणों से पतन का आरम्भ हुआ, धर्म और राष्ट्रीयता के बन्धन शिथिल होकर मनुष्यों के उच्च आदर्श किस प्रकार अस्त होने लगे, वे कौनसी सामाजिक शक्तियां थीं जो शनैः शनैः लोगों में भेदभाव का विष फैला रही थीं, और अन्त में फूट के घर कर लेने पर वह जाति किस प्रकार उन्नति-शिखर पर से अवनति के गहरे गड्ढे में जा गिरी—यह सब इतिहास द्वारा

ही ज्ञात हो सकता है। साथ ही हम यह भी जान सकते हैं कि देश अथवा जातियां पराधीन किस तरह हो जाती हैं, सामाजिक संगठन क्यों टूट जाते हैं और सुविशाल साम्राज्य तथा महाप्रतापी राजवंश भी किस तरह नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। इतिहास-द्वारा पूर्वजों के गुण-गौरव से परिचित होकर अवनत जाति भी पारस्परिक क्षुद्र भेदभाव को मिटाकर अपने में संघठन-शक्ति का संचार करती हुई राष्ट्रीयता के ऐक्य-सूत्र में आबद्ध हो सकती है। किसी ऐतिहासिक का यह कथन बहुत ठीक है कि यदि किसी राष्ट्र को सदैव अधःपतित एवं पराधीन बनाये रखना हो, तो सबसे अच्छा उपाय यह है कि उसका इतिहास नष्ट कर दिया जाय। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यही हो सकता है कि किसी राष्ट्र के उत्थान में उसका इतिहास सब से बड़ा सहायक एवं सुयोग्य मार्ग-दर्शक होता है।

इन सब बातों को सामने रखकर जब हम अपने प्यारे देश भारतवर्ष का ध्यान करते हैं तो हमें उसके इतिहास को सम्पन्न करने तथा सुरक्षित रखने की बहुत बड़ी आवश्यकता जान पड़ती है, परन्तु इस समय हमारे देश के वास्तविक इतिहास का बड़ा भारी अभाव दीख पड़ता है।

अत्यन्त प्राचीन काल में भारतवर्ष ही संसार की सभ्यता का आदि-स्रोत था। यहीं से संसार के भिन्न-भिन्न विभागों में धर्म, सभ्यता, संस्कृति, विद्या और विज्ञान का प्रचार हुआ, परन्तु भारतवर्ष का मुसलमानों के इस देश में आने से पूर्व का शृंखलाबद्ध लिखित इतिहास नहीं मिलता। भारत-वर्ष एक अत्यन्त प्राचीन और महाविशाल देश है, जहां कभी किसी एक ही राजा का राज्य नहीं रहा, परन्तु समय समय पर अनेक राजवंशों तथा राज्यों का उदय और अस्त होता रहा है। जगन्नियन्ता जगदीश्वर ने पृथ्वी-तल पर इस भारतभूमि को ऐसा रचा कि अत्यन्त प्राचीन काल से भिन्न-भिन्न देशों के विजेताओं ने इसे सदा अपने हस्तगत करने में ही अपने बल और पौरुष की पराकाष्ठा समझी। यही कारण है कि हम अपने देश को पृथ्वी के विजयी शूरवीरों का क्रीडाक्षेत्र पाते हैं। जिस देश पर शताब्दियों से विदेशियों के आक्रमण होते चले आये हों और जहां बाहरी लोगों के तथा

एतद्देशीय राजाओं के पारस्परिक युद्धों ने प्रचंड रूप धारण किया हो, वहां के इतिहास का ज्यों-का-त्यों बना रहना असंभव है। युद्धों की भरमार रहने के कारण अनेक प्राचीन नगर नष्ट होते और उनपर नये बसते गये, जिससे अधिक प्राचीन नगर तो भूमि की वर्तमान सतह से कई गज़ नीचे दबे पड़े हैं, जिनका कहीं कहीं खुदाई होने से पता लग रहा है। तक्षशिला, हरपा, नालंद और मोहंजो दड़ो[1] आदि की खुदाई से भारतवर्ष की प्राचीन उन्नत सभ्यता का पता लगता है। मोहंजो दड़ो के नीचे तो एक ऐसा प्राचीन नगर[2] निकल आया है, जो कम से कम आज से ५००० वर्ष पूर्व का है और जिससे यूरोप, अमेरिका आदि की आधुनिक नगरनिर्माण-कला का उस समय भारत में होना सिद्ध होता है। उस नगर के मकानों में स्नानागार, पानी बहने के लिए नालियां, छतों का पानी गिरने के लिए मिट्टी के नल, मकानों के बाहर कूड़ा-कर्कट डालने की कुंडियां तथा प्रत्येक गली में ढकी हुई मैला पानी बहने की नालियां, जिनमें हरएक घर की नालियां आ मिलती हैं, बनी हुई हैं। यहां से जो अनेक पदार्थ निकले हैं, उनसे उस समय की कारीगरी, सभ्यता आदि का भी बहुत कुछ पता लगता है। उस के नीचे एक और नगर भी दबा हुआ प्रतीत होता है, जो उससे भी प्राचीन होना चाहिये। जब उसकी खुदाई होगी तब भारत की इससे भी प्राचीन सभ्यता का पता चलेगा। प्राचीन नगरों के खंडहरों से तथा अन्यत्र मिलनेवाले प्राचीन स्तंभों, मूर्तियों, चित्रों आदि से आज भी हम प्राचीन भारतीयों की सभ्यता, शिल्प, ललित कलाओं आदि का कुछ परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार का कार्य अब तक बहुत थोड़ा हुआ है, परन्तु ज्यों-ज्यों

---

(१) यह दड़ा सिंध में लरकाना नगर से बीस मील दूर नॉर्थ-वैस्टर्न रेल्वे के डोकरी नामक स्टेशन से सात मील पर है और उसकी ऊंचाई तीस से चालीस फुट, लम्बाई एक मील से अधिक और चौड़ाई भी बहुत है।

(२) भारतवर्ष के इस अत्यन्त प्राचीन नगर का पता लगाने का श्रेय पुरातत्त्व विभाग के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीयुत राखालदास बैनर्जी एम्. ए. को है, जिसके प्रयत्न से ई० स० १९२२ में इस नगर का पता चला और इसकी खुदाई शुरू हुई।

अधिक होता जायगा, त्यों त्यों प्राचीन भारत के गौरव का अनुमान करने के प्रत्यक्ष प्रमाण विशेष रूप से उपस्थित होते जायेंगे।

जब से ऐतिहासिक काल का प्रारंभ होता है, अथवा उसके भी बहुत पहले से, हम इस देश में लड़ाई-झगड़ों का अखंड राज्य स्थापित पाते हैं। आर्यों के इस देश में आकर बसने से ही इस लीला का आरंभ होता है। आदिम निवासियों को मार-काटकर पीछे हटाने और अच्छे अच्छे स्थानों को अपने अधिकार में लाने ही से इस देश के आर्य-इतिहास का आरंभ होता है। कुछ काल के अनंतर हम इन्हें अपनी सभ्यता फैलाने के उद्योग में यत्नशील पाते हैं। इस प्रकार दीर्घ काल तक आर्य जाति-भारत-वर्ष में अपने संगठन में तत्पर रही। राज्यों की स्थापना हो चुकने पर ईर्षा और मत्सर ने अपना प्रभुत्व दिखाया और परस्पर के झगड़ों से देश में रक्त की नदियां बहने लगीं। उसके अनंतर विदेशियों के आक्रमणों का प्रारंभ होता है। सर्वप्रथम ईरान के सम्राट् दारा ने और उसके बाद सिकं-दर एवं उत्तर के यूनानियों आदि ने इस देश पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहा। बौद्धों और ब्राह्मणों के धार्मिक संघर्ष ने भी भारतवर्ष को हानि अवश्य पहुंचाई। फिर मुसलमानों की इस देश पर कृपा हुई और अन्त में यह यूरोपीय जातियों का लीलाक्षेत्र बना। मुसलमानों के समय में तो प्राचीन नगर, मन्दिर, मठ आदि धर्मस्थान, राजमहल और प्राचीन पुस्त-कालय नष्ट कर दिये गये, जिससे भारतीय इतिहास के अधिकांश साधन विलुप्त हो गये। इन सब घटनाओं से स्पष्ट है कि ऐसी अवस्था में इस देश का शृंखलाबद्ध इतिहास बना रहना और मिलना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है।

सुप्रसिद्ध मुसलमान विद्वान् अबुरिहां अलबेरूनी ने, जो ग्यारहवीं शताब्दी में कई वर्षों तक भारतवर्ष में रहकर संस्कृत पढ़ा और जिसने यहां के भिन्न भिन्न विषयों के ग्रन्थों का अध्ययन किया था, अपनी पुस्तक 'तह-क़ीके हिन्द' में लिखा है—"दुर्भाग्य है कि हिन्दू लोग घटनाओं के ऐति-हासिक क्रम की ओर ध्यान नहीं देते। वर्षानुक्रम से अपने राजाओं की

वंशावलियां रखने में भी वे बड़े असावधान हैं और जब उनसे इस विषय में पूछा जाता है तो ठीक उत्तर न देकर वे इधर उधर की बातें बनाने लगते हैं[1]", परन्तु इस कथन के साथ ही वह यह भी लिखता है—"नगरकोट के क़िले में वहां के राजाओं की रेशम के पट्ट पर लिखी हुई वंशावली होने का मुझे पता लगा, परन्तु कई कारणों से मैं उसे न देख सका[2]।" इसलिए अल्बेरूनी के उपर्युक्त कथन का यही अभिप्राय हो सकता है कि साधारण लोगों में उस समय इतिहास का विशेष ज्ञान न हो, परन्तु राजाओं तथा राज्याधिकारियों के यहां ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण अवश्य रहता था। अल्बेरूनी के उपर्युक्त कथन से यदि कोई यह आशय समझते हों कि हिन्दू जाति में इतिहास लिखने की रुचि न थी अथवा हिन्दुओं के लिखे हुए कोई इतिहास ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं, तो यह बात हम एकदम नहीं मान सकते। हां, किसी अर्थ में यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिष, काव्य, कोष आदि अनेक विषयों के ग्रन्थ मिलते हैं, उसी तरह लिखा हुआ केवल इतिहास विषय पर कोई प्राचीन ग्रन्थ नहीं मिलता। मुसलमानों आदि के हाथ से नष्ट होने पर भी जो कुछ सामग्री बच रही और जो अब तक उपलब्ध हो चुकी है, वह भी इतनी प्रचुर है कि उसकी सहायता से एक सर्वांगपूर्ण इतिहास लिखा जा सकता है, परन्तु ऐसा इतिहास लिखने के लिए अनेक विद्वानों के वर्षों तक श्रम करने की आवश्यकता है। यह सामग्री चार भागों में विभक्त की जा सकती है—

(१) हमारे यहां की प्राचीन पुस्तकें।

(२) विदेशियों के यात्रा-विवरण और इस देश के वर्णन-सम्बन्धी ग्रन्थ।

(३) प्राचीन शिलालेख तथा दानपत्र।

(४) प्राचीन सिक्के, मुद्रा या शिल्प।

---

(१) एडवर्ड साचू; अल्बेरूनीज़ इंडिया; जि० २, पृ० १०-११।

(२) वही; जि० २, पृ० ११।

(१) यद्यपि भारतवर्ष जैसे विस्तीर्ण देश का, जिसमें समय समय पर अनेक स्वतन्त्र राज्यों का उदय और अस्त होता रहा, शृंखलाबद्ध इतिहास नहीं मिलता, पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्राचीन काल में भारतवासी इतिहास के प्रेमी थे और समय समय पर ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखते रहते थे। वैदिक साहित्य से आर्य जाति की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति के प्रत्येक अंग पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है और प्राचीन आर्यों के रहन-सहन, उनकी कलाएं, उनके सामाजिक जीवन, धार्मिक भाव आदि अनेक विषयों का विशद वर्णन उसमें मिलता है। वेदों में वर्णित सभ्यता का विस्तृत इतिहास लिखने का यदि यत्न किया जाय तो इसपर निस्संदेह कई बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। यह बात निर्विवाद है कि हमारे यहां भिन्न भिन्न समयों पर अनेक राज्यों का इतिहास संक्षेप से अथवा काव्यों में लिखा गया था और भिन्न भिन्न समय के राजाओं की वंशावलियां तथा ऐतिहासिक घटनाएं लिखी जाती थीं। रामायण में रघुवंश का और महाभारत में कुरुवंश का विस्तृत इतिहास है। इनके सिवा हिन्दू जाति के इन दोनों आदर्श ग्रन्थों में तात्कालिक लोगों के धार्मिक, राजनैतिक और दार्शनिक विचार, रीति-रिवाज़, युद्ध और संधि के नियम, आदर्श पुरुषों के जीवनचरित्र, राजदरबारों के वर्णन, युद्ध की व्यूहरचनाएं तथा गीता के समान संसार-प्रसिद्ध उपदेश आदि मनुष्य जाति-संबन्धी प्रायः सभी विषयों का समावेश है।

ई० स० के पूर्व की चौथी शताब्दी में मौर्यवंशी सम्राट् चन्द्रगुप्त के मंत्री कौटिल्य (चाणक्य, विष्णुगुप्त) ने 'अर्थशास्त्र' नामक उस समय की राज्यव्यवस्था का बड़ा ग्रन्थ लिखा। उस में भले-बुरे मंत्रियों की परीक्षा, खुफिया पुलिस-विभाग, उसका उपयोग तथा प्रबन्ध; गुप्तमन्त्रणा, दूतप्रयोग, राजकुमार-रक्षा, राज्य-प्रबन्ध, राजा का कर्त्तव्य, अन्तःपुर (ज़नाना) का प्रबन्ध, भूमि के विभाग, दुर्गनिर्माण, राजकीय हिसाब का प्रबन्ध, ग़बन किये हुए धन को निकालना, कोश में रखने योग्य रत्नों की जांच, खानों की व्यवस्था, राज्य के भिन्न भिन्न विभागों के अध्यक्षों के कार्य, तोलमाप की जाँच, सेना के

विभिन्न विभागों के अध्यक्षों के कर्त्तव्य, लोगों के देश-विदेश में जाने के लिए राजकीय मुद्रा सहित परवाना देने का प्रबन्ध, विवाहसम्बन्धी नियम, दायविभाग, व्यापारियों और शिल्पियों की रक्षा, सिद्ध के भेष में रहकर बदमाशों को पकड़ना, अकस्मात् मरे हुए मनुष्यों की लाशों की जाँच, दंड-विधान, कोशसंग्रह, राजसेवकों के कर्त्तव्य, षाड्गुण्य (संधि, विग्रह, आसन, यान, संग्रह और द्वैधीभाव) का उद्देश्य, युद्धविषयक विचार, विविध प्रकार की संधियां, प्रबल शत्रु से व्यवहार और विजित शत्रु का चरित्र, क्षय (योग्य पुरुषों का ह्रास), व्यय (सेना तथा धन का ह्रास) तथा लाभ का विचार, छावनियों का बनाना, सैनिक निरीक्षण, छलयुद्ध, क़िलों को घेरना, विजित प्रदेशों में शांति-स्थापन, युद्ध के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के शस्त्रों और यन्त्रों का बनवाना इत्यादि अनेक विषयों का वर्णन है, जिससे यही मानना पड़ता है कि आधुनिक उन्नत और सभ्य देशों के राज्य-प्रबन्ध से हमारे यहां की उस समय की राज्य-व्यवस्था किसी प्रकार कम न थी। इस ग्रन्थ के प्रकाश में आने से भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के विद्वानों को अपने मत में बहुत कुछ परिवर्तन करना पड़ा है।

वायु, मत्स्य, विष्णु, भागवत आदि पुराणों में सूर्य और चन्द्रवंशी राजाओं तथा उनकी शाखा-प्रशाखाओं की प्राचीन काल से लगाकर महाभारत के युद्ध से पीछे की कई शताब्दियों तक की वंशावलियों एवं नंद, मौर्य, शुंग, काण्व, आंध्र आदि वंशों के राजाओं की पूरी नामावलियां तथा पिछले चार वंशों के प्रत्येक राजा के राजत्व-काल के वर्षों की संख्या तक दी है। विक्रम संवत् के प्रारंभ के पीछे भी अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखे गये थे, जैसे बाणभट्ट-रचित हर्षचरित में थानेश्वर के बैसवंशी राजाओं का, वाक्पतिराज के बनाये हुए गउड़वहो में कन्नौज के राजा यशोवर्मा (मोखरी) का, पद्मगुप्त (परिमल)-प्रणीत नवसाहसांकचरित में मालवे के परमारों का, बिल्हण के विक्रमांकदेवचरित में कल्याण के चालुक्यों का, जयानक-विरचित पृथ्वीराजविजय में सांभर और अजमेर के चौहानों का, सोमेश्वर-कृत कीर्तिकौमुदी, हेमचन्द्र के द्व्याश्रयकाव्य और जिनमंडनोपाध्याय, जय-

सिंहसूरि तथा चारित्रसुन्दरगणि के लिखे हुए कुमारपालचरितों में गुजरात के सोलंकियों का; कल्हण और जोनराज-रचित राजतरंगिणियों में कश्मीर पर राज्य करनेवाले भिन्न-भिन्न वंशों का; संध्याकरनंदी-विरचित रामचरित में बंगाल के पालवंशियों का; आनंदभट्ट के बल्लालचरित में बंगाल के सेन-वंशी राजाओं का; मेरुतुंग की प्रबन्धचिन्तामणि में गुजरात पर राज्य करने-वाले चावड़ों और सोलंकियों के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न राजाओं और विद्वानों आदि का; राजशेखरसूरि-रचित चतुर्विंशतिप्रबन्ध में कई राजाओं, विद्वानों और धर्माचार्यों का; नयचन्द्रसूरि के हम्मीरमहाकाव्य में सांभर, अजमेर और रणथंभोर के चौहानों का तथा गंगाधरकवि प्रणीत मंडलीक काव्य में गिरनार के कतिपय चूडासमा (यादव) राजाओं का इतिहास लिखा गया था।

इन ऐतिहासिक ग्रन्थों के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न विषयों की कितनी ही पुस्तकों में कहीं प्रसंगवशात् और कहीं उदाहरण के रूप में कुछ-न-कुछ ऐतिहासिक वृत्तान्त मिल जाता है। कई नाटक ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर रचे हुए मिलते हैं और कई काव्य, कथा आदि की पुस्तकों में ऐतिहासिक पुरुषों के नाम एवं उनका कुछ वृत्तान्त भी मिल जाता है; जैसे पतंजलि के महाभाष्य से साकेत (अयोध्या) और मध्यमिका (नगरी, चित्तोड़ से सात मील उत्तर) पर यवनों (यूनानियों) के आक्रमण का पता लगता है। महाकवि कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में शुंग वंश के संस्थापक राजा पुष्यमित्र के समय में उसके पुत्र अग्निमित्र का विदिशा (भेलसा) में शासन करना, विदर्भ (बराड़) के राज्य के लिए यज्ञसेन और माधवसेन के बीच विरोध होना, माधवसेन का विदिशा जाने के लिए भागना तथा यज्ञसेन के सेनापति-द्वारा क़ैद होना, माधवसेन को छुड़ाने के लिए अग्निमित्र का यज्ञसेन से युद्ध करना तथा विदर्भ के दो विभाग कर, एक उसको और दूसरा माधवसेन को देना; पुष्यमित्र के अश्वमेध के घोड़े का सिंधु (कालीसिन्ध, राजपूताना) नदी के दक्षिण-तट पर यवनों (यूनानियों) द्वारा पकड़ा जाना, वसुमित्र का यवनों से

लड़कर घोड़े को छुड़ाना और पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ का पूर्ण होना आदि वृत्तान्त मिलता है। वात्स्यायन-कृत 'कामसूत्र' में कुंतल देश के राजा शातकर्णी के हाथ से क्रीड़ाप्रसंग में उसकी राणी मलयवती की मृत्यु होना लिखा मिलता है। वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' तथा बाणभट्ट के 'हर्षचरित' में भिन्न-भिन्न प्रकार से कई राजाओं की मृत्यु होने का प्रसंगवशात् उल्लेख है। अजमेर के चौहान राजा विग्रहराज के राजकवि सोमेश्वर-रचित 'ललितविग्रहराज' नाटक में विग्रहराज (वीसलदेव) और मुसलमानों के बीच की लड़ाई का हाल मिलता है। कृष्णमित्र के 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक से पाया जाता है कि चेदि देश के राजा कर्ण ने कलिंजर के चंदेल राजा कीर्तिवर्मा का राज्य छीन लिया, परन्तु उस(कीर्तिवर्मा)के ब्राह्मण सेनापति गोपाल ने कर्ण को परास्त कर कीर्तिवर्मा को फिर राज्यसिंहासन पर बिठलाया।

इसी प्रकार कई विद्वानों ने अपने अपने ग्रंथों के प्रारम्भ या अंत में अपना तथा अपने आश्रयदाता राजा या उसके वंश का वर्णन किया है। किसी-किसी ने तो अपनी पुस्तक की रचना का संवत् तथा तत्कालीन राजा का नाम भी दिया है। कई नक़ल करनेवालों ने पुस्तकों के अन्त में नक़ल करने का संवत् तथा उस समय के राजा का नामोल्लेख भी किया है। जल्हण पंडित ने 'सूक्तिमुक्तावली' के आरम्भ में अपने पूर्वजों के वृत्तांत के साथ देवगिरि के कई एक राजाओं का परिचय दिया है। हेमाद्रि पंडित ने अपनी 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' के व्रतखंड के अन्त की 'राजप्रशस्ति' में राजा दृढ़प्रहार से लगाकर महादेव तक के देवगिरि (दौलताबाद) के राजाओं की वंशावली तथा कई एक का संक्षिप्त वृत्तान्त भी लिखा है। ब्रह्मगुप्त ने शक संवत् ५५० (वि० सं० ६८५) में 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' लिखा, उस समय भीनमाल (श्रीमाल, मारवाड़) का राजा चाप(चावड़ा)वंशी व्याघ्रमुख था। ई० स० की सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में माघ कवि ने, जो भीनमाल का रहनेवाला था, 'शिशुपालवध' काव्य रचा, जिसमें वह अपने दादा सुभद्रदेव को राजा वर्मलात का सर्वाधिकारी बतलाता है।

वि० सं० १२८४ (ई० स० १२२८) के फाल्गुन मास में सेठ हेमचन्द्र ने 'ओघनिर्युक्ति' की नक़ल करवाई उस समय आघाटदुर्ग (आहाड़, मेवाड़ की पुरानी राजधानी) में जैत्रसिंह का राज्य था। इस तरह कई प्राचीन ग्रन्थों में ऐसी अनेक बातों का उल्लेख मिलता है।

ऐतिहासिक काव्यों के अतिरिक्त वंशावलियों की कई पुस्तकें मिलती हैं, जैसे कि क्षेमेंद्र रचित 'नृपावली' (राजावली) आदि। ई० स० की १४ वीं शताब्दी की नैपाल के राजाओं की हस्तलिखित तीन वंशावलियां तथा जैनों की कई एक पट्टावलियां आदि मिली हैं। ये भी इतिहास के साधन हैं।

इस प्रकार इन ग्रन्थों से अनेक ऐतिहासिक घटनाओं तथा ऐतिहासिक पुरुषों का पता चल सकता है और उनके वृत्तान्त भी जाने जा सकते हैं।

(२) जिन विदेशियों ने अपनी भारतयात्राओं या इस देश की बातों का वर्णन लिखा है, उनमें सबसे प्राचीन यूनान निवासी हैं। उनमें से निम्नलिखित लेखकों के वर्णन या तो स्वतन्त्र पुस्तकों में या उनके अवतरण दूसरे ग्रन्थों में मिलते हैं—हिरॉडोटस, केसियस, मैगास्थनीज़, ऐरियन, कर्टियस रूफ़स, प्लूटार्क, डायाडोरस, पैरिप्लस, टॉलमी आदि।

यूनानियों के पीछे चीनवालों का नम्बर आता है। उस देश के कई यात्री भारतवर्ष में आये और उन्होंने अपने अपने यात्रा-वर्णनों में इस देश का बहुत कुछ विवरण लिखा है, जो धर्म और इतिहास के अतिरिक्त यहां के प्राचीन भूगोल के लिए भी बड़े महत्त्व का है। उनमें से सबसे पुराना यात्री फ़ाहियान है, जो वि० सं० ४५६ (ई० स० ३९९) में चीन से स्थल-मार्ग से चला और वि० सं० ४७१ (ई० स० ४१४) में जल मार्ग से अपने देश को लौटा। उसके पीछे वि० सं० ५७५ (ई० स० ५१८) में सुंग-युन् यहां आया। फिर वि० सं० ६८६ (ई० स० ६२९) में हुएन्त्संग का आगमन हुआ। उसकी यात्रा के सम्बन्ध में दो ग्रन्थ मिलते हैं—एक में तो उसकी यात्रा का विस्तृत वर्णन है और दूसरे में उसका जीवनचरित्र है। अन्त में वि० सं० ७२८ (ई० स० ६७१) में इत्सिंग यहां आया। उनके

यात्रा-विवरणों के अतिरिक्त अनेक संस्कृत ग्रन्थों के चीनी भाषा में अनुवाद हुए जिनसे हमको कई मूल ग्रन्थों का पता लगता है, जो भारतवर्ष में लुप्त हो चुके हैं।

तिब्बतवालों का भारतवर्ष से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा और उन्होंने अपनी भाषा में अनेक संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद किया। तिब्बती साहित्य का अब तक विशेष अनुसंधान नहीं हुआ तो भी यह निस्संदेह है कि उसके होने पर भारत के सम्बन्ध में अनेक नई बातों का पता लगेगा। लंकावासियों का भी भारतवर्ष से घनिष्ठ संबंध रहा है और उनके दीपवंश, महावंश और मलिंदपन्हो आदि ग्रन्थों में भी हमारे यहां की अनेक ऐतिहासिक बातें मिलती हैं।

मुसलमानों की लिखी हुई अरबी और फारसी पुस्तकों से भारतवर्ष में मुसलमानों का राज्य स्थापित होने से पहले के हमारे इतिहास में विशेष सहायता नहीं मिलती तो भी कुछ-कुछ बातें उनमें मिल जाती हैं। ऐसी पुस्तकों में सिल्सिलातुत्तवारीख़ (सुलेमान सौदागर का यात्रा-विवरण), मुरूजुलज़हब, चचनामा, तहक़ीके हिन्द, तारीख़ यमीनी और तारीख़स्सुबुक्तगीन आदि हैं। उनमें भी अल्बेरूनी की 'तहक़ीके हिन्द' विशेष उपयोगी है।

(३) भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के लिए सबसे अधिक सहायक और सच्चा इतिहास बतलानेवाले, शिलालेख और दानपत्र हैं। शिलालेख बहुधा चट्टानों, गुफाओं, स्तूपों और स्तंभों पर एवं मन्दिरों, मठों, तालाबों, बावलियों आदि में लगी हुई अथवा गांवों या खेतों के बीच गड़ी हुई शिलाओं; मूर्तियों के आसनों या पृष्ठ भागों तथा स्तूपों के भीतर रक्खे पाषाण के पात्रों पर खुदे हुए मिलते हैं। वे संस्कृत, प्राकृत, कनड़ी, तेलुगु, तामिल आदि भाषाओं में गद्य और पद्य दोनों में मिलते हैं, जिनमें राजाओं आदि का प्रशंसायुक्त विस्तृत वर्णन होता है। उनको प्रशस्ति भी कहते हैं। शिलालेख पेशावर से कन्याकुमारी तक और द्वारिका से आसाम तक सर्वत्र पाये जाते हैं, पर कहीं कम और कहीं अधिक। नर्मदा से उत्तर के प्रदेश

को अपेक्षा दक्षिण में ये बहुत अधिक मिलते हैं, जिसका कारण यह है कि मुसलमानों के अत्याचार उत्तर की अपेक्षा उधर कम हुए हैं। अब तक कई हज़ार शिलालेख ई० स० पूर्व की पांचवीं शताब्दी से लगाकर ई० स० की १६ वीं शताब्दी तक के मिल चुके हैं। शिलालेखों में से अधिकतर मन्दिर, मठ, स्तूप, गुफा, तालाब, बावली आदि धर्मस्थानों के बनवाने या उनके जीर्णोद्धार कराने, मूर्तियों के स्थापित करने आदि के सूचक होते हैं। उनमें से कई एक में उन कार्यों से सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषों या उनके वंशों के अतिरिक्त उस समय के राजा या राजवंश का भी वर्णन मिलता है। राजाओं, सामंतों, राणियों, मंत्रियों आदि के बनवाये हुए मंदिरादि के लेखों में से कई एक में, जो अधिक विस्तीर्ण हैं, राजवंश का वर्णन विस्तार से लिखा मिलता है। ऐसे लेख एक प्रकार के छोटे छोटे काव्य ही हैं और उनसे ऐतिहासिक ज्ञान के अतिरिक्त कभी कभी अज्ञात—किन्तु प्रतिभाशाली—कवियों की मनोहर कविता का आनन्द भी प्राप्त होता है। दूसरे प्रकार के शिलालेखों में, जिनका धर्मस्थानों से संबंध नहीं होता, राजाज्ञा, विजय, यज्ञ, किसी वीर पुरुष का युद्ध में या गायों को चोरों से छुड़ाते हुए मारा जाना, स्त्रियों का अपने पति के साथ सती होना, सिंह आदि हिंसक पशुओं के द्वारा किसी की मृत्यु होना, पञ्चायत से फ़ैसला होना, धर्मविरुद्ध कोई कार्य न करने की प्रतिज्ञा करना, अपनी इच्छा से चिता पर बैठकर शरीरान्त करना तथा भिन्न-भिन्न धर्मावलंबियों के बीच के झगड़ों का समाधान आदि घटनाओं के उल्लेख मिलते हैं। पाषाण पर लेखों को खुदवाने का अभिप्राय यही है कि उक्त धर्मस्थान या घटना एवं उससे सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्ति की स्मृति चिरस्थायी होजाय। इसी अभिप्राय से कई एक विद्वान् राजाओं या धनाढ्यों ने कितनी ही पुस्तकों को भी शिलाओं पर खुदवाया था। परमार राजा भोज-रचित—'कूर्मशतक' नाम के दो प्राकृत काव्य और परमार राजा अर्जुनवर्मा के राजकवि मदन-कृत 'पारिजातमंजरी' (विजयश्री) नाटिका—ये तीनों ग्रन्थ राजा भोज की बनवाई हुई धारा नगरी की 'सरस्वतीकंठाभरण' नाम की पाठशाला

से, जिसे अब 'कमालमौला' कहते हैं, मिले हैं। अजमेर के चौहान राजा विग्रहराज (वीसलदेव चौथा) का रचा हुआ—'हरकेलि नाटक', उक्त राजा के राजकवि सोमेश्वररचित 'ललितविग्रहराज' नाटक और विग्रहराज या किसी दूसरे राजा के समय के बने हुए चौहानों के ऐतिहासिक काव्य की शिलाओं में से पहली शिला—ये सब अजमेर (ढाई दिन का झोपड़ा) से प्राप्त हुए हैं। सेठ लोलाक ने 'उत्तमशिखरपुराण' नामक जैन (दिगम्बर) पुस्तक बीजोल्यां (मेवाड़) के पास एक चट्टान पर वि० सं० १२२६ (ई० स० ११७०) में खुदवाई थी, जो अब तक सुरक्षित है। चित्तोड़ (मेवाड़) के महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) ने कीर्तिस्तंभों के विषय की एक पुस्तक शिलाओं पर खुदवाई थी, जिसकी पहली शिला के प्रारम्भ का अंश चित्तोड़ में मिला है। मेवाड़ के महाराणा राजसिंह ने तैलंग भट्ट मधुसूदन के पुत्र रणछोड़ से 'राजप्रशस्ति' नामक २४ सर्ग का महाकाव्य, जिसमें महाराणा राजसिंह तक का मेवाड़ का इतिहास है, तैयार करवाकर अपने बनवाये हुए राजसमुद्र नामक तालाब की पाल पर २५ बड़ी बड़ी शिलाओं पर खुदवाकर लगवाया था, जो अब तक वहां विद्यमान है।

राजाओं तथा सामंतों की तरफ़ से ब्राह्मणों, साधुओं, चारणों, भाटों, धर्माचार्यों, मन्दिरों, मठों आदि को धर्मार्थ दिये हुए गांव, कुँए, खेत आदि की सनदें, चिरस्थायी रखने के विचार से बहुधा तांबे के पत्रों पर खुदवाकर, दी जाती हैं, जिनको ताम्रपत्र या दानपत्र कहते हैं। ये कभी गद्य में और कभी गद्य-पद्य दोनों में लिखे मिलते हैं। बहुधा दानपत्र एक ही छोटे या बड़े पत्र पर खुदे मिलते हैं, परन्तु कितने ही दो या अधिक पत्रों पर खुदे रहते हैं, जिनमें से पहला तथा अन्तिम पत्र भीतर की ओर ही खुदा रहता है और बीचवाले दोनों तरफ़। ऐसे सब पत्रे छोटे हों तो एक और बड़े हों तो दो कड़ियों से जुड़े रहते हैं। इनमें बहुधा दान दिये जाने का संवत्, मास, पक्ष और तिथि तथा दान देनेवाले और लेनेवाले के नामों के अतिरिक्त किसी किसी में दान देनेवाले राजा के वंश का विस्तृत वर्णन तक पाया जाता है। पूर्वी चालुक्यों के कई दानपत्रों में राजवंश की नामावली

के अतिरिक्त प्रत्येक राजा का राजत्वकाल भी दिया हुआ मिलता है, ऐसे अब तक सैकड़ों दानपत्र मिल चुके हैं।

प्राचीन शिलालेख और दानपत्र हमारे प्राचीन इतिहास के लिए बड़े उपयोगी हैं, क्योंकि उनसे मौर्य, ग्रीक, शातकर्णी (आंध्र), शक, क्षत्रप, कुशन, आभीर, गुप्त, हूण, वाकाटक, यौधेय, बैस, लिच्छवी, मोखरी, परिव्राजक, राजर्षितुल्य, मैत्रक, गुहिल(सीसोदिया), चापोत्कट (चावड़ा), सोलंकी, प्रतिहार, परमार, चौहान, राठोड़, कछवाहा, तँवर, कलचुरि (हैहय), त्रैकूटक, चन्द्रात्रेय (चन्देल), यादव, गुर्जर, मिहिर, पाल, सेन, पल्लव, चोल, कदंब, शिलार, सेंद्रक, काकतीय, नाग, निकुंभ, बाण, गङ्ग, मत्स्य, शालंकायन, शैल, चतुर्थवर्ण (रेड्डि) आदि अनेक राजवंशों का बहुत कुछ वृत्तांत, उनकी वंशावलियां और कई राजाओं तथा सामंतों के राज्याभिषेक एवं देहांत आदि के निश्चित संवत् मिल जाते हैं। ऐसे ही अनेक विद्वानों, धर्माचार्यों, मंत्रियों, दानवीरों, योद्धाओं आदि प्रसिद्ध पुरुषों तथा अनेक राणियों, प्रसिद्ध स्त्रियों आदि के नाम तथा उनके समय का पता चलता है और हमारे यहां के पहले के अनेक संवतों के प्रारंभ का भी निश्चय होता है।

(४) एशिया और यूरोप के प्राचीन सिक्कों को देखने से पाया जाता है कि सोने के सिक्के चांदी के सिक्कों से पीछे बनने लगे थे। ईस्वी सन् से पूर्व की पांचवीं और चौथी शताब्दी में ईरान के चांदी के सिक्के गोली की आकृति के होते थे, जिनपर ठप्पा लगाने से वे कुछ चपटे पड़ जाते थे, परन्तु बहुत मोटे और भद्दे रहते थे। उनपर कोई लेख नहीं होता था, परन्तु मनुष्य आदि की भद्दी शकलों के ठप्पे लगते थे। ईरान के ही नहीं, किन्तु लीडिया, यूनान आदि देशों के पुराने सिक्के भी ईरानियों के सिक्कों की तरह गोल, भद्दे और गोली की शकल के चांदी के टुकड़े ही होते थे। हिन्दुस्तान में ही प्राचीन काल में चांदी के चौकोर, गोल या चपटे सुन्दर सिक्के बनते थे, जो कार्षापण कहलाते थे। उनपर भी लेख नहीं होते थे; केवल सूर्य, चन्द्र, मनुष्य, पशु, पक्षी, धनुष, बाण, वृक्ष आदि के

ही ठप्पे लगते थे। ईस्वी सन् पूर्व की चौथी शताब्दी के आसपास से लेख-वाले सिक्के मिलते हैं।

अब तक सोना, चांदी, तांबा और सीसा के लेखवाले हज़ारों सिक्के मिल चुके हैं और मिलते जाते हैं। उनपर के छोटे छोटे लेख भी प्राचीन इतिहास के लिए बहुत उपयोगी हैं। जिन वंशों के राजाओं के शिलालेखादि अधिक नहीं मिलते, उनकी नामावली का पता कभी कभी सिक्कों से लग जाता है; जैसे कि पंजाब के ग्रीक राजाओं का अब तक केवल एक शिलालेख बेसनगर (विदिशा) से मिला है, परन्तु सिक्के २७ राजाओं के मिल चुके हैं, जिनसे उनके नाममात्र मालूम होते हैं। उनमें त्रुटि यही है कि उनपर राजा के पिता का नाम तथा संवत् नहीं है, जिससे उनका वंशक्रम स्थिर नहीं हो सकता। पश्चिमी क्षत्रपों के भी शिलालेख थोड़े ही मिलते हैं, परन्तु उनके हज़ारों सिक्कों पर राजा या शासक और उसके पिता का नाम, खिताब तथा संवत् होने से उनकी वंशावली सिक्कों से ही बन जाती है। गुप्तवंशी राजाओं के ईस्वी सन् की चौथी और पांचवीं शताब्दी के सिक्कों पर गद्य एवं भिन्न-भिन्न छन्दों में भी लेख मिलते हैं, जिनसे पाया जाता है कि सबसे पहले हिंदुओं ने ही अपने सिक्के कविताबद्ध लेखों से अङ्कित किये थे। ग्रीक, शक और पार्थियन राजाओं के तथा कई एक कुशनवंशी और क्षत्रप आदि विदेशी राजाओं के सिक्कों पर एक तरफ़ प्राचीन ग्रीक भाषा का लेख और दूसरी ओर बहुधा उसी आशय का प्राकृत भाषा का लेख खरोष्ठी लिपि में होता था, परन्तु प्राचीन शुद्ध भारतीय सिक्कों पर ब्राह्मी लिपि के ही लेख होते थे। ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी के आसपास सिक्कों एवं शिलालेखों से खरोष्ठी लिपि, जो ईरानियों ने पंजाब में प्रचलित की थी, इस देश से उठ गई।

अब तक ग्रीक (यूनानी), शक, पार्थियन, कुशन (तुर्क), सातवाहन (आंध्र), क्षत्रप, औदुंबर, कुनिंद, गुप्त, त्रैकूटक, बोधि, मैत्रक, हूण, परिव्राजक, चौहान, प्रतिहार, यौधेय, सोलंकी, तँवर, गाहड़वाल, पाल, कलचुरि, चन्देल, गुहिल, नाग, यादव, राठोड़ आदि कितने ही राजवंशों के

तथा कश्मीर, नेपाल, अफ़गानिस्तान आदि पर राज्य करनेवाले हिन्दू राजाओं के सिक्के मिल चुके हैं। कई प्राचीन सिक्के ऐसे भी मिले हैं, जिन-पर राजा का तो नामोल्लेख नहीं, किन्तु देश, नगर या जाति का नाम है। अब तक इतने अधिक और भिन्न-भिन्न प्रकार के सिक्के मिले हैं जिनके संबंध के अनेक ग्रंथ छप चुके हैं।

भारतवर्ष में मुद्रा अर्थात् मुहर लगाने की प्रथा प्राचीन काल से ही चली आती है। कई एक ताम्रपत्रों पर तथा उनकी कड़ियों की संधियों पर राजमुद्राएं लगी मिलती हैं। कितने ही मिट्टी के पकाये हुए ऐसे गोले मिले हैं, जिनपर भिन्न-भिन्न पुरुषों की मुद्राएं लगी हुई हैं। अंगूठियों तथा अक़ीक आदि क़ीमती पत्थरों पर खुदी हुई कई मुद्राएं मिली हैं। वे भी हमारे यहां के प्राचीन इतिहास में कुछ-कुछ सहायता देती हैं। कन्नौज के प्रतिहार राजा भोजदेव (प्रथम) के वि० सं० ९०० के दानपत्र के साथ जुड़ी हुई मुद्रा में देवशक्ति से भोजदेव तक की पूरी वंशावली तथा चार राणियों के नाम हैं। उसी वंश के राजा विनायकपाल के ताम्रपत्र की मुद्रा में देवशक्ति से विनायकपाल तक की वंशावली एवं छः राणियों के नाम मिलते हैं। गुप्तवंशी राजा कुमारगुप्त (दूसरा) की मुद्रा में महाराज गुप्त से लगाकर कुमारगुप्त (दूसरा) तक की वंशावली और छः राजमाताओं के नाम अंकित हैं। मोखरी शर्ववर्मा की राजमुद्रा में हरिवर्मा से आरम्भ कर शर्ववर्मा तक की वंशावली और चार राणियों के नाम दिये हैं। गुप्तवंशी राजा चंद्रगुप्त (दूसरा) के पुत्र गोविन्दगुप्त के नाम का पता मिट्टी के एक गोले पर लगी हुई उस (गोविन्दगुप्त) की माता ध्रुवस्वामिनी की मुद्रा से ही लगता है। ऐसे ही कई राजाओं, धर्माचार्यों, धनाढ्यों आदि के नाम उनकी मुद्राओं में मिलते हैं। अब तक ऐसी सैकड़ों मुद्राएं मिल चुकी हैं।

प्राचीन चित्रों और मूर्तियों से भी इतिहास में कुछ-कुछ सहायता मिल जाती है, क्योंकि उनसे पोशाक, आभूषण आदि का हाल तथा उस समय की चित्र एवं तक्षणकला की दशा का ज्ञान होता है। अजंटा की सुप्रसिद्ध गुफाओं में १३०० वर्ष से भी अधिक पूर्व के बहुत-से रंगीन

चित्र विद्यमान हैं, जो इतने दीर्घ काल तक खुले रहने पर भी अब तक अच्छी दशा में हैं और चित्र-कला-मर्मज्ञों को मुग्ध कर देते हैं। दक्षिण आदि की अनेक भव्य गुफाएं, देलवाड़ा (आबू पर), बाड़ोली (मेवाड़) आदि अनेक स्थानों के विशाल मन्दिर, अनेक प्राचीन स्तंभ, स्तूप, मूर्तियां आदि सब उस समय के शिल्पविद्या की उत्तमता का परिचय देते हैं। प्राचीन चित्र, गुफा, मन्दिर, स्तंभ, मूर्तियों आदि के सचित्र विवरण कई पुस्तकों में छप चुके हैं।

चार प्रकार की जिस सामग्री[1] का ऊपर संक्षेप में उल्लेख किया गया है, उससे भारतवर्ष के इतिहास से संबंध रखनेवाली कई प्राचीन बातों का पता लगा है और उसके आधार पर अनेक नवीन ग्रन्थ लिखे गये हैं। साथ ही इस सामग्री की खोज समाप्त नहीं हो गई है। खोज निरन्तर हो रही है, जिससे प्रतिवर्ष नई नई बातों का पता लग रहा है।

राजपूताना प्राचीन काल से ही वीर पुरुषों का लीलाक्षेत्र एवं भारत के इतिहास का केन्द्र रहा है। राजपूताने का प्राचीन इतिहास केवल वर्त्तमान राजपूताने की सीमा से ही नहीं, किन्तु भारतवर्ष के अधिकांश से संबंध रखता है। ऊपर लिखे हुए राजवंशों में से मौर्य, मालव, यूनानी (ग्रीक), अर्जुनायन, क्षत्रप, कुशन, गुप्त, वरीक, वर्मान्तनामवाले राजा, यशोधर्मन, हूण, गुर्जर (बड़गूजर), बैस, चावड़ा, प्रतिहार, परमार, सोलंकी, यौधेय, तंवर, दहिया, निकुंप, गौड़ आदि वंशों ने, जिनका संक्षिप्त परिचय इस इतिहास के प्रारंभ के तीसरे अध्याय में दिया गया है, किसी काल में इस देश के किसी-न-किसी विभाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। परमार, रघुवंशी प्रतिहार आदि ने तो राजपूताने के बाहर जाकर सुदूर प्रदेशों पर अपना आधिपत्य जमाया था। मुग़लों के समय में भी राजपूताने के राजाओं आदि ने मुसलमान सैन्य के मुखिया बनकर हिन्दुस्तान के बाहर उत्तर में काबुल, कंधार और बलख़ तक विजय के डंके बजाये

---

(१) भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री के संबंध में जो अधिक जानना चाहें वे मेरी लिखी हुई 'भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री' नामक पुस्तक देखें।

थे। इसी प्रकार उन्होंने पूर्व में बिहार, बंगाल और उड़ीसा तक तथा मालवा, गुजरात, काठियावाड़ एवं दूरस्थ दक्षिण तक अनेक युद्ध किये और वे भारत के भिन्न भिन्न विभागों के शासक भी रहे। इस समय भी राजपूताने के बाहर यहां के वर्तमान राजवंशों के कई राज्य विद्यमान हैं—जैसे गुहिलवंशियों (सीसोदिया) के नेपाल (स्वतन्त्र राज्य), धरमपुर (सूरत ज़िला); भावनगर, पालीताणा, वळा, लाठी आदि (काठियावाड़) तथा राजपीपला (गुजरात के रेवाकांठे में) और बड़वानी (मालवा), मराठा-राज्य का संस्थापक सुप्रसिद्ध शिवाजी भी मेवाड़ के गुहिलवंशियों का वंशधर था; उसी वंश में इस समय कोल्हापुर, मुधोल और सावंतवाड़ी के राज्य (दक्षिण) हैं। राठोड़वंशियों के राज्य ईडर (गुजरात), रतलाम, सीतामऊ, सैलाना और झाबुआ (मालवा); चौहानों के छोटा उदयपुर तथा देवगढ़ (बारिया, गुजरात) और परमारों के दाँता (गुजरात), राजगढ़, नरसिंहगढ़, धार तथा देवास (मालवा) हैं।

सात हिन्दू और एक मुसलमान राजवंश इस समय राजपूताने में राज्य कर रहे हैं। हिन्दुओं में गुहिल (सीसोदिया), चौहान, यादव (भाटी), राठोड़, कछवाहा, जाट और झाला हैं। इनमें सबसे प्राचीन मेवाड़ का गुहिल वंश है, जिसके राज्य का प्रारंभ वि० सं० ६२५ (ई० स० ५६८) के आसपास हुआ। एक ही भूमि पर १३५० से अधिक वर्षों तक अविच्छिन्न रूप से राज्य करनेवाला दूसरा राजवंश भारत में तो क्या, संसार में भी शायद ही कोई मिले। गुहिल वंश के बाद चौहानों का उद्गम हुआ और उनके पीछे यादवों के प्राचीन राजवंश का पता लगता है। फिर राठोड़ों के गुजरात की तरफ़ से यहां आकर दो अलग अलग राज्य स्थापित करने के प्रमाण मिलते हैं। उन राठोड़ों का राज्य तो अब नहीं रहा, परन्तु वर्तमान राठोड़वंशी विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में कन्नौज की तरफ़ से यहां आये। कछवाहों का राज्य पहिले ग्वालियर पर था, जहां की एक छोटी शाखा वि० सं० की बारहवीं शताब्दी में राजपूताने में आई। विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में भरतपुर के जाटों और उन्नीसवीं में

धौलपुर के जाटों, टोंक के मुसलमानों तथा झालावाड़ के झालों के राज्य स्थापित हुए।

कालक्रम के अनुसार इन राजवंशों के इतिहास की सामग्री के तीन विभाग किये जा सकते हैं—

(१) प्राचीन काल से लगाकर अजमेर में मुसलमानों का राज्य स्थापित होने (अर्थात् वि० सं० १२४६=ई० स० ११६२) तक।

(२) वि० सं० १२४६ से अकबर के राज्य के प्रारंभ तक।

(३) अकबर के राजत्वकाल से वर्तमान समय तक।

(१) प्राचीन काल से लगाकर वि० सं० १२४६ तक मेवाड़ और डूंगरपुर के गुहिलवंशियों के इतिहास के साधन उनके शिलालेख, ताम्रपत्र और सिक्के ही हैं। उनका सबसे प्राचीन शिलालेख वि० सं० ७०३ (ई० स० ६४६) का मिला है और उसके पीछे के तो अब तक बहुत से प्राप्त हुए हैं। अजमेर और सांभर के चौहानों के थोड़े-से सिक्कों के अतिरिक्त वि० सं० १०३० (ई० स० ९७३) से लेकर वि० सं० १२४५ (ई० स० ११८८) तक के कई एक शिलालेख मिल चुके हैं। इनके सिवा वीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) का बनाया हुआ 'हरकेलि' नाटक तथा उसी के राजकवि सोमेश्वर-रचित 'ललितविग्रहराज' नाटक (दोनों शिलाओं पर खुदे हुए); चौहानों के इतिहास का एक महाकाव्य, जो शिलाओं पर खुदवाया गया था और जिसकी पहली शिला ही प्राप्त हुई है, कश्मीरीपंडित जयानक-प्रणीत 'पृथ्वीराजविजय' महाकाव्य तथा नयचन्द्रसूरि-कृत 'हम्मीर-महाकाव्य' चौहानों के इतिहास के मुख्य साधन हैं। सांभर के चौहानों की एक छोटी शाखा ने नाडौल (जोधपुर राज्य) में अपना राज्य स्थापित किया, जिसके उस समय के कई शिलालेख और ताम्रपत्र मिलते हैं। नाडौल की इस शाखा से हाड़ों (बूंदीवालों) और सोनगरों (जालोरवालों) की उपशाखाएं निकलीं, जिनमें से सोनगरों के कुछ शिलालेख और ताम्रपत्र मिले हैं। राजपूताने में पहले आनेवाले राठोड़ों के दो शिलालेख पाये गये हैं; इनमें से हस्तिकुंडी (हथुंडी, जोधपुर राज्य) के राठोड़ों का

वि० सं० १०५३ का और धनोप के राठोड़ों का वि० सं० १०६३ का है। करौली के यादवों के समय के वि० सं० की आठवीं से तेरहवीं शताब्दी के मध्य तक के पांच शिलालेख अब तक प्राप्त हुए हैं।

(२) वि० सं० १२४६ से लगाकर अकबर के राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होने तक गुहिलवंशियों के कुछ सिक्के तथा अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए हैं, जिनमें ऐतिहासिक उपयोगिता के विचार से निम्नलिखित लेख उल्लेखनीय हैं—रावल तेजसिंह के समय का वि० सं० १३२२ का घाघसा गांव का; रावल समरसिंह के समय का वि० सं० १३३० (ई० स० १२७३) का चीरवा गांव से मिला हुआ; वि० सं० १३३१ (ई० स० १२७४) का चित्तोड़ का (पहली शिला-मात्र) और १३४२ का आबू का; महाराणा मोकल के समय का वि० सं० १४८५ (ई० स० १४२८) का शृंगीऋषि से प्राप्त तथा उसी संवत् का चित्तोड़ के मोकलजी के मंदिर का; महाराणा कुंभकर्ण के समय का वि० सं० १४६१ (ई० स० १४३४) का देलवाड़ा गांव का; वि० सं० १४६६ (ई० स० १४३६) का राणपुर के जैन मंदिरवाला; वि० सं० १५१७ (ई० स० १४६०) का चित्तोड़ के कीर्तिस्तंभ का तथा उसी संवत् का कुंभलगढ़ का और महाराणा रायमल के समय की वि० सं० १५४५ की एकलिंगजी के दक्षिण द्वार की प्रशस्ति; जावर के रामस्वामी के मंदिर में लगा हुआ वि० सं० १५५४ (ई० स० १४६७) का लेख; और वि० सं० १५६१ (ई० स० १५०४) का घोसुंडी की बावली का शिलालेख। इन लेखों के अतिरिक्त जयसिंह सूरिकृत 'हम्मीरमदमर्दन,' जिनप्रभसूरि-विरचित 'तीर्थकल्प', महाराणा कुंभा के समय का बना हुआ 'एकलिंगमाहात्म्य' और ओघनिर्युक्ति, पाक्षिकसूत्रवृत्ति, श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रचूर्णि नामक हस्तलिखित पुस्तकों से भी इतिहास में थोड़ी बहुत सहायता मिलती है। इसी प्रकार रायमल रासा तथा पद्मावत की कथा भी कुछ सहायक हैं।

इस समय के अजमेर के चौहानों का वि० सं० १२५१ (ई० स० ११६४) का केवल एक ही शिलालेख—हरिराज का—मिला है। उसी

समय से अजमेर के चौहान-राज्य पर मुसलमानों का अधिकार हो गया और पृथ्वीराज का पुत्र गोविंदराज रणथंभोर चला गया। रणथंभोर के चौहानों के भी कुछ शिलालेख मिले हैं। उनका इतिहास हंमीरमहाकाव्य (संस्कृत) में मिलता है और उसी काल में नरपति नाल्ह ने वीसलदेव रासा नाम की हिन्दी पुस्तक लिखी, जिसका संबंध सांभर के वीसलदेव तीसरे से है। नाडौल और जालोर के राज्य मुसलमानों के अधीन होने पर सिरोही का राज्य स्थापित हुआ। इन तीनों राज्यों के कई शिलालेखों के अतिरिक्त 'कान्हड़देप्रबन्ध' (पुरानी गुजराती भाषा का) भी मिलता है। हाड़ों के इस समय के केवल दो ही शिलालेख मिले हैं, जिनमें से पहला वि० सं० १४४६ (ई० स० १३८९) का बंबावदे के हाड़ा महादेव का मैनाल (उदयपुर राज्य) से और दूसरा बूंदी के इतिहास से संबंध रखनेवाला वि० सं० १५६३ (ई० स० १५०६) का खजूरी गांव (बूंदी राज्य) से प्राप्त हुए हैं।

राठोड़ों के समय के दो छोटे-छोटे शिलालेख—इनमें से एक वि० सं० १३३० का और दूसरा १३६६ का—मिले हैं, जो क्रमशः जोधपुर के राठोड़ों के पूर्वज सीहा और धूहड़ की मृत्यु के निश्चित संवत् प्रकट करते हैं। जैसलमेर के यादवों (भाटियों) के इतिहासोपयोगी चार शिलालेख प्रसिद्धि में आये हैं, जो वि० सं० १४७३ से वि० सं० १४९४ (ई० स० १४१६ से ई० स० १४३७) तक के हैं। इस काल से संबंध रखनेवाला कछवाहों का कोई शिलालेख या उस समय का बना हुआ कोई ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं मिला।

इन शिलालेखादि के अतिरिक्त मुसलमान ऐतिहासिकों की लिखी हुई ताजुल्मआसिर, तबकातेनासिरी, तारीख़ अलाई, तारीख़ अल्फ़ी, तारीख़ फ़ीरोज़शाही, फ़तूहाते फ़ीरोज़शाही, तुज़ुके बाबरी, हुमायूंनामा, तारीख़ शेरशाही, तारीख़ फ़िरिश्ता, मिराते अहमदी और मिराते-सिकन्दरी आदि फ़ारसी तवारीख़ों से भी उस काल के राजपूताने के इतिहास में कुछ-कुछ सहायता मिलती है, क्योंकि उन्हीं से अजमेर के चौहान-राज्य के अस्त

होने; रणथंभोर, मंडोर, सवालक, जालोर, लावा, सांभर और चित्तोड़ आदि पर होनेवाली मुसलमानों की चढ़ाइयों तथा मेवाड़ के राजाओं की दिल्ली, मालवा और गुजरात के सुलतानों के साथ की लड़ाइयों आदि का एवं राव मालदेव पर की शेरशाह सूर की चढ़ाई का वृत्तान्त मिलता है।

इस समय के इतिहास पर मेवाड़ आदि के शिलालेख और फ़ारसी तवारीख़ें ही कुछ प्रकाश डालती हैं, परन्तु इस काल का अधिकांश इतिहास अंधकार में ही है, क्योंकि इस समय बार बार होनेवाले मुसलमानों के आक्रमणों के कारण युद्धों में लगे रहने से शिलालेखादि खुदवाने या ऐतिहासिक ग्रंथ लिखवाने की तरफ़ राजपूत राजाओं का विशेष ध्यान नहीं रहा और मुसलमान ऐतिहासिकों ने भी जो कुछ लिखा है वह अपनी जाति की प्रशंसा एवं पक्षपात से खाली नहीं है। इसपर भी उनके लिखे हुए ग्रंथों से उस समय का इतिहास संग्रह करने में कुछ सहायता मिल सकती है।

(३) अकबर के समय से लेकर अब तक के इतिहास की सामग्री विशेष रूप से मिलती है। इस समय के शिलालेख (कुछ संस्कृत में और कुछ हिन्दी में) बहुत मिलते हैं, परन्तु पुराने शिलालेखों की तरह विस्तृत न होने से वे विशेष उपयोगी नहीं हैं। बड़े लेखों में उदयपुर के जगदीश के मन्दिर की प्रशस्ति, सीसारमां गांव (उदयपुर राज्य) के वैद्यनाथ के मन्दिर का शिलालेख और बीकानेर के राजमहलों के द्वार के पार्श्व पर खुदी हुई बड़ी प्रशस्ति उल्लेखनीय हैं। इस समय के ताम्रपत्र भाषा में लिखे जाते थे और उनमें दान देनेवाले तथा लेनेवाले के नामों और संवत् के सिवा प्राचीन ताम्रपत्रों के समान विस्तृत वृत्तांत नहीं है। अलवर राज्य में दौरा करते समय मैंने जयपुर (आंबेर) के राजाओं के कुछ ऐसे शिलालेख और पट्टे देखे, जो फ़ारसी और हिन्दी दोनों में खुदे तथा लिखे हुए हैं। मुसलमान बादशाहों के बहुधा सब लेख फ़ारसी भाषा में मिलते हैं।

संस्कृत पुस्तकों में उदयपुर राज्य के सम्बन्ध के जगत्प्रकाश महाकाव्य, राजप्रशस्ति महाकाव्य और महाराणा अमरसिंह (द्वितीय) के राज्याभिषेक-सम्बन्धी एक काव्य तथा अमरकाव्य; जोधपुर राज्य के

सम्बन्ध का अजितोदय काव्य; जयपुर राज्य के विषय के जयवंशकाव्य और कच्छवंश-महाकाव्य तथा बूंदी राज्य से सम्बन्ध रखनेवाले सुर्जन-चरित और शत्रुशल्य काव्य उपलब्ध हुए हैं।

भाषा की पुस्तकों में बड़वों और राणीमंगों की ख्यातें मुख्य हैं। प्रत्येक राज्य की, सरदारों के ठिकानों की तथा भिन्न भिन्न जातियों की अनेक ख्यातें मिलती हैं। उनमें विशेषकर राजाओं, सरदारों तथा अनेक जातियों के कुलों की वंशावलियां, संवत् तथा उनको दी हुई भेटों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन मिलता है। लगभग सौ वर्ष पूर्व ये ही ख्यातें राजपूताने के इतिहास के मुख्य साधन मानी जाती थीं, परन्तु ज्यों-ज्यों प्राचीन शोध का काम आगे बढ़ता गया और अनेक राजवंशों की वंशावलियां तथा कई राजाओं के निश्चित संवत् शिलालेखादि से ज्ञात होते गये, त्यों-त्यों इनपर से विद्वानों का विश्वास उठता गया और इनमें दिये हुए सैकड़ों नामों में से पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्व के अधिकांश नाम और संवत् प्रायः कल्पित सिद्ध हुए। हमने चौहानों की बूंदी, सिरोही और नीमराणे के बड़वों की ख्यातों का मिलान किया तो बूंदी की ख्यात में चाहमान से लगाकर प्रसिद्ध पृथ्वीराज तक १७७, सिरोही की ख्यात में २२७ और नीमराणे की ख्यात में चारसौ से अधिक नाम मिले। पृथ्वीराज रासे से जो थोड़े-से नाम उनमें उद्धृत किये हैं, वे ही विना किसी क्रम के परस्पर मिले और शेष नाम बहुधा एक दूसरे से भिन्न पाये गये। बड़वों की सौ से अधिक ख्यातों की हमने प्राचीन शोध की कसौटी पर जांच की तो पन्द्रहवीं शताब्दी तक के नाम, संवत् आदि अधिकतर कृत्रिम ही पाये। उनकी अप्रामाणिकता का विवेचन इस इतिहास में स्थल-स्थल पर किया गया है। अनुमान होता है कि या तो बड़वों की पुरानी ख्यातें नष्ट हो गईं, जिससे उन्होंने नई बनाने का यत्न किया हो अथवा वे विक्रम संवत् की सोलहवीं शताब्दी के आसपास से लिखने लगे हों।

राणीमंगों की ख्यातों में बहुधा राणियों के ही नाम दर्ज किये जाते हैं और वे भी बड़वों की ख्यातों के समान अप्रामाणिक हैं।

राजपूताने में भिन्न-भिन्न राज्याधिकारी अपने-अपने राज्यों की ख्यातें लिखते रहते थे। छोटी-बड़ी ऐसी कई ख्यातें उपलब्ध हुई हैं, जिनमें विक्रम संवत् की पन्द्रहवीं शताब्दी से पूर्व के अधिकांश नाम और संवत् तो भाटों से ही लिये गये हैं, परन्तु उक्त समय के पिछले राजाओं का वृत्तान्त उनमें विस्तार के साथ मिलता है, जो अतिशयोक्ति तथा अपने अपने राज्य का महत्व बतलाने की चेष्टा से रहित नहीं हैं। वि० सं० की १७ वीं शताब्दी के पीछे राजाओं की तरफ़ से भी अपने अपने राज्यों की ख्यातें अपने दफ़्तरों की सहायता से तैयार कराई गईं। जोधपुर और बीकानेर राज्य की ऐसी ख्यातें विस्तृत रूप में मिलती हैं, परन्तु विक्रम संवत् की पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व के लिए तो उनका आधार बड़वों की ख्यातों पर ही रहा, इस-लिए उपर्युक्त दोषों से वे भी मुक्त नहीं हैं। आज तक मिली हुई समस्त ख्यातों में मुंहणोत नैणसी की ख्यात विशेष उपयोगी है। उसके संग्रहकर्ता मुंहणोत नैणसी का जन्म वि० सं० १६६७ मार्गशीर्ष सुदि ४ (ई० स० १६१० ता० ४ नवम्बर) को और देहान्त वि० सं० १७२७ भाद्रपद बदि १३ (ई० स० १६७० ता० ३ अगस्त) को हुआ था। वि० सं० १७१४ (ई० स० १६५७) में जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह (प्रथम) ने उसे अपना दीवान बनाया था। वह वीर तथा प्रबन्ध-कुशल होने के अतिरिक्त इतिहास का बड़ा प्रेमी था। जोधपुर जैसे राज्य का दीवान होने से अन्य राज्यों के प्रसिद्ध पुरुषों के साथ उसका बहुत कुछ मेल-मिलाप रहता था, जिससे प्रसिद्ध पुरुषों, चारणों और भाटों आदि से जो कुछ ऐतिहासिक बातें उसे मिलीं, उनका वि० सं० १७०७ (ई० स० १६५०) के कुछ पूर्व से वि० सं० १७२२ (ई० स० १६६५) के कुछ पीछे तक उसने वृहत् संग्रह किया। उसने कई जगह तो जिसके द्वारा जिस संवत् में जो वृत्तान्त मिला, उसका उल्लेख तक किया है। कई वंशावलियां उसने भाटों की ख्यातों से भी उद्धृत की हैं, इसलिए उनमें दिये हुए प्राचीन नामों आदि में बहुतसे अशुद्ध हैं, परन्तु प्राचीन शोध से उनकी बहुत कुछ शुद्धि हो सकती है। प्रत्येक राज्य के संबंध की जितनी भिन्न भिन्न बातें या वंशा-

वलियां मिल सकीं, वे सब नैणसी ने दर्ज की हैं, जिनमें कुछ ठीक हैं और कुछ अशुद्ध । लेखक-दोष से कहीं कहीं संवतों में भी अशुद्धियां हो गई हैं और कुछ स्थलों पर अपने राज्य का पक्षपात भी पाया जाता है; इसपर भी वह ख्यात विक्रम की पन्द्रहवीं से सत्रहवीं सदी तक के राजपूताने के इतिहास के लिए ऊपर लिखी हुई ख्यातों की अपेक्षा विशेष उपयोगी है। उसमें उदयपुर, डूंगरपुर बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ राज्यों के सीसोदियों (गुहिलोतां); रामपुरे के चंद्रावतां (सीसोदियां की एक शाखा); खेड के गोहिलों (गुहिलोतों); जोधपुर, बीकानेर और किशनगढ़ के राठोड़ों; जयपुर और नरवर के कछवाहों; परमारों, पड़िहारों, सिरोही के देवड़ों (चौहानों); बूंदी के हाड़ां तथा बागडिया, सोनगरा, सांचोरा, बोड़ा, कांपलिया, खीची, चीबा, मोहिल आदि चौहानों की भिन्न भिन्न शाखाओं, यादवों और उनकी जाड़ेचा, सरवैया आदि कच्छ तथा काठियावाड़ की शाखाओं एवं राजपूताने के झालों, दहियों, गौड़ों और कायमखानियों आदि का इतिहास मिलता है।

इस प्रकार के इतिहास के अतिरिक्त गुहिलोत (सीसोदिया), परमार, चौहान, पड़िहार, सोलंकी, राठोड़ आदि वंशों की भिन्न भिन्न शाखाओं के नाम; अनेक क़िले आदि बनाने के संवत् तथा पहाड़ों, नदियों और ज़िलों के विवरण भी मिलते हैं। उक्त ख्यात में चौहानों, राठोड़ों, कछवाहों और भाटियों का इतिहास तो इतने विस्तार से दिया गया है कि उसका अन्यत्र कहीं मिलना सर्वथा असंभव है। इसी तरह वंशावलियों का तो इतना बड़ा संग्रह है कि वह अब अन्यत्र मिल ही नहीं सकता। उसमें अनेक लड़ाइयों का वर्णन, उनके निश्चित संवत् तथा सैकड़ों वीर पुरुषों के जागीर पाने या लड़कर मारे जाने का संवत् सहित उल्लेख देखकर यह कहना अनुचित न होगा कि नैणसी जैसे वीर प्रकृति के पुरुष ने अनेक वीर पुरुषों के स्मारक अपनी पुस्तक में सुरक्षित किये हैं। वि० सं० १३००(ई० स० १२४३) के बाद से नैणसी के समय तक के राजपूतों के इतिहास के लिए तो मुसलमानों की लिखी हुई तवारीख़ों से भी नैणसी की ख्यात कहीं कहीं विशेष महत्त्व की है। सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसाद ने तो नैणसी को राज-

पूताने का अबुल्फ़ज़ल माना था। कर्नेल टॉड के समय तक यह ग्रन्थ प्रसिद्धि में नहीं आया। यदि उसे यह ग्रंथ मिल जाता तो उसका राजस्थान का इतिहास और भी विस्तृत तथा विशेष उपयोगी होता। इस ग्रंथ[1] को प्रसिद्धि में लाने का सारा श्रेय जोधपुर राज्य के स्वर्गीय महामहोपाध्याय कविराजा मुरारिदान को है।

इस काल में समय-समय पर भाषा के अनेक ऐतिहासिक काव्य भी बने, जिनमें सबसे अधिक प्रसिद्धि चंदबरदाई के पृथ्वीराज रासो की हुई। प्राचीन शोध के प्रारंभ से पूर्व यह 'राजपूताने का महाभारत' और इतिहास का अमूल्य कोष समझा जाता था। कई एक आधुनिक हिन्दी-लेखक इसको हिन्दी का आदि काव्य मानकर इसे सम्राट् पृथ्वीराज के समय का बना हुआ बतलाते हैं, जो हमारी राय में भ्रमपूर्ण ही है। यदि यह काव्य पृथ्वीराज के समय का बना हुआ होता तो जयानक के पृथ्वीराजविजय के समान इसमें लिखी हुई घटनाएं और वंशावली शुद्ध होती और चौहानों के प्राचीन शिलालेखों से ठीक मिल जाती, परन्तु वैसा नहीं है। यह काव्य वि० सं० १६०० (ई० स० १५४३) के आसपास का बना हुआ होना चाहिये। इसमें प्रतिशत १० फ़ारसी शब्द हैं और इसमें दी हुई चौहानों की अधिकांश वंशावली अशुद्ध और अपूर्ण है। इसी तरह पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर का दिल्ली के तँवर राजा अनंगपाल की पुत्री कमला से विवाह करना, वि० सं० १११५ (ई० स० १०५८) में उससे पृथ्वीराज का जन्म होना, उसका अपने नाना के यहां गोद जाना, अनंगपाल की दूसरी पुत्री सुन्दरी का विवाह कन्नौज के राजा विजयपाल से होना, आबू पर सलख और उसके पुत्र जैत परमार का राज्य होना, सलख की पुत्री इच्छनी के साथ विवाह करने के लिए गुजरात के सोलंकी राजा

---

(१) इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद दो खंडों में नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, ने प्रकाशित किया है, जिसके प्रथम भाग में गुहिलवंशियों (सीसोदियों), चौहानों, सोलंकियों, पड़िहारों और परमारों के, और द्वितीय खंड में कछवाहों, राठोड़ों, बुंदेलों, जाडेचों, भाटियों, झालों, तँवरों, चावड़ों और मुसलमानों के इतिहास का संग्रह हुआ है। मूल पुस्तक में एक वंश का इतिहास एक ही स्थान पर नहीं है, परन्तु हिन्दी अनुवाद में क्रमबद्ध संग्रह किया गया है।

भोलाभीम का आग्रह करना, सलख का पृथ्वीराज के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर देना, भोलाभीम के हाथ से पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर का मारा जाना, पृथ्वीराज का भोलाभीम को मारना, पृथ्वीराज की बहिन पृथाबाई का विवाह मेवाड़ के रावल तेजसिंह के पुत्र समरसिंह के साथ होना, कन्नौज के राजा जयचंद का राजसूय यज्ञ करना, उसकी पुत्री संयोगिता का पृथ्वीराज के द्वारा हरण होना, रावल समरसिंह का पृथ्वीराज के पक्ष में रहकर शहाबुद्दीन के साथ की लड़ाई में मारा जाना, पृथ्वीराज का क़ैद होकर ग़ज़नी पहुंचना, पृथ्वीराज के शब्दवेधी बाण से शहाबुद्दीन का मारा जाना, पृथ्वीराज और चंदबरदाई का ग़ज़नी में आत्मघात करना, पृथ्वीराज के पीछे उसके पुत्र रैणसी का दिल्ली की गद्दी पर बैठना आदि बहुधा मुख्य-मुख्य घटनाएं कल्पित ही हैं[1]। भाटों ने पृथ्वीराज रासो को प्रामाणिक ग्रंथ जानकर उसमें दिये हुए पृथ्वीराज के जन्म और मृत्यु के वि० सं० क्रमशः १११५ और ११५८ मानकर मेवाड़ के रावल समरसिंह (समरसी) का वि० सं० ११०६ (ई० स० १०४९) में; कन्नौज के राजा जयचंद का वि० सं० ११३२ (ई० स० १०७५) में और आंबेर के राजा पज्जून का वि० सं० ११२७ (ई० स० १०७०) में गद्दी पर बैठना स्वीकार कर उदयपुर, जोधपुर और जयपुर के पहले के राजाओं के कल्पित संवत् स्थिर किये, जिससे राजपूताने के इतिहास में और भी संवत् संबंधी अशुद्धियां हो गई।

पृथ्वीराज रासो की भाषा, ऐतिहासिक घटनाएं और संवत् आदि जिन-जिन बातों की प्राचीन शोध की कसौटी पर जांच की जाती है तो यही सिद्ध होता है कि वह पुस्तक वर्तमान रूप में न पृथ्वीराज की समकालीन है और न किसी समकालीन कवि की कृति।

पृथ्वीराज रासो के अतिरिक्त खुमाण रासा, राणा रासा, राजविलास,

---

(१) 'अनंद विक्रम संवत् की कल्पना' शीर्षक मेरे लेख में—जो नागरीप्रचारिणी पत्रिका (भाग १, पृ० ३७७–४५४) में प्रकाशित हुआ है—इनमें से कई एक घटनाओं के अशुद्ध होने का प्रसंगवशात् विस्तृत विवेचन किया गया है।

जयविलास (उदयपुर के); विजयविलास, सूर्यप्रकाश (जोधपुर के); राव जैतसी रो छंद (बीकानेर का); मानचरित्र, जयसिंहचरित्र (जयपुर के); हंमीर-रासा, हंमीर-हठ (रणथंभोर के चौहानों के) आदि हिन्दी या डिंगल के ग्रंथ मिलते हैं। उनमें से कुछ, समकालीन लेखकों के न होने और कविता की दृष्टि से लिखे जाने के कारण, इतिहास में वे बहुत थोड़ी सहायता देते हैं।

राजपूत राजाओं, सरदारों आदि के वीरकार्यों, युद्धों में लड़ने या मारे जाने, किसी बड़े दान के देने या उनके उत्तम गुणों अथवा राणियों तथा ठकुराणियों के सती होने आदि के संबंध के डिंगल भाषा में लिखे हुए हज़ारों गीत मिलते हैं। ये गीत चारणों, भाटों, मोतीसरों और भोजकों के बनाये हुए हैं। इन गीतों में से अधिकतर की रचना वास्तविक घटनाओं के आधार पर की गई है, परन्तु इनके वर्णनों में अतिशयोक्ति भी पाई जाती है। युद्धों में मरनेवाले जिन वीरों का इतिहास में संक्षिप्त विवरण मिलता है, उनकी वीरता का ये अच्छा परिचय कराते हैं। गीत भी इतिहास में सहायक अवश्य होते हैं। राजाओं, सरदारों, राज्याधिकारियों, चारणों, भाटों, मोतीसरों आदि के यहां इन गीतों के बड़े बड़े संग्रह मिलते हैं। कहीं कहीं तो एक ही स्थान में दो हज़ार तक गीत देखे गये। इनमें से अधिकतर वीररसपूर्ण होने के कारण राजपूताने में ये बड़े उत्साह के साथ पढ़े और सुने जाते थे, परन्तु गत पचास वर्षों से लोगों में इनके सुनने का उत्साह भी कम हो गया है और ऐसे गीतों के बनानेवाले विरले ही रह गये हैं। इन गीतों में से कुछ अधिक प्राचीन[1] भी हैं, परन्तु कई एक के बनानेवालों के समय निश्चित न होने से उनमें से अधिकांश के रचना-काल का

(१) सुभाषित-हारावलि में एक श्लोक मुरारि कवि के नाम से उद्धृत किया गया है, जिसमें चारणों की ख्यात और गीतों का उल्लेख मिलता है (ना० प्र० प०; भाग १, पृ० २२६–३१)। यदि वह वास्तव में अनर्घराघव के कर्ता मुरारि कवि का हो तो यह भी मानना पड़ेगा कि दसवीं शताब्दी से पूर्व भी ऐसे गीत बनाये जाते थे। नैणसी की ख्यात में भी कुछ पुराने गीत, दोहे, छप्पय आदि मिलते हैं।

ठीक ठीक निश्चय नहीं हो सकता। गीतों की तरह डिंगल भाषा के पुराने दोहे, छप्पय आदि बहुत मिलते हैं। वे भी बहुधा वीररसपूर्ण हैं और इतिहास के लिए गीतों के समान ही उपयोगी हैं।

राजपूताने के इतिहास के लिए निम्नलिखित फ़ारसी तवारीखें भी उपयोगी हैं—तारीखे अल्फ़ी, तबक़ाते अकबरी, मुन्तख़बुत्तवारीख़, अकबर-नामा (दोनों, अबुल्फ़ज़ल और फ़ैज़ी-कृत), आईने अकबरी, तुज़ुके जहांगीरी, इकबालनामा जहांगीरी, बादशाहनामा, शाहजहांनामा, आलमगीरनामा, मआसिरे आलमगीरी, मुन्तख़बुल्लुबाब, मआसिरुल्उमरा, बहादुरशाहनामा, मीराते सिकन्दरी, मीराते अहमदी, सैरुल्मुताख़िरीन आदि। हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों में इतिहास लिखने का विशेष प्रचार था, जिससे जहां जहां उनके राज्य रहे, वहां का सविस्तर वृत्तान्त लिखा मिलता है। प्रसिद्ध सुलतानों और बादशाहों में से कई एक के सम्बन्ध की एक से अधिक स्वतंत्र पुस्तकें उपलब्ध हैं। अकबर के समय से मनसबदारी की प्रथा जारी होने के कारण राजपूताने के कई राजा, राजकुमार, राजाओं के कुटुम्बी आदि अनेक राजपूत बादशाही सेवा स्वीकार कर शाही मनसबदार बने। उनके मनसब की तरक्क़ियां, कई लड़ाइयों में उनका लड़ना, ज़िलों के सूबेदार बनना आदि बहुत सी बातें फ़ारसी तवारीखों में पाई जाती हैं। मआसिरुलउमरा में राजपूताने के अनेक राजाओं, सरदारों आदि की जीवनियों का जो संग्रह किया गया है, उसका बहुत थोड़ा अंश राजपूताने की ख्यातों आदि में मिलता है। मुसलमान चाहे हिन्दुओं की पराजय और अपनी विजय का वर्णन कितने ही पक्षपात से लिखते थे और धर्म-द्वेष के कारण हिन्दुओं की बुराई तथा अपनी बड़ाई करने में कभी कसर न रखते थे तो भी उनकी लिखी हुई पुस्तकों में दिये हुए संवत् तथा मुख्य घटनाएं बहुधा प्रामाणिक रीति से लिखी मिलती हैं।

प्रत्येक राज्य के प्रसिद्ध ज्योतिषियों के यहां राजाओं, कुंवरों, कुंवरियों, राणियों, मंत्रियों, प्रसिद्ध पुरुषों आदि की जन्मपत्रियां रहा करती हैं, जिनमें उनके जन्म का संवत्, मास, पक्ष, तिथि, वार और

जन्मकुंडली लिखी रहती है। जन्मपत्रियों के कई छोटे-बड़े संग्रह देखने में आये, जिनमें दो उल्लेखनीय हैं। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता मुंशी देवीप्रसाद के यहां के पुराने हस्तलिखित गुटके तथा फुटकर संग्रह में वि० सं० १४७२ से वि० सं० १८८९ (ई० स० १४१५ से ई० स० १८३२) तक की २१४ जन्मपत्रियां हैं। उसमें मेवाड़ के राणाओं, डूंगरपुर के रावलों; जोधपुर, बीकानेर, किशनगढ़, ईडर, रतलाम, नागोर, मेड़ता, भिणाय और खरवा आदि के राठोड़ों; कोटा और बूंदी के हाड़ों; सिरोही के देवड़ों, जयपुर के कछवाहों, ग्वालियर के तंवरों, जैसलमेर के भाटियों, जामनगर के जामों, रीवां के बघेलों, अनूपशहर के बड़गूजरों, ओर्छा के बुंदेलों, राजगढ़ के गौड़ों, वृन्दावन के गोस्वामियों, जोधपुर के पंचोलियों, भंडारियों और मुंहणोतों आदि अहलकारों और दिल्ली के बादशाहों, शाहज़ादों, अमीरों तथा छत्रपति शिवाजी आदि की जन्मपत्रियां हैं[1]। जन्मपत्रियों का दूसरा बड़ा संग्रह[2] (जो जोधपुर के प्रसिद्ध ज्योतिषी चंडू के घराने का था) हमारे मित्र ब्यावर-निवासी मीठालाल व्यास के द्वारा हमें मिला है। इसमें वि० सं० १७३२ और १७३७ (ई० स० १६७५ और १६८०) के बीच चंडू के वंशधर शिवराम पुरोहित ने अनुमान ५०० जन्मपत्रियों का क्रम-बद्ध संग्रह किया था और ४० जन्मपत्रियां पीछे से समय समय पर बढ़ाई गईं। इसमें वि० सं० १४७२ से लगाकर १७३७ (ई० स० १४१५ से लगा-कर १६८०) तक का पुराना संग्रह है, जिसमें दिल्ली के बादशाहों, शाह-ज़ादों और अमीरों तथा राजा एवं राजवंशियों में सीसोदियों (शिवाजी सहित), राठोड़ों, कछवाहों, देवड़ों, भाटियों, गौड़ों, हाड़ों, गूजरों, जामों, चौहानों, बुंदेलों, आसायचों, पंवारों, खीचियों की और मुंहणोतों, सिंघियों, भण्डारियों, पंचोलियों, ब्राह्मणों, राणियों तथा कुंवरियों की जन्मपत्रियां

---

(१) ना० प्र० प०; भा० १, पृ० ११४-२०।

(२) ये जन्मपत्रियां एक बड़े गुटके के मध्य में हैं, जिसके पहले और पीछे पुरोहित शिवराम के हाथ की लिखी हुई ज्योतिष-सम्बन्धी कई पुस्तकें तथा फुटकर बातें हैं। कई पुस्तकों के अन्त में उनके लिखे जाने के संवत् भी दिये हैं, जो वि० सं० १७३२ से १७३७ तक के हैं और कई जगह उनके लेखक शिवराम का नाम भी दिया है।

हैं। जन्मपत्रियों का इतना बड़ा कोई दूसरा संग्रह हमारे देखने में नहीं आया। कई राजाओं, कुंवरों, सरदारों तथा प्रसिद्ध राजकीय पुरुषों के जन्म-संवत् जानने में ये जन्मपत्रियां सहायता देती हैं।

इसी तरह मुसलमान बादशाहों के फ़रमान तथा शाहज़ादों के निशान और राजाओं के पट्टे-परवाने, राजाओं की तरफ़ से बादशाहों के यहां रहनेवाले वकीलों के पत्र, राजकीय पत्र-व्यवहार तथा मरहटों के पत्र हज़ारों की संख्या में मिलते हैं। ये भी इतिहास के लिए उपयोगी हैं।

मुग़ल साम्राज्य के डगमगाने और मरहटों के प्रबल होने पर कई एक यूरोपियन, हिन्दू और मुसलमान राज्यों की सेना में नियुक्त होते रहते थे। उन लोगों के चरित्रग्रन्थ या यूरोप भेजे हुए उनके पत्रों आदि के आधार पर जो ग्रंथ लिखे गये हैं, उनमें भी राजपूताने के संबंध की कुछ बातें मिलती हैं; जैसे फ़्रांसीसी समरू (सौम्ब्रे, वॉल्टर रैनहार्ड) भरतपुर और जयपुर के राजाओं के पास अपनी सेना रखकर उनसे वेतन पाता रहा। इसी तरह जार्ज थॉमस मरहटों की सेवा में रहा और जयपुर, बीकानेर, उदयपुर आदि से लड़ाइयां लड़ा था। उसके लिखे हुए पत्रों के आधार पर उसकी जीवनी लिखी गई, जो पहले कलकत्ते में छपी और उसका दूसरा संस्करण वि० सं० १८६२ (ई० स० १८०५) में लन्दन में छपा। उसमें राजपूताने के संबंध की उस समय की कई उपयोगी बातों का समावेश है। जार्ज थॉमस अब तक राजपूताने में 'जाज फिरंगी' नाम से प्रसिद्ध है। कुछ फ़्रांसीसियों का अब तक जयपुर राज्य के जागीरदार होना सुना जाता है।

आज से सौ वर्ष पूर्व उपर्युक्त शिलालेख, ताम्रपत्र, सिक्के और संस्कृत पुस्तक आदि सामग्री उपस्थित न थी तो भी राजपूताने के पिछले इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली सामग्री इतनी अवश्य थी कि उससे राजपूताने का इतिहास बनाने का यत्न किया जा सकता था, परन्तु मुंहणोत नैणसी के प्रयास को छोड़कर उस समय के भिन्न भिन्न राज्यों का इतिहास लिखने का प्रयत्न किसी ने न किया। आज राजपूताने के इतिहास पर जितना

प्रकाश पड़ रहा है, उसका श्रेय एक अंग्रेज़ सैनिक एवं विद्यानुरागी सज्जन—कर्नल टॉड—को है। उक्त महानुभाव ने कैसी स्थिति में किस प्रकार अथक परिश्रम कर राजपूताने के इतिहास की नींव डाली, इससे पाठकों को परिचित कराने के लिए कर्नल टॉड का कुछ परिचय नीचे दिया जाता है—

जेम्स टॉड का जन्म इंग्लैण्ड के इस्लिग्टन नगर में ता० २० मार्च ई० स० १७८२ (वि० सं० १८३९ चैत्र सुदि ६) को एक उच्च कुल में हुआ था। ई० स० १७९८ (वि० सं० १८५५) में वह ईस्ट इंडिया कम्पनी के उच्च-पद के सैनिक उम्मेदवारों में भरती होकर वुल्विच नगर की राजकीय सैनिक पाठशाला में प्रविष्ट हुआ और दूसरे साल ही १७ वर्ष की आयु में बंगाल में आया, जहां ई० स० १८०० (वि० सं० १८५६) के प्रारंभ में उसे दूसरे नंबर के रेजिमेंट में स्थान मिला। लॉर्ड वेलेज़ली के मोलक्का द्वीप पर सेना भेजने का विचार सुनकर साहसी टॉड ने उस सेना में सम्मिलित होने के लिए अर्ज़ी दी, जिसके स्वीकृत होने पर वह जलसेना में भरती हो गया। किसी कारणवश उस सेना का वहां जाना स्थगित रहा, परन्तु इससे उसे जलसैन्य-संबंधी कामों का भी अनुभव हो गया। इसके कुछ समय बाद वह १४ नम्बर की देशी पैदल सेना का लेफ्टिनेण्ट बनाया गया। उस समय से ही उसकी कुशाग्र बुद्धि उसके होनहार होने का परिचय देने लगी। फिर कलकत्ते से हरिद्वार और वहां से दिल्ली में उसकी नियुक्ति हुई।

इञ्जीनियरी के काम में कुशल होने के कारण दिल्ली की पुरानी नहर की पैमाइश का काम लेफ्टिनेंट टॉड के सुपुर्द हुआ, जिसे उसने बड़ी योग्यता के साथ पूर्ण किया। ई० स० १८०५ (वि० सं० १८६२) में ग्रीम मर्सर सरकार अंग्रेज़ी की तरफ़ से राजदूत और रेज़िडेंट नियत होकर दौलतराव सिंधिया के दरबार में जानेवाला था। इतिहासप्रेमी होने के कारण राज-दरबारों के वैभव देखने की उत्कंठा से टॉड ने भी उसके साथ चलने की इच्छा प्रगट की। ग्रीम मर्सर ने उसकी प्रशंसनीय स्वतंत्र प्रकृति

से परिचित होने के कारण सरकार से आज्ञा लेकर उसे अपने साथ रहने-वाली सरकारी सेना का अफ़सर नियत किया।

उस समय तक यूरोपियन विद्वानों को राजपूताना और उसके आस-पास के प्रदेशों का भूगोल-संबंधी ज्ञान बहुत ही कम था, जिससे उनके बनाये हुए नक्शों में उन प्रदेशों के मुख्य मुख्य स्थान अनुमान से ही दर्ज किये गये थे; यहां तक कि चित्तोड़ का क़िला, जो उदयपुर से ७० मील पूर्व की ओर है, उनमें उदयपुर से उत्तर-पश्चिम में दर्ज था। राजपूताने के पश्चिमी और मध्य-भाग के राज्य तो उन्होंने बहुधा छोड़ ही दिये थे। उस समय सिंधिया के मेवाड़ में होने के कारण मर्सर को आगरे से जयपुर की दक्षिणी सीमा में होकर उदयपुर पहुंचना था। साहसी टॉड ने आगरे से उदयपुर को प्रस्थान करने के दिन से ही अपनी पैमाइश की सामग्री सम्हाली और डॉ० हंटर के नियत किये हुए आगरा, दतिया, झांसी आदि को आधारभूत मानकर पैमाइश करता हुआ वह ई० स० १८०६ (वि० सं० १८६३) के जून मास में उक्त राजदूत के साथ उदयपुर पहुंचा। उदयपुर तक की पैमाइश करने के बाद टॉड ने शेष राजपूताना और उसके आस-पास के प्रदेशों का एक उत्तम नक्शा तैयार करना चाहा, जिससे उक्त राजदूत के साथ जहां कहीं वह जाता या ठहरता, वहां अपना बहुतसा समय इस कार्य में लगाता। पैमाइश करने के साथ साथ वह उन प्रदेशों के इतिहास, जनश्रुति आदि का भी यथाशक्ति संग्रह करता जाता था। उसी समय से उसकी अमर कीर्तिरूप राजस्थान के इतिहास की सामग्री का संग्रह होने लगा।

सिंधिया की सेना के साथ साथ टॉड भी उदयपुर से चित्तोड़गढ़ के मार्ग से मालवे में होता हुआ बुंदेलखंड की सीमा पर कमलासा में पहुंचा। इधर भी उसने अपना काम बड़े उत्साह से जारी रक्खा और जब सिंधिय की सेना ने ई० स० १८०७ (वि० सं० १८६४) में राहतगढ़ पर घेरा डाला, तो टॉड को अपने कार्य का बहुत अच्छा अवसर मिल गया। कुछ सिपाहियों को लेकर वह राजपूताने के भिन्न भिन्न स्थानों में गया और उधर के अधि-

कांश स्थानों की पैमाइश कर फिर राहतगढ़ में सिंधिया की सेना से आ मिला। जिस हिस्से में वह स्वयं न जा सका, उधर अपने तैयार किये हुए आदमियों को भेजकर उसने पैमाइश कराई और उसकी स्वयं जांच की। इस तरह १० वर्ष तक निरन्तर परिश्रम कर उसने राजपूताने का पूरा नक्शा तैयार कर लिया, जो अंग्रेज़ों के लिए पिंडारियों के साथ की लड़ाई में बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ।

ई० स० १८१३ (वि० सं० १८७०) में उसको कप्तान का पद मिला। फिर दो वर्ष बाद वह सिंधिया के दरबार का अस्टिंट रेज़िडेंट नियत हुआ और यहीं से उसका पोलिटिकल (राजनैतिक) विभाग में प्रवेश हुआ। राजपूताने के राज्यों के साथ अंग्रेज़ों की संधियां होने पर कप्तान टॉड उदयपुर, जोधपुर, कोटा, बूंदी और जैसलमेर के राज्यों का पोलिटिकल एजेंट बना और उसका सदर मुक़ाम उदयपुर नियत हुआ, जहां वह अपने उत्तम स्वभाव के कारण महाराणा भीमसिंह का विश्वासपात्र और सलाहकार बन गया।

इस प्रकार राजपूताने में स्थिर होकर उसने अपने इतिहास का कार्य उत्साह के साथ आरंभ किया। महाराणा ने अपने सरस्वती भंडार से पुराण, रामायण, महाभारत, पृथ्वीराज रासो आदि ग्रंथ निकलवाकर उनसे पंडितों के द्वारा सूर्य और चन्द्र आदि वंशों की विस्तृत वंशावलियां और वृत्तान्तों का संग्रह करवा दिया। फिर टॉड ने यति ज्ञानचन्द्र को गुरु बनाकर अपने पास रक्खा, जो कविता में निपुण होने के अतिरिक्त कुछ-कुछ प्राचीन लिपियों को पढ़ सकता था और जिसे संस्कृत का भी ज्ञान था। ज्ञानचन्द्र के अतिरिक्त कुछ पंडितों और घासी नामक चित्रकार को भी वह अपने साथ रखता था। दौरा करने के लिए टॉड जहां जाता, वहां शिलालेखों, सिक्कों, संस्कृत और हिन्दी के प्राचीन काव्यों, वंशावलियों, ख्यातों आदि का संग्रह करता और शिलालेखों तथा संस्कृत काव्यों का यति ज्ञानचन्द्र से अनुवाद कराता। राजपूताने में रहने तथा यहां के निवासियों के साथ प्रेम होने के कारण उसे यहां की भाषा का अच्छा ज्ञान हो गया था। वह गांवों

के वृद्ध पुरुषों, चारणों, भाटों आदि को अपने पास बुलाकर उनसे पुराने गीत तथा दोहों का संग्रह करता और वहां की इतिहास-सम्बन्धी बातें, क्षत्रियों की वीरता और भिन्न भिन्न जातियों के रीति रिवाज या धर्मसंबंधी वृत्तान्त पूछता। जिस जिस राज्य में जाना होता, वहां का इतिहास वहां के राजाओं द्वारा अपने लिए संग्रह कराता और ऐतिहासिक पुस्तकों की नक़ल करवाता। प्रत्येक प्राचीन मन्दिर, महल आदि स्थानों के बनवानेवालों का यथासाध्य पता लगाता और जहां युद्धों में मरे हुए वीरों के चबूतरे देखता, उनपर के लेख पढ़वाकर या लोगों से पूछकर उनका विवरण एकत्र करता; यदि कोई शिलालेख बहुत उपयोगी होता तो उसे उठवाकर साथ ले जाता। जहां जाता, वहां के उत्तमोत्तम मन्दिरों व महलों आदि के चित्र भी बनवाता। यह काम बहुधा उसका साथी कैप्टन वॉग किया करता था। इसी तरह राजाओं और प्रतिष्ठित पुरुषों के अधिकांश चित्र घासी तैयार किया करता था। साथ ही वह स्वयं हिन्दी, संस्कृत, फ़ारसी आदि भाषाओं में लिखे हुए ऐतिहासिक और अन्य विषय के ग्रंथों, ख्यातों एवं प्राचीन ताम्रपत्रों तथा सिक्कों का संग्रह करता। प्राचीन सिक्कों के संग्रह के लिए मथुरा आदि शहरों में उसने अपने एजेंट रक्खे थे। इस प्रकार उसने २०००० पुराने सिक्के, सैकड़ों शिलालेख, कई ताम्रपत्र या उनकी नक़लें, वंशावलियां, बहुतसी ख्यातें तथा अनेक ऐतिहासिक काव्य इकट्ठे कर लिये।

ई० स० १८१९ के अक्टूबर (वि० सं० १८७६ कार्तिक) में वह उदयपुर से जोधपुर को रवाना हुआ और नाथद्वारा, कुंभलगढ़, घाणेराव, नाडौल आदि होता हुआ वहां पहुंचा। वहां से वह मंडोर, मेड़ता, पुष्कर, अजमेर आदि प्राचीन स्थान देखता हुआ उदयपुर लौट आया; फिर वह बूंदी और कोटा गया। बाड़ोली, भानपुर, धमनार (जहां सुंदर प्राचीन गुफाएं हैं), झालरापाटन (चंद्रावती), बीजोल्यां, मैनाल, बेगूं आदि स्थानों को देखकर दौरा करता हुआ उदयपुर लौट आया।

टॉड को स्वदेश छोड़े हुए २२ वर्ष हो चुके थे, जिनमें से १८ वर्षों

तक पृथक्-पृथक् पदों पर रहने के कारण उसका राजपूतों के साथ बराबर संबंध रहा। अपनी सरल प्रकृति और सौजन्य से वह जहां जहां रहा या गया, वहीं लोकप्रिय बन गया और उसको राजपूताना तथा यहां के निवासियों के साथ ऐसा स्नेह हो गया था कि उसकी इच्छा थी कि मैं अपनी शेष आयु यहीं बिताऊं, परन्तु शारीरिक अस्वस्थता के कारण उसका स्वदेश जाना आवश्यक था, और स्वदेश जाने में दूसरा मुख्य कारण यह भी था कि देशी राजाओं के साथ स्नेह रखने से अंग्रेज़ सरकार को उसकी प्रामाणिकता के विषय में सन्देह होने लग गया था, जिससे अप्रसन्न होकर उसने गवर्नमेंट की सेवा छोड़ देने का संकल्प कर लिया।

राजपूताने के इतिहास की बड़ी भारी सामग्री एकत्रित कर उसने स्वदेश के लिए ता० १ जून ई० स० १८२२ (वि० सं० १८७९ ज्येष्ठ सुदि १२) को उदयपुर से प्रस्थान किया। बंबई जाने तक मार्ग में भी वह अपने इतिहासप्रेम और शोधक बुद्धि के कारण इतिहास की सामग्री एकत्रित करता रहा। उदयपुर से गोगूंदा, बीजापुर और सिरोही होता हुआ वह आबू पहुंचा, जहां के अनुपम जैन-मंदिरों को देखकर अत्यन्त मुग्ध हुआ और उनकी कारीगरी की उसने मुक्तकंठ से प्रशंसा की। आबू पर जानेवाला वह पहला ही यूरोपियन था। आबू से परमार राजाओं की राजधानी—चंद्रावती नगरी—के खंडहरों को देखता हुआ वह पालनपुर, सिद्धपुर, अनहिलवाड़ा (पाटण), अहमदाबाद, बड़ोदा आदि स्थानों में होकर खंभात पहुंचा। वहां से सौराष्ट्र (सोरठ) में जाकर भावनगर और सीहोर देखता हुआ वह वलभीपुर (वळा) पहुंचा। उसकी इस यात्रा का उद्देश्य केवल यही था कि जैनों के कहने से उसे यह विश्वास हो गया था कि मेवाड़ के राजाओं का राज्य पहले सौराष्ट्र में था और उनकी राजधानी वलभीपुर थी, जहां का अनुसंधान करना उसने अपने इतिहास के लिए आवश्यक समझा। उन दिनों सड़कें, रेल, मोटर आदि न थीं, ऐसी अवस्था में केवल इतिहास-प्रेम और पुरातत्व के अनुसंधान की जिज्ञासा के कारण ही उसने इतना अधिक कष्ट सहकर यह यात्रा की। सोमनाथ से एक कोस दूर वेरावल स्थान के

एक छोटेसे मन्दिर में गुजरात के राजा अर्जुनदेव के समय का एक बड़ा ही उपयोगी लेख उसे मिला, जिसमें हिजरी सन् ६६२, वि० सं० १३२०, वलभी संवत् ६४५ और सिंह संवत् १५१ दिये हुए थे। इस लेख के मिलने से उसने अपनी इस कष्टपूर्ण यात्रा को सफल समझा और इससे वलभी तथा सिंह संवतों का प्रथम शोधक और निर्णयकर्त्ता बनने का श्रेय उसे ही मिला। सोमनाथ से घूमता हुआ वह जूनागढ़ गया, जहां से थोड़ी दूर एक चट्टान पर उसने अशोक, क्षत्रप रुद्रदामा और स्कन्दगुप्त के लेख देखे, परन्तु उस समय तक उनके पढ़े न जाने के कारण उसकी आकांक्षा पूर्ण न हो सकी। गिरनार पर जैन-मंदिर और यादवों के शिलालेख आदि देखकर गूंमली, द्वारिका, मांडवी (कच्छ राज्य का बन्दर) होता हुआ वह बंबई पहुंचा। इस यात्रा का सविस्तर वृत्तान्त उसने अपने "ट्रैवल्स इन् वेस्टर्न इण्डिया" नामक एक वृहद् ग्रन्थ में लिखा है, जो उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ। तीन सप्ताह तक बंबई में रहकर उसने स्वदेश को प्रस्थान किया। इस समय वह यहां से इतनी ऐतिहासिक सामग्री ले गया था कि उसको वहां केवल अपने सामान का ७२ पौंड महसूल देना पड़ा।

टॉड के इंग्लैण्ड पहुंचने से कुछ समय पहले लंडन में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना हो चुकी थी। वहां जाते ही वह भी उसका सभासद बन गया और कुछ समय बाद अपने विद्यानुराग के कारण वह उसका पुस्तकालयाध्यक्ष बनाया गया। वहां पहुंचने के दूसरे साल ही उसने पृथ्वीराज (दूसरा) के समय के वि० सं० १२२४ माघ सुदि ७ (ई० स० ११६८ तारीख १६ जनवरी) के लेख पर एक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण निबन्ध पढ़ा, जिससे यूरोप में उसकी विद्वत्ता की बड़ी प्रशंसा हुई। तदनंतर समय समय पर उसने राजपूताने के इतिहास-संबंधी कई अन्य निबंध भी पढ़े, जिनके कारण यूरोपीय विद्वानों का ध्यान राजपूताने के इतिहास की ओर आकर्षित हुआ।

टॉड ई० स० १८२४ में मेजर और १८२६ में लेफ्टिनेंट कर्नल हुआ। अपनी तीन वर्ष की छुट्टी समाप्त होने पर उसने अपने पूर्व-संकल्प के

अनुसार ई० स० १८२५ (वि० सं० १८८२) में सरकारी नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया। ई० स० १८२६ (वि० सं० १८८३) में उसने ४४ वर्ष की अवस्था में विवाह किया और थोड़े ही दिनों बाद स्वास्थ्य-सुधार के लिए यूरोप की यात्रा की।

ई० स० १८२६ (वि० सं० १८८६) में उसने राजपूत जाति के कीर्तिस्तम्भ-रूप 'राजस्थान के इतिहास' की पहली जिल्द और ई० स० १८३२ (वि० सं० १८८६) में दूसरी जिल्द प्रकाशित की। फिर ई० स० १८३५ (वि० सं० १८६२) में 'पश्चिमी भारत की यात्रा' नामक पुस्तक लिखकर समाप्त की। उसे छपवाने के लिए वह १४ नवम्बर १८३५ (वि० सं० १८६२) को लएडन गया, परन्तु उसके दो ही दिन बाद, जब वह एक कम्पनी के यहां अपने लेनदेन का हिसाब कर रहा था, एकाएक मिरगी के आक्रमण से वह मूर्छित हो गया और २७ घंटे मूर्छित रहने के अनंतर ता० १७ नवम्बर को ५३ वर्ष की अवस्था में उसने इस संसार से प्रयाण किया।

टॉड का क़द मझोला था। उसका शरीर हृष्ट-पुष्ट और चेहरा प्रभावशाली था। उसकी शोधक बुद्धि बहुत बढ़ी हुई थी। वह बहुश्रुत, इतिहास का प्रेमी और असाधारणवेत्ता, विद्यारसिक तथा क्षत्रिय प्रकृति का निरभिमानी पुरुष था। यही कारण था कि राजपूतों की वीरता और आत्मत्याग के उदाहरणों के जानने से उसको राजपूताने के इतिहास से बड़ा प्रेम हो गया था।

टॉड ने जब अपना सुप्रसिद्ध और विद्वत्तापूर्ण इतिहास लिखा, उस समय प्राचीन शोध का कार्य आरंभ ही हुआ था। उस समय उसे न तो कोई पुरातत्त्वान्वेषण संस्था इस महान् कार्य में सहायता दे सकी और न उससे पूर्व किसी विद्वान् ने राजपूताने में कुछ शोध किया था। ऐसी अवस्था में इतना महत्त्वपूर्ण इतिहास लिखना कितना कठिन कार्य था, यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं। उसने अपना इतिहास अधिकतर पुराणादि ग्रंथों, भाटों की ख्यातों, राजाओं के दिये हुए अपने अपने

इतिहासों और वंशावलियों, प्राचीन संस्कृत और हिन्दी काव्यों तथा कुछ फ़ारसी तवारीखों के आधार पर लिखा, परन्तु केवल इन्हीं पर उसने संतोष न किया और भिन्न भिन्न शिलालेखों तथा सिक्कों की खोजकर उसने पृथ्वीराज-रासो और भाटों की ख्यातों की कई अशुद्धियां ठीक कीं।

पहली जिल्द में राजपूताने का भूगोलसंबंधी वर्णन, सूर्य, चन्द्र आदि पौराणिक राजवंशों और पिछले ३६ राजवंशों का विवेचन, राजपूताने में जागीरदारी की प्रथा; और अपने समय तक का उदयपुर का इतिहास तथा वहां के त्यौहारों आदि का वर्णन एवं उदयपुर से जोधपुर और जोधपुर से उदयपुर लौटने तक के दौरे में जहां जहां उसका ठहरना हुआ, वहां का तथा उनके आसपास के स्थानों के वृत्तान्त, वहां के इतिहास, शिल्प, शिलालेख, राजाओं और सरदारों का वर्णन, लोगों की दशा, भौगोलिक स्थिति, खेतीबारी, वहां के युद्धों, वीरों के स्मारकों, दन्तकथाओं तथा अनेक ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण है। यह विवरण भी बड़ा ही रोचक और एक प्रकार से इतिहास का ख़ज़ाना है। दूसरी जिल्द में जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर का इतिहास, मरुस्थली का संक्षिप्त वृत्तान्त; आम्बेर का इतिहास, शेखावतों का परिचय, हाड़ौती (बूंदी) और कोटे का इतिहास एवं उदयपुर से कोटा और कोटे से उदयपुर तक की दो यात्राओं का सविस्तर विवरण है। इन दोनों दौरों का विवरण भी ठीक वैसा और उतने ही महत्त्व का है जितना कि जोधपुर के दौरे का ऊपर बतलाया गया है। इन दोनों जिल्दों में स्थान स्थान पर टॉड ने राजाओं, प्रसिद्ध वीरों, ऐतिहासिक स्थानों और कई उत्तम दृश्यों आदि के अपने तैयार करवाये हुए अनेक सुन्दर चित्र भी दिये हैं।

इस पुस्तक के प्रकाशित होने से राजपूत वीरों की कीर्ति, जो पहले केवल भारतवर्ष में सीमाबद्ध थी, भूमण्डल में फैल गई। यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय और प्रसिद्ध हुई कि इस वृहद् ग्रंथ के अनेक संस्करण भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों और इग्लैंण्ड में प्रकाशित हुए। भारत में तो हिन्दी, गुजराती, बंगला, उर्दू आदि भाषाओं में इसके कई अनुवाद

प्रकाशित हुए और कई भाषाओं में इसके आधार पर स्वतन्त्र ऐतिहासिक पुस्तक, काव्य, उपन्यास, नाटक तथा जीवनचरित्र लिखे गये और अब भी लिखे जा रहे हैं।

टॉड स्वयं संस्कृत से अनभिज्ञ था, इसलिए संस्कृत के शिलालेखों के लिए उसे अपने गुरु यति ज्ञानचन्द्र से सहायता लेनी पड़ती थी। ज्ञानचन्द्र भाषा-कविता का विद्वान् होने पर भी अधिक पुराने शिलालेखों को ठीक ठीक नहीं पढ़ सकता था और उसका संस्कृत का ज्ञान भी साधारण ही था; जिससे टॉड की संगृहीत सामग्री का पूरा पूरा उपयोग न हो सका, और कुछ लेखों के ठीक न पढ़े जाने के कारण भी उसके इतिहास में कुछ अशुद्धियां रह गईं। राजाओं से उनके यहां के लिखे हुए जो इतिहास मिले, उनके अतिशयोक्तिपूर्ण होने एवं विशेष खोज के साथ न लिखे जाने के कारण भी इतिहास में कई स्थल दोषपूर्ण हैं। भाटों और चारणों की ख्यातों तथा गीतों को आधारभूत मानने के कारण एवं बहुतसी अनिश्चित दन्तकथाओं का समावेश होने से भी त्रुटियां रह गई हैं। संस्कृत भाषा तथा भारतीय पुरुषों या स्थानों के नामों से पूर्ण परिचय न होने से कई जगह नामों की अशुद्ध कल्पना हुई है। कहीं यूरोप और मध्य एशिया की जातियां तथा राजपूतों के रीति-रिवाज़ों का मिलान करने में भ्रमपूर्ण अनुमान भी किये गये हैं। कुछ लोगों की लिखवाई हुई बातों की ठीक ठीक जांच न कर उनको ज्यों-की-त्यों लिखने से भी अशुद्धियां रह गई हैं। इसपर भी टॉड का इतिहास एक अपूर्व ग्रंथ है। यह इतिहास अपने विषय का सबसे पहला और सबसे महत्वपूर्ण प्रयास है। टॉड के बाद किसी भी यूरोपियन या भारतीय विद्वान् ने इन सौ वर्षों में राजपूताने के इतिहास के लिए इतना अगाध और प्रशंसनीय परिश्रम नहीं किया। आज भी राजपूताने का इतिहास लिखने में टॉड का[1] आधार लिये बिना काम नहीं चल सकता।

---

(१) ई० स० १६०१ में मैंने 'कर्नल जेम्स टॉड का जीवनचरित्र' नामक छोटी पुस्तक लिखी थी, जो ई० स० १६०२ में खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर (पटना)

कर्नल टॉड का इतिहास प्रकाशित होने के पीछे के राजपूताने के इतिहास के लिए नीचे लिखे हुए ग्रंथ उपयोगी हैं। एचिसन की 'कलेक्शन ऑव् ट्रीटीज़, एङ्गेज़्मेंट्स एण्ड सनद्ज़' (राजपूताने के सम्बन्ध की दूसरे संस्करण की तीसरी जिल्द), जे. सी. ब्रुक-कृत 'हिस्ट्री ऑव् मेवार' और 'ए पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव् दी स्टेट ऑव् जयपुर', जनरल शावर्स की 'ए मिसिंग चैप्टर ऑव् दी इंडियन म्युटिनी', ई० स० १८५७ के विद्रोह के संबंध की कई अंग्रेज़ी पुस्तकें, जे. पी. स्ट्रेटन-कृत 'चित्तोर एण्ड दी मेवार फ़ैमिली', राजपूताने के भिन्न भिन्न राज्यों के गैज़ेटियर (पुराने और नये), 'इम्पीरियल गैज़ेटियर ऑव् इंडिया; राजपूताने की भिन्न भिन्न एजेंसियों और राज्यों की सालाना रिपोर्टें', चीफ़्स एण्ड लीडिंग फ़ैमिलीज़ इन राजपूताना', कर्नल वॉल्टर का मेवाड़ के सरदारों का इतिहास आदि।

कर्नल टॉड के पीछे बूंदी के महाराव रामसिंह के समय मिश्रण सूर्यमल्ल ने वंशभास्कर नामक कविताबद्ध बड़ा ग्रंथ लिखा, जिसमें बूंदी के राज्य का उस समय तक का तथा राजपूताने के भिन्न भिन्न राज्यों एवं राजवंशों का भी कुछ इतिहास है। इस बृहद्ग्रन्थ का कर्त्ता उत्तम कवि और अच्छा विद्वान् था, परन्तु इतिहासवेत्ता नहीं इसलिए उसने विक्रम संवत् की सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ के आसपास तक का इतिहास अधिकतर भाटों के आधार पर लिखा, जो बहुधा विश्वास-योग्य नहीं है। पिछला इतिहास ठीक है, परन्तु उसमें भी विशेष अनुसंधान किया हो, ऐसा पाया नहीं जाता।

भरतपुर-निवासी मुंशी ज्वालासहाय ने 'वक़ाये राजपूताना' नाम की पुस्तक उर्दू भाषा में तीन जिल्दों में लिखी, जिसमें राजपूताने के समस्त राज्यों का इतिहास देने का यत्न किया है, परन्तु पहले का सारा इतिहास

से प्रकाशित हुई और उसका दूसरा संस्करण खड्गविलास प्रेस से प्रकाशित 'हिंदी टॉड-राजस्थान' के प्रथम खंड के प्रारंभ में प्रकाशित हुआ है। उसका गुजराती अनुवाद गुजराती भाषा के 'राजस्थान नो इतिहास' की पहली जिल्द में प्रकाशित हुआ। जो महाशय कर्नल टॉड और उसके ग्रंथ के विषय में अधिक जानना चाहें, वे उसे पढ़ें।

तो टॉड से ही लिया गया है और पिछला सरकारी रिपोर्टों, अन्य पुस्तकों तथा अपने परिचय से लिखा है।

उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह ने अपने विद्यानुराग और इतिहास प्रेम के कारण महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदास को 'वीरविनोद' नामक उदयपुर का विस्तृत और राजपूताने के अन्य राज्यों तथा जिन जिनसे मेवाड़ का संबंध रहा, उनका संक्षिप्त इतिहास लिखने की आज्ञा दी। इस बृहद् इतिहास के लिखने तथा छपने में अनुमान १२ वर्ष लगे और एक लाख रुपये व्यय हुए। कर्नल टॉड के ग्रंथ के अतिरिक्त इसमें फ़ारसी तवारीख़ों, कुछ शिलालेखों, ख्यातों तथा संस्कृत और भाषा के काव्यों से बहुत कुछ सहायता ली गई है। कई हज़ार पृष्ठों में यह बृहद् ग्रंथ समाप्त हुआ है; टॉड के पीछे ऐसा कोई दूसरा ग्रंथ नहीं बना। इसके पहले खंड के प्रारंभ में कई अनावश्यक बातें भर दी गई हैं तो भी यह ग्रंथ इतिहास के लिए अवश्य उपयोगी है। इसको छपे ३५ वर्ष हो चुके, परन्तु यह अब तक प्रकाशित नहीं हुआ। सौभाग्य की बात है कि इसकी कुछ प्रतियां बाहर निकल गईं, जिनको प्राप्तकर आजकल के अंग्रेज़ी तथा हिन्दी में इतिहास लिखनेवाले विद्वान् इससे भी सहायता ले रहे हैं।

वि० सं० १९४८ (ई० स० १८९२) में चारण रामनाथ रत्नू ने 'इतिहास राजस्थान' नामक एक छोटी पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें करौली, भरतपुर, धौलपुर और टोंक को छोड़कर राजपूताने के १४ राज्यों का संक्षिप्त इतिहास है। यह भी बहुधा टॉड के आधार पर लिखी गई है।

मुंशी देवीप्रसाद ने 'प्रसिद्ध चित्रावली' में उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर और जयपुर के कुछ राजाओं की जीवनियां हिन्दी या हिन्दी-उर्दू में प्रकाशित की थीं, परंतु वे बहुत ही संक्षिप्त हैं।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त राजपूताना या उसके भिन्न भिन्न राज्यों के इतिहास के सम्बन्ध में कुछ और भी पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित हुई, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से वे उल्लेखनीय नहीं हैं।

अब हमारे इतिहास के प्रकाशित किये जाने के सम्बंध में दो शब्द

कहना अनुचित न होगा। बंबई में रहते समय विद्यार्थी-जीवन में ही मुझे इतिहास और पुरातत्व से अधिक प्रेम हुआ, और जब मैंने ग्रीस तथा रोम के गौरवपूर्ण प्राचीन इतिहास पढ़े, तब मेरे हृदय में प्राचीन भारत का इतिहास जानने की प्रबल उत्कंठा उत्पन्न हुई। उसी समय से मैंने भारत के पुराने इतिहास का अध्ययन आरंभ किया और प्राचीन इतिहास या पुरातत्व संबन्धी जो कोई लेख, पुस्तक, शिलालेख या ताम्रपत्र मेरे दृष्टिगोचर होता, उसे मैं अवश्यमेव पढ़ता। इस अध्ययन से मुझे बहुत कुछ लाभ हुआ और मेरी रुचि पुरातन इतिहास तथा पुरातत्त्व की ओर निरंतर बढ़ती गई। इन्हीं दिनों कर्नल टॉड के राजस्थान के इतिहास को पढ़ने से मेरे हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा। राजपूतों की स्वदेशभक्ति, आत्मत्याग तथा आदर्श वीरता के अनेक उदाहरण पढ़कर मैं मुग्ध हो गया और राजपूताने का निवासी होने के कारण वहां का विस्तृत इतिहास जानने के लिए मैं उत्सुक हुआ और यह उत्कंठा इतनी बढ़ी कि मैंने राजपूताने के राजाओं के दरबार, प्राचीन दुर्ग, रणक्षेत्रादि सब ऐतिहासिक स्थान देखने तथा शिलालेख, ताम्रपत्र आदि संग्रह करने का निश्चय कर लिया। तदनुसार मैं वि० सं० १९४४ (ई० स० १८८८) में उदयपुर पहुँचा। उन दिनों 'वीरविनोद', जिसका वर्णन ऊपर किया है, सारा लिखा जा चुका था और दो-तिहाई छप भी गया था। मेरे इतिहास प्रेम के कारण मैं वहां के इतिहास-कार्यालय का मंत्री बनाया गया, जिससे मुझे मेवाड़ के भिन्न भिन्न ऐतिहासिक स्थलों को देखने और ऐतिहासिक सामग्री (ख्यातें, गीत आदि) एकत्र करने का बहुत अच्छा अवसर मिल गया। जब उदयपुर में विक्टोरिया हॉल के पुस्तकालय और म्यूज़ियम खोले गये, तब मैं ही उनका अध्यक्ष नियत हुआ, जहां के पुरातत्त्व-विभाग के लिए भी मुझे शिलालेखों, सिक्कों, मूर्तियों प्राचीन कारीगरी के सुन्दर नमूनों आदि के संग्रह करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। अनेक शिलालेखों को पढ़ने या उनका संग्रह करने से मुझे यह अनुभव हुआ कि भारतवर्ष में असंख्य शिलालेख, ताम्रपत्र और सिक्के उपलब्ध होते हैं, परन्तु उनकी लिपियां इतनी प्राचीन और भिन्न भिन्न हैं

कि उन्हें पढ़नेवाले विद्वान् इने गिने ही हैं। यदि संस्कृतज्ञपंडित भी प्राचीन लिपियों को पढ़ना सीख जावें तो शिलालेखों को प्रसिद्धि में लाने के लिए अधिक सुविधा हो जाय; परंतु इस विषय पर अंग्रेज़ी या अन्य किसी भाषा में भी उस समय तक कोई ग्रन्थ न था। इस त्रुटि को पूर्ण करने के लिए मैंने वि० सं० १९५१ (ई० स० १८९४) में 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' नामक पुस्तक प्रकाशित की और इस विषय की प्रथम पुस्तक होने के कारण भारतीय तथा यूरोपियन विद्वानों ने उसका अच्छा आदर कर मेरे उत्साह को और भी बढ़ाया। इन सब बातों से भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास तथा प्राचीन शोध की तरफ़ मेरी प्रवृत्ति और भी बढ़ी, और मैंने भारतीय ऐतिहासिक ग्रंथमाला प्रकाशित करने का विचार किया। इसी विचार के फलस्वरूप उक्त माला का प्रथम पुष्प मेरे सोलंकियों के प्राचीन इतिहास के रूप में विकसित हुआ, परन्तु कई कारणों से उक्त ग्रंथमाला के अन्य भाग प्रकाशित न किये जा सके। उदयपुर में रहते हुए अवकाश के समय इसी उद्देश्य से मैं राजपूताने के अन्य राज्यों तथा भारत के भिन्न भिन्न विभागों में भी भ्रमण करता रहा और वि० सं० १९५५ (ई० स० १८९८) में काठियावाड़ के जामनगर राज्य में तो काबों ने मुझे लूट भी लिया था; परन्तु मेरी तैयार की हुई वहां के अनेक शिलालेखों की छापें एवं प्राचीन सिक्के बच गये, क्योंकि वे उस समय मेरे साथ न थे।

वि० सं० १९६४ (ई० स० १९०८) में मेरी नियुक्ति अजमेर के राजपूताना म्यूज़ियम पर हुई, जिससे मुझे राजपूताने के बहुत-से राज्यों में भ्रमण करने का और भी अवसर मिला; कर्नल टॉड के देखे हुए स्थानों में से अधिकांश के अतिरिक्त और भी अनेक स्थान मैंने देखे, और इन दौरों में भी मैंने बहुतसे शिलालेख, ताम्रपत्र, सिक्के, गीत, ख्यातों आदि का संग्रह किया। यहीं रहते हुए मैंने सिरोही राज्य के अधिकांश में दौरा कर वहां का इतिहास प्रकाशित किया। फिर मेरी 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' का प्रथम संस्करण अप्राप्य होने पर कई एक मित्रों के साग्रह अनुरोध से चार वर्ष तक सतत परिश्रम कर मैंने उसका परिवर्धित द्वितीय संस्करण प्रका-

शित किया। हर्ष की बात है कि उसका भी देशी और विदेशी विद्वानों ने अच्छा आदर किया।

इस तरह राजपूताने में रहते और यहां का अनुसंधान करते हुए मुझे लगभग चालीस वर्ष हो गये। इस दीर्घ काल में मैं राजपूताने के इतिहास की सामग्री—शिलालेख, सिक्के, ताम्रपत्र, संस्कृत और हिन्दी आदि के प्राचीन या नवीन काव्य, ख्यातें, गीत, दोहे आदि—का निरन्तर यथाशक्ति संग्रह करता रहा। मैंने यह संग्रह केवल अपने इतिहास-प्रेम से प्रेरित होकर ही किया था। इस प्रकार पाठक जान जावेंगे कि मैंने अब तक अपनी ६४ वर्ष की आयु—विद्यार्थी-जीवन को छोड़कर—राजपूताने में ही बिताई है और मैं गत चालीस वर्षों से राजपूताने के राज्यों में ऐतिहासिक खोज करता रहा हूं। ऐतिहासिक स्थलों को देखने की इच्छापूर्ति के लिए अनेक स्थानों—गांवों, जंगलों, पहाड़ों, प्राचीन नगरों के खंडहरों, पुराने क़िलों आदि—में भ्रमण करते हुए मैंने अनेक असुविधाओं का सामना किया है। राजपूताने में रेल अन्य प्रान्तों की अपेक्षा बहुत थोड़ी होने के कारण तांगे, घोड़े, ऊँट, हाथी पर तथा पैदल भी मुझे अब तक कई हज़ार मील का भ्रमण करना पड़ा है। सामग्री संग्रह करने का कार्य बराबर होता रहा। भारतीय प्राचीन लिपिमाला का द्वितीय संस्करण प्रकाशित होने के अनन्तर मेरा ध्यान राजपूताने के इतिहास की तरफ़ गया। यह तो सब को भलीभांति विदित है कि राजपूताने के इतिहास को प्रकाश में लाने का प्रथम परिश्रम कर्नल टॉड ने किया था; परन्तु उस समय प्राचीन शोध के कार्य का आरम्भ ही हुआ था, अतएव कर्नल टॉड को अपने ग्रंथ कीरचना बड़वे-भाटों की ख्यातों, प्रत्येक राजवंश की प्रचलित दन्तकथाओं और प्रत्येक राज्य ने जो कुछ अपना इतिहास दिया, उसी पर करनी पड़ी। उसके राजस्थान के इतिहास को प्रकाशित हुए १०० वर्ष होने आये हैं। इस अर्से में कई पुरातत्त्ववेत्ताओं के बड़े परिश्रम और सतत खोज से राजपूताना और उससे संबंध रखनेवाले बाहरी प्रदेशों से हज़ारों शिलालेख, सैकड़ों दानपत्र, कई राजवंशों के प्राचीन सिक्के, अनेक संस्कृत, प्राकृत,

हिन्दी एवं डिंगल भाषा के काव्य, मुँहणोत नैणसी की ख्यात, बड़वे-भाटों की अनेक पुस्तकें, कई स्वतंत्र पुरुषों-द्वारा संगृहीत भिन्न भिन्न राज्यों की ख्यातें, वंशावलियों की कई पुस्तकें, अनेक फ़ारसी तवारीखें तथा पुराने पत्र-व्यवहार संगृहीत हुए हैं। बड़वे-भाटों की ख्यातों में दिये हुए प्राचीन इतिवृत्त पुरानी वंशावलियां तथा विक्रम संवत् की पन्द्रहवीं शताब्दी से पूर्व के राजाओं के संवत् प्राचीन शोध की कसौटी पर प्रायः कपोलकल्पित सिद्ध हुए। नवीन शोध से भारत के इतिहास के साथ साथ राजपूताने के इतिहास में भी बहुत कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता हुई है। इतनी सामग्री उपस्थित हो जाने पर भी, जहां तक हम जानते हैं, टॉड की पुस्तक की बहुत सी त्रुटियां अब तक दूर नहीं हुई हैं। वि० सं० १९६५ (ई० स० १९०८) में खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर से प्रकाशित होनेवाले टॉड-राजस्थान के हिन्दी अनुवाद का संपादन करते हुए हमने यथामति टॉड के अपूर्व ग्रंथ के कुछ प्रकरणों की ऐतिहासिक त्रुटियों को अपनी विस्तृत टिप्पणियों द्वारा दूर करने तथा जो नई बातें मालूम हुईं, उनको बढ़ाने का प्रयत्न किया था; परन्तु कई कारणों से उस अनुवाद के केवल १४ प्रकरण ही छप सके, जिससे उक्त महानुभाव के अंग्रेज़ी ग्रंथ का बहुत ही थोड़ा अंश हिन्दी संसार के सामने रक्खा जा सका।

जहां तक हम जानते हैं, आधुनिक शोध के आधार पर राजपूताने का वास्तविक इतिहास अब तक लिखा ही नहीं गया। जहां अन्य स्वतन्त्र एवं समुन्नत देशों में ज़रा ज़रा-सी घटना को लेकर बड़े बड़े ग्रंथ लिखे जाते हैं, फिर उन्नति के इस युग में—और वह भी इतिहास का महत्त्व पूर्णतया अनुभव करते हुए—जिस राजस्थान की वीरता न केवल भारतवर्ष में वरन् संसार में अद्वितीय कही जा सकती है, और जिसका वर्णन हमारे देशवासियों-द्वारा स्वर्णाक्षरों में लिखा जाना चाहिये था, उसका कोई क्रमबद्ध, खोजपूर्ण, विशद, प्रमाणभूत तथा सच्चा इतिहास अभी तक नहीं लिखा गया। जिस देश की भूमि को महाराणा प्रताप, राठोड़ दुर्गादास आदि वीरपुरुषों ने अपने जन्म से अलंकृत किया है, उसके इतिहास के अभाव से

किस इतिहास-प्रेमी के हृदय में दुःख न होगा ? फ्रांस में नेपोलियन एक बड़ा वीर पुरुष हुआ। उस देश पर दृष्टिपात करने से जान पड़ता है कि नेपोलियन के जीवन पर सैकड़ों आलोचनात्मक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं, और उसके समय की कोई घटना ऐसी नहीं है, जो उन इतिहास-ग्रंथों में अंकित न हुई हो। प्रातःस्मरणीय राणा प्रताप के प्रताप की गूंज जिस देश के कोने कोने में सुनाई देती है, और जिसने भारतवर्ष और विशेषकर राजपूताने का मुख उज्वल किया है, क्या शिक्षित-वर्ग को उस देश के सच्चे इतिहास का अभाव नहीं जान पड़ता ? किसी समय शौर्य, पराक्रम, तेज एवं वीरता-धीरता में सबसे बढ़ा-चढ़ा और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए आत्मोत्सर्ग करने में सर्वाग्रणी होनेवाला यह राजपूताना आज अपने अतीत गौरव को भूल गया है। बीसवीं शताब्दी के आरंभ से भारतीय विद्वानों ने इतिहास लिखने की ओर विशेष ध्यान दिया है, परन्तु जहां अनेक भारतीय विद्वान् भारतवर्ष के भिन्न भिन्न कालों और प्रान्तों के इतिहास लिखने में संलग्न हो रहे हैं, वहां राजपूताने के इतिहास की तरफ़ किसी विद्वान् का ध्यान नहीं गया। मैं चाहता था कि यदि कोई सुयोग्य ऐतिहासिक तथा पुरातत्त्ववेत्ता इस कार्य को अपने हाथ में ले, तो मैं अपनी संग्रह की हुई सामग्री-द्वारा उसे पूर्ण रूप से सहायता दूं, परन्तु जब इतने वर्षों में किसी विद्वान् ने इस तरफ़ ध्यान ही न दिया, तब मेरी संगृहीत सामग्री और इतने वर्षों के अध्ययन तथा भ्रमण से प्राप्त राजपूताने के इतिहास का मेरा अनुभव निष्फल न हो, यह विचार कर—अपनी वृद्धावस्था एवं शारीरिक अस्वस्थता होते हुए भी—मैंने यह निश्चय कर लिया कि यथाशक्ति अपनी शेष आयु राजपूताने का एक स्वतन्त्र इतिहास लिखने में व्यतीत की जाय, ताकि हिन्दी-साहित्य में राजपूताने के इतिहास का जो अभाव है, उसके कुछ अंश की तो पूर्ति हो जाय। इसी निश्चय के अनुसार मैंने वि० सं० १९८२ (ई० स० १९२५) के आरंभ से इसका खंडशः प्रकाशन आरंभ किया। यह ग्रन्थ कई जिल्दों में समाप्त होगा।

पहली जिल्द के प्रथम चार अध्यायों का संबंध समस्त राजपूताने

से है। उनमें जो कुछ लिखा है, पाठकों के सुभीते के लिए उसका संक्षिप्त परिचय पृ० ३४४-३४६ में दे दिया गया है, अतएव उसे यहां दुहराने की आवश्यकता नहीं। फिर वर्तमान राज्यों का इतिहास आरम्भ होता है। राजपूताने के राज्यों में सबसे प्राचीन उदयपुर और वंशों में सबसे अधिक गौरवान्वित गुहिलवंश है। इसी लिए हमने उदयपुर राज्य के इतिहास को प्रथम स्थान देना उचित समझा। उक्त राज्य के इतिहास के पहले अध्याय में भूगोल-सम्बंधी वर्णन देकर दूसरे में वहां के राजवंश की प्राचीनता एवं उसके गौरव का वर्णन और उसके संबंध की कई विवादग्रस्त बातों का सप्रमाण निराकरण किया है। तीसरे अध्याय में मेवाड़ का प्राचीन इतिहास लिखा गया है, जो अब तक अंधकार में ही था। कर्नल टॉड ने आज से सौ वर्ष पूर्व जो कुछ थोड़ासा प्राचीन इतिहास लिखा, वह त्रुटिपूर्ण तथा नाममात्र का है। टॉड के बाद वहां के प्राचीन इतिहास को प्रकाश में लाने का किसी ने उद्योग किया ही नहीं, इसलिए हमने प्राचीन इतिहास पर अपने अनुसंधानों द्वारा कुछ नया प्रकाश डालने का भरसक प्रयत्न किया है। परन्तु यह हम अवश्य कहेंगे कि यदि प्राचीन शोध के कार्य में विशेष उन्नति हुई, तो मेवाड़ में अनेक स्थानों से प्राचीन इतिहास की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होगी, जिसकी सहायता से भविष्य में वहां का एक सर्वांगपूर्ण प्राचीन इतिहास लिखा जा सकेगा। उक्त तीसरे अध्याय के साथ ही हमारे इतिहास की पहली जिल्द समाप्त होती है। दूसरी जिल्द में मेवाड़ का इतिहास पूर्ण करने का यत्न किया जायगा। फिर क्रमशः डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़, जोधपुर, बीकानेर, किशनगढ़, जयपुर, अलवर, बूंदी, कोटा, सिरोही, करौली, जैसलमेर, झालावाड़, भरतपुर, धौलपुर, टोंक और अजमेर के सरकारी इलाक़े व इस्तमरारदारों का इतिहास रहेगा। हमारा विचार है कि प्रत्येक राज्य के इतिहास के प्रारंभ में वहां का भूगोल-संबंधी वर्णन और वहां के प्राचीन एवं प्रसिद्ध स्थानों का विवरण तथा अंत में प्रसिद्ध सरदारों आदि का संक्षिप्त परिचय दिया जाय। प्राचीन स्थानों, प्रसिद्ध राजाओं तथा सरदारों आदि के चित्र देने का भी यथाशक्ति यत्न किया जायगा।

हम किसी प्रकार यह कहने के लिए तैयार नहीं हैं कि हमारा यह इतिहास सर्वांगपूर्ण है, क्योंकि अब तक हम इस बात को भली-भांति जानते हैं कि इस इतिहास में अनेक त्रुटियां रह गई होंगी। हमारा अनुभव पर्याप्त नहीं हुआ है कई बातों की हमें अब तक जानकारी न हो; इस कारण कई त्रुटियां रह जाना संभव है। साथ ही हमारी यह भी धारणा है कि राजपूताने का वास्तविक इतिहास लिखे जाने का समय अभी दूर है, क्योंकि उसके लिए विशेष खोज की आवश्यकता है। यदि शोध के कार्य में निरन्तर उन्नति होती गई, तो आधी शताब्दी के भीतर इतिहास की कायापलट हो जायगी और उस परिपूर्ण शोध के आधार पर राजपूताने का एक सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वांगसुंदर इतिहास लिखने का श्रेय किसी भावी विद्वान् को ही मिलेगा; परन्तु हम इतना अवश्य कहेंगे कि भविष्य में जो कोई इतिहासवेत्ता इस देश का ऐसा इतिहास लिखने में प्रवृत्त होगा, उसको हमारा यह इतिहास कुछ-न-कुछ सहायता अवश्य देगा। हमारी आंतरिक इच्छा यही है कि इस पुस्तक-द्वारा राजपूताने के भावी इतिहास-कारों के लिए कुछ सामग्री तैयार कर रख दी जाय तो इतिहास-निर्माण में उनको कुछ सुगमता हो। दूसरी बात यह है कि हमने अपने इतिहास के पृष्ठों में 'नामूलं लिख्यते किञ्चित'. सिद्धान्त का यथाशक्ति पालन करने का प्रयत्न किया है। इसका कारण यही है कि पाठकों को प्रत्येक बात का प्रमाण वहीं मिल जाय और उसके लिए विशेष श्रम न करना पड़े। अप्र-काशित शिलालेखादि के आधार पर जो कुछ लिखा है, उसके साथ टिप्पण में मूल अवतरण दे दिये हैं और प्रकाशित शिलालेखादि से आवश्यकता के अनुसार।

इस इतिहास में हमने राजपूताने के प्रचलित प्रान्तीय शब्दों का उपयोग भी किया है, जो आवश्यक था, जैसे 'राणा', 'राणी' और 'घाट' इत्यादि। 'राणा', 'राणी' शब्दों का प्रयोग देखकर युक्त प्रदेश के कुछ विद्वान् इनको ठीक न समझेंगे, परन्तु उनके 'राना' और 'रानी' शब्द वास्तव में राजाओं के यहां प्रयुक्त नहीं होते। राजपूताना, मालवा, गुजरात, काठिया-

वाड़, बुंदेलखंड और बघेलखंड आदि प्रदेशों में, जहां राजाओं के राज्य हैं, ये शब्द 'राणा' और 'राणी' ही बोले जाते हैं, न कि 'राना' और 'रानी'। फ़ारसी और अंग्रेज़ी की वर्णमाला की अपूर्णता के कारण उनमें 'ण' अक्षर न होने से उसके स्थान पर 'न' ही लिखा जाता है, जिसका अनुकरण कुछ हिन्दी-लेखक भी करने लगे हैं। जब हिन्दी-लेखक नागरी अक्षरों के नीचे बिन्दियां लगाकर उनको फ़ारसी उच्चारण के समान बनाने की चेष्टा करते हैं, तो ऐसे विशाल प्रदेश में बोले जानेवाले शब्दों को ज्यों-के-त्यों रखना हमें अनुचित प्रतीत नहीं होता। अंग्रेज़ी की अपूर्ण वर्णमाला में लिखे हुए राजपूताने के कई नामों का अनुकरण कर हिन्दी लेखक उनको अंग्रेज़ी सांचे में ढालते हैं, जैसे चीतोर, राठौर, आरावली (आड़ावळा) आदि, जो वस्तुतः ठीक नहीं हैं, क्योंकि जिन स्थानों या पुरुषों से उनका संबन्ध है, वहां ये शब्द इस तरह बोले ही नहीं जाते। इसी तरह कई आधुनिक हिन्दी-लेखक 'राजा', 'महाराजा' आदि शब्दों के बहुवचन 'राजे', 'महाराजे' बनाते हैं, जो बहुत ही कर्णकटु प्रतीत होते हैं और राजपूताने में इनका प्रयोग बिलकुल नहीं होता। कई वर्ष पूर्व स्व० विद्वद्वर पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने 'समालोचक' पत्र में इस विषय में एक लेख प्रकाशित कर इन शब्दों के शुद्धाशुद्ध होने की ओर हिन्दी-पाठकों का ध्यान आकर्षित किया था। इसी तरह वंश या शाखा के परिचायक शब्द भी राजपूताने में प्रचलित बोलचाल के अनुसार ही दिये गये हैं; जैसे चूंडावत, शक्तावत, सारंगदेवोत आदि, क्योंकि उनसे उस पुरुष का विशेष परिचय हो जाता है। राजपूताने की बोलचाल के अनुसार हमने कहीं-कहीं 'ळ' अक्षर का भी प्रयोग किया है। इस ग्रंथ में कई एक हस्तलिखित पुस्तकों के पृष्ठांक टिप्पण में दिये गये हैं, जो हमारे संग्रह की हस्तलिखित पुस्तकों के ही हैं।

इतिहास-प्रेमी पाठकों से हमारा सविनय निवेदन है कि इस ग्रंथ में जो-जो ऐतिहासिक त्रुटियां उनके दृष्टिगोचर हों, उनकी सप्रमाण सूचना यदि वे हमारे पास भेजने की कृपा करेंगे, तो इसके द्वितीय संस्करण में, जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा, हम उन्हें सहर्ष स्थान देंगे; परन्तु जो प्रमाण

हमारे पास आवें, वे ऐसे हों कि ऐतिहासिक कसौटी पर आँच करने से उनकी सचाई पर हमें विश्वास हो जाय।

मैं उन सब ग्रंथकर्त्ताओं का उपकृत हूं, जिनके ग्रंथों अथवा लेखों आदि से मुझे अपने इतिहास के प्रणयन में सहायता मिली है और जिनके नाम स्थान स्थान पर दिये गये हैं। मैं रायसाहब हरबिलास सारड़ा तथा उदयपुर-निवासी बाबू रामनारायण दूगड़ आदि अपने मित्रों का भी कृतज्ञ हूं, जिन्होंने समय समय पर अपने परामर्श से मुझे बाधित किया है। यहां पर मैं अपने आयुष्मान् पुत्र रामेश्वर का नामोल्लेख करना आवश्यक समझता हूं, क्योंकि उसने बड़े उत्साह के साथ इस ग्रन्थ का प्रूफ़-संशोधन किया और मेरी अस्वस्थता के दिनों में विशेष श्रम कर प्रकाशन-कार्य को स्थगित न होने दिया।

हमारे यहां ऐतिहासिक ग्रंथों की बड़ी कमी है, ऐसी दशा में यदि इस ग्रंथ से राजपूताने के इतिहास की नाममात्र को भी क्षति-पूर्ति होगी, तो मैं अपना सारा श्रम सफल समझूंगा। अन्तिम निवेदन यही है कि—

एष चेत् परितोषाय विदुषां कृतिनो वयम् ॥

अजमेर,
वसंत-पंचमी,
वि० सं० १९८३

गौरीशंकर हीराचंद ओझा

द्वितीय संस्करण की भूमिका

ई० स० १९२५ में प्रस्तुत पुस्तक का पहला संस्करण प्रकाशित हुआ था। उसका हिन्दी-संसार में अच्छा आदर हुआ और छः मास के स्वल्प समय में ही उसकी सारी प्रतियां समाप्त हो गईं। भारतीय विद्वत्-समाज ने तो उसका आदर किया ही, साथ ही यूरोपीय देशों में भी उसको सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ और अनेकों लब्धप्रतिष्ठ विदेशीय विद्वानों ने उसपर अपनी बहुमूल्य सम्मतियां भी लिख भेजने का कष्ट उठाया। इससे उत्साहित होकर मैंने राजपूताने के इतिहास का दूसरा, तीसरा और चौथा खण्ड क्रमशः ई० स० १९२७, १९२९ और १९३२ में प्रकाशित किया। इन चार खंडों में उक्त इतिहास की दो जिल्दें पूर्ण हो चुकी हैं।

इस इतिहास को काशी विश्वविद्यालय, राजपूताना एवं सेन्ट्रल इण्डिया के हाई स्कूल और इण्टरमीडियट बोर्ड ऑव एज्यूकेशन तथा देश के अन्य शिक्षाविभागों ने अपने पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया है। पंजाब विश्वविद्यालय में तो यह वहां की सर्वोच्च परीक्षा 'हिन्दी प्रभाकर' की पाठ्यपुस्तकों में नियत हुआ है। फलस्वरूप इसकी मांग उत्तरोत्तर बढ़ने के कारण अब लगभग सभी खण्ड अप्राप्य हो गये हैं।

मेरा विचार था कि राजपूताने का इतिहास सम्पूर्ण होने पर उसका दूसरा संस्करण निकाला जावे, किन्तु इतिहासप्रेमी व्यक्तियों के विशेष आग्रह के कारण मैंने उक्त इतिहास के अप्राप्य खण्डों का दूसरा संस्करण अभी निकाल देना ही निश्चय किया। परिणामस्वरूप प्रथम खण्ड का दूसरा संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण पाठकों के समक्ष उपस्थित है, जिसमें अब तक के शोध से ज्ञात नई बातों का यथास्थान समावेश कर दिया गया है।

इस बार पाठक इसके आकार-प्रकार में कुछ अन्तर पायेंगे। अब तक चार-चार सौ पृष्ठों का एक-एक खंड प्रकाशित किया जाता था, पर उससे पाठकों को असुविधा होने की अनेकों शिकायतें मेरे पास पहुंचीं।

साथ ही मुझ से यह आग्रह किया गया कि भविष्य में इतिहास खण्डशः प्रकाशित न करके प्रत्येक राज्य का इतिहास एक या दो भागों में निकाला जावे और प्रत्येक राज्य के इतिहास के अन्त में अनुक्रमणिका लगा दी जाय तो पाठकों को विशेष सुभीता हो। इसको ध्यान में रखते हुए राजपूताने के इतिहास के पांचवें खण्ड अर्थात् तीसरी जिल्द से प्रत्येक राज्य का सम्पूर्ण इतिहास अलग-अलग निकालना प्रारम्भ कर दिया गया है। तीसरी जिल्द के प्रथम भाग में 'डूंगरपुर राज्य का इतिहास' प्रकाशित हुआ है। उसके आगे के दूसरे एवं तीसरे भागों में क्रमशः बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ राज्यों के इतिहास रहेंगे। भविष्य में भी इसी क्रम का पालन होगा। राजपूताने के इतिहास की पहली जिल्द के प्रथम खण्ड में भूगोल और प्राचीन राजवंशों के इतिहास के अतिरिक्त पहले उदयपुर राज्य के इतिहास का कुछ प्रारंभिक अंश भी शामिल था, जो हटाकर अब केवल भूगोल और प्राचीन राजवंशों के इतिहास की अलग जिल्द कर दी गई है। 'क्षत्रियों के गोत्र' और 'क्षत्रियों के नामान्त में सिंह पद का प्रचार' शीर्षक दो परिशिष्टों को, जो पहले राजपूताने के इतिहास की पहली जिल्द के दूसरे खंड में सम्मिलित थे, प्राचीन राजवंशों के इतिहास से सम्बन्ध रखने एवं इतिहास के लिए उपयोगी होने के कारण इसके साथ शामिल कर दिया है। साथ में अनुक्रमणिका भी लगा दी गई है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि पाठकगण इस परिवर्तन से सन्तुष्ट होंगे।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में मुझे अपने पुत्र प्रोफ़ेसर रामेश्वर ओझा, एम० ए०, से बड़ी सहायता मिली है तथा प्रूफ़ पढ़ने एवं अनुक्रमणिका तैयार करने में मेरे निजी इतिहास विभाग के कार्यकर्ता पं० नाथूलाल व्यास तथा पं० चिरंजीलाल व्यास ने बड़ी तत्परता से कार्य किया है, जिनका यहां नामोल्लेख करना मैं आवश्यक समझता हूं।

अजमेर
कार्तिक कृष्णा १३
वि० सं० १९९३

गौरीशंकर हीराचंद ओझा.

विषय-सूची

पहला अध्याय

भूगोल-सम्बन्धी वर्णन

दूसरा अध्याय

राजपूत

तीसरा अध्याय

राजपूताने से संबंध रखनेवाले प्राचीन राजवंश

विषय				पृष्ठांक
धारावर्ष	...	...	...	१६७
सोमसिंह और उसके वंशज		...	...	२००
आबू के परमारों का वंशवृत्त		...	...	२०३
जालोर के परमार	...	...	...	२०३
किराडू के परमार	...	...	...	२०४
मालवे के परमार	...	...	...	२०५
मुंज ...	...	...	...	२०८
सिंधुराज	...	...	...	२१०
भोज ...	...	...	...	२११
जयसिंह, उदयादित्य और उसके वंशधर			...	२१५
वागड़ के परमार	...	...	...	२३०
मालवा और वागड़ के परमारों का वंशवृत्त...			...	२३४
परमारों की शाखाएं	...	...	...	२३५
सोलंकी वंश	...	...	...	२३८
मूलराज आदि	...	...	...	२३६
जयसिंह (सिद्धराज) ...		...	...	२४३
कुमारपाल और उसके वंशज		...	...	२४६
बघेल सोलंकी	...	...	...	२५१
गुजरात के सोलंकियों का वंशवृत्त		...	...	२५६
गुजरात के बघेलों का वंशवृत्त		...	...	२५७
सोलंकियों की शाखाएं	...	...	...	२५७
नाग वंश ...	...	...	...	२६१
यौधेय ...	...	...	...	२६३
तंवर वंश ...	...	...	...	२६४
दहिया वंश...	...	...	...	२६८
दाहिमा वंश	...	...	...	२७०

चौथा अध्याय

मुसलमानों, मरहटों और अंग्रेज़ों का राजपूताने से संबंध

परिशिष्ट

अनुक्रमणिका

राजपूताने के इतिहास की पहली जिल्द में दिये हुए ग्रन्थों के संक्षिप्त नाम और संकेतों का परिचय

आ॑; कै. कै. ... ... आफ्रैक्ट का 'कैटैलॉगस् कैटैलॉगरम्'.
इं. ऐं. ... ... इंडियन ऐंटिक्वेरी.
ए. इं. ... ... एपिग्राफिया इंडिका.
क; आ. स. इ. }
क; आ. स. रि. } ... कार्निगहाम की 'आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑव् इंडिया'.
गौ. ही. ओ; भा. प्रा. लि. ... गौरीशंकर हीराचंद ओझा की 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' (द्वितीय संस्करण).
गौ. ही. ओ; सो. प्रा. इ. ... गौरीशंकर हीराचंद ओझा का 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास' (प्रथम भाग).
ज. ए. सो. बंगा. }
(बंगा. ए. सो ज.) } ... जर्नल ऑव् दि एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बंगाल.
ज. बंब. ए. सो. }
(बंब. ए. सो. ज.) } ... जर्नल ऑव् दि बॉम्बे ब्रांच ऑव् दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी.
ज. रॉ. ए. सो. ... जर्नल ऑव् दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी.
जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा. ... जॉन् ऐलन् कृत 'कॉइन्स ऑव् दि गुप्त डाइनेस्टीज़'
टॉड; राज. }
टॉ; रा. } ... टॉड-कृत 'राजस्थान' (ऑक्सफ़र्ड-संस्करण).
ना. प्र. पत्रिका }
ना. प्र. प. } ... नागरीप्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण).
फ़्लीट; गु. इ. ... फ़्लीट-संपादित 'गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स'.
बंब. गै. ... बंबई गैज़ेटियर.
बील; बु. रे. वे. व. }
बी; बु. रे. वे. व. } ... सेम्युअल बील-कृत 'बुद्धिस्ट रेकर्ड्ज़ ऑव् दि वेस्टर्न वर्ल्ड'.
स्मि; अ. हि. इं. ... विन्सेंट स्मिथ-रचित 'अर्ली हिस्ट्री ऑव् इंडिया'.
स्मि; कै. कॉ. इ. म्यू ... स्मिथ का 'कैटेलॉग ऑव् दि कॉइन्स इन् दि इंडियन म्यूज़ियम्'.
हि. टॉ. रा. ... हिन्दी टॉड-राजस्थान (खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर का संस्करण).

ग्रन्थकर्ता-द्वारा रचित तथा संपादित ग्रन्थ आदि ।

स्वतन्त्र रचनाएं—		मूल्य
(१) प्राचीन लिपिमाला (प्रथम संस्करण)		अप्राप्य
(२) भारतीय प्राचीन लिपिमाला (द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण)	...	रु० ४०)
(३) सोलंकियों का प्राचीन इतिहास—प्रथम भाग	...	अप्राप्य
(४) सिरोही राज्य का इतिहास	...	अप्राप्य
(५) बापा रावल का सोने का सिक्का	...	॥)
(६) वीरशिरोमणि महाराणा प्रतापसिंह	...	॥=)
(७) * मध्यकालीन भारतीय संस्कृति	...	३)
(८) राजपूताने का इतिहास—पहली जिल्द (दूसरा संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण)	...	७)
(९) राजपूताने का इतिहास—दूसरा खंड	...	अप्राप्य
(१०) राजपूताने का इतिहास—तीसरा खंड	...	रु० ६)
(११) राजपूताने का इतिहास—चौथा खंड	...	रु० ६)
(१२) राजपूताने का इतिहास—जिल्द तीसरी, (पहला भाग, डूंगरपुर राज्य का इतिहास)	...	रु० ४)
(१३) राजपूताने का इतिहास—तीसरी जिल्द (दूसरा भाग, बांसवाड़ा राज्य का इतिहास)	...	रु० ४॥)
(१४) उदयपुर राज्य का इतिहास—पहली जिल्द	...	अप्राप्य
(१५) उदयपुर राज्य का इतिहास—दूसरी जिल्द	...	रु० ११)
(१६) † भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री	...	॥)
(१७) ‡ कर्नल जेम्स टॉड का जीवनचरित्र	...	।)
(१८) ‡ राजस्थान-ऐतिहासिक-दन्तकथा, प्रथम भाग (एक राजस्थान निवासी नाम से प्रकाशित)	...	अप्राप्य

---

* प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकेडेमी-द्वारा प्रकाशित । इसका उर्दू अनुवाद भी उक्त संस्था ने प्रकाशित किया है । गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी (अहमदाबाद) ने भी इस पुस्तक का गुजराती अनुवाद प्रकाशित किया है, जो वहां से १) रु० में मिलता है ।

† काशी नागरीप्रचारिणी सभा-द्वारा प्रकाशित ।

‡ खड्गविलास प्रेस बांकीपुर से प्राप्त ।

सम्पादित

		मूल्य
(१९)	× नागरी अंक और अक्षर	(अप्राप्य)
(२०)	* अशोक की धर्मलिपियां—पहला खंड (प्रधान शिलाभिलेख)	रु० ३)
(२१)	* सुलेमान सौदागर	,, १।)
(२२)	* प्राचीन मुद्रा	,, ३)
(२३)	* नागरीप्रचारिणी पत्रिका (त्रैमासिक) नवीन संस्करण भाग १ से १२ तक प्रत्येक भाग	,, १०)
(२४)	कोशोत्सव स्मारक संग्रह	३)
(२५-२६)	‡ हिन्दी टॉड राजस्थान—पहला और दूसरा खंड (इनमें विस्तृत सम्पादकीय टिप्पणियों-द्वारा टॉडकृत राजस्थान की अनेक ऐतिहासिक त्रुटियां शुद्ध की गई हैं)	
(२७)	जयानक-प्रणीत 'पृथ्वीराज-विजय-महाकाव्य' सटीक	(प्रेस में)
(२८)	जयसोमरचित 'कर्मचंद्रवंशोत्कीर्तनकं काव्यम्'	(प्रेस में)
(२९)	* मुहणोत नैणसी की ख्यात—दूसरा भाग	रु० ४)
(३०)	गद्य-रत्न-माला (हिन्दी)—संकलन	रु० १।)
(३१)	पद्य-रत्न-माला (हिन्दी)—संकलन	रु० ।।।)

× हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग-द्वारा प्रकाशित ।

* काशी नागरीप्रचारिणी सभा-द्वारा प्रकाशित ।

‡ खड्गविलास प्रेस (बांकीपुर) द्वारा प्रकाशित ।

——:o:——

ग्रन्थकर्ता—द्वारा रचित पुस्तकें 'व्यास एण्ड सन्स', अजमेर के यहां मिलती हैं ।

राजपूताने का इतिहास

पहली जिल्द

पहला अध्याय

भूगोलसंबंधी वर्णन

" *There is not a petty State in Rajasthan that has not had its Thermopylae, and scarcely a city that has not produced its Leonidas.*[1]"—JAMES TOD.

राजपूताना नाम अंग्रेज़ों का रक्खा हुआ है। जिस समय उनका संबंध इस देश के साथ हुआ उस समय इस सारे देश के, भरतपुर राज्य को छोड़कर, राजपूत राजाओं के अधीन होने से, गोंडवाना, तिलिंगाना आदि के ढंग पर उन्होंने इसका नाम भी राजपूताना अर्थात् राजपूतों का देश रक्खा। राजपूताने के प्रथम और प्रसिद्ध इतिहास-लेखक कर्नल जेम्स टॉड ने इस देश का नाम राजस्थान या रायथान दिया है, जो राजाओं या उनके राज्यों के स्थान का सूचक है, परन्तु अंग्रेज़ों के पहले

नाम

(१) "राजस्थान में कोई छोटासा राज्य भी ऐसा नहीं है, कि जिसमें थर्मोपिली जैसी रणभूमि न हो और शायद ही कोई ऐसा नगर मिले, जहां लियोनिडास जैसा वीर पुरुष उत्पन्न न हुआ हो"।

—जेम्स टॉड

(थर्मोपिली और लियोनिडास के लिए देखो खड्गविलास प्रेस (बांकीपुर) का छपा हुआ हिंदी 'टॉड—राजस्थान', प्रथम खंड, पृ० २७, टिप्पण १४, १५)

यह सारा देश उस नाम से कभी प्रसिद्ध रहा हो ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता, अतएव वह नाम भी कल्पित ही है, क्योंकि राजस्थान या उसके प्राकृत (लौकिक) रूप रायथान का प्रयोग प्रत्येक राज्य के लिए हो सकता है। सारे राजपूताने के लिए पहले किसी एक नाम का प्रयोग होना नहीं पाया जाता। उसके कितने एक अंशों के तो प्राचीन काल में समय-समय पर भिन्न-भिन्न नाम थे और कुछ विभाग अन्य बाहरी प्रदेशों के अन्तर्गत थे[1]।

(१) पहले सारा बीकानेर राज्य तथा जोधपुर राज्य का उत्तरी विभाग, जिसमें नागोर आदि परगने हैं, जांगल देश कहलाता था। उसकी राजधानी अहिच्छत्रपुर (नागोर) थी। वही देश चौहानों के राज्य-समय सपादलक्ष नाम से प्रसिद्ध हुआ और उसकी सीमा दूर-दूर तक फैली। सपादलक्ष की पहली राजधानी सांभर (शाकंभरी) और दूसरी अजमेर रही। अलवर राज्य का उत्तरी विभाग कुरु देश के, दक्षिणी और पश्चिमी मत्स्य देश के और पूर्वी विभाग शूरसेन देश के अन्तर्गत था। भरतपुर और धौलपुर राज्य तथा करौली राज्य का अधिकांश शूरसेन देश के अन्तर्गत थे। शूरसेन देश की राजधानी मथुरा थी और मथुरा के आसपास के प्रदेशों पर राज्य करनेवाले क्षत्रप राजाओं के समय शूरसेन देश को राजन्य देश भी कहते थे। जयपुर राज्य का उत्तरी विभाग मत्स्य देश के अन्तर्गत और दक्षिणी विभाग चौहानों के राज्य-समय सपादलक्ष में गिना जाता था। मत्स्य देश की राजधानी वैराट नगर (जयपुर राज्य) थी। उदयपुर राज्य का प्राचीन नाम शिवि देश था, जिसकी राजधानी मध्यमिका नगरी थी। उसके खंडहर इस समय नगरी नाम से प्रसिद्ध हैं और चित्तोड़ से ७ मील उत्तर में हैं। वहां पर मेव जाति का अधिकार होने से उक्त देश का नाम मेदपाट या मेवाड़ हुआ, जिसको प्राग्वाट देश भी कहते थे। मेवाड़ का पूर्वी हिस्सा चौहानों के राजत्वकाल में सपादलक्ष देश के अन्तर्गत था। डूंगरपुर और बांसवाड़ा राज्यों का प्राचीन नाम वागड़ (वार्गट) था और अब भी वे उसी नाम से प्रसिद्ध हैं। जोधपुर राज्य के सारे रेतीले प्रदेश का सामान्यतः मरु देश में समावेश होता था, परन्तु इस समय खास मरु (मारवाड़) में उक्त राज्य के शिव, मालाणी और पचभद्रा के परगने ही माने जाते हैं। जैसलमेर राज्य से मिले हुए जोधपुर राज्य के दक्षिणी अथवा पश्चिमी (?) विभाग का नाम वल्ल देश था और मालाणी या उसके पास का एक प्रदेश कन्नौज के प्रतिहारों (पड़िहारों) के समय त्रवणी कहलाता था। गुर्जरों (गूजरों) के अधीन का, जोधपुर राज्य की उत्तरी सीमा से लगाकर दक्षिणी सीमा तक का सारा मारवाड़ गुर्जरत्रा या गुर्जर (गुजरात) के नाम से प्रसिद्ध था। सिरोही राज्य और उससे मिले हुए जोधपुर राज्य के एक विभाग की गणना अर्बुद (आबू) देश में होती थी। जैसलमेर राज्य का नाम माड था और

राजपूताना २३° ३′ से ३०° १२′ उत्तर अक्षांश और ६९° ३०′ से ७८° १७′ पूर्व देशान्तर के बीच फैला हुआ है। इसका क्षेत्रफल लगभग १३०४६२ वर्ग मील है।

स्थान और क्षेत्रफल

राजपूताने के पश्चिम में सिंध, उत्तर-पश्चिम में पंजाब का बहावलपुर राज्य, उत्तर तथा उत्तर-पूर्व में पंजाब, पूर्व में आगरा तथा अवध का संयुक्त प्रदेश और ग्वालियर राज्य, तथा दक्षिण में मध्यभारत के कई राज्य, बंबई हाते के पालनपुर, ईडर आदि राज्य तथा कच्छ के रण का उत्तर-पूर्वी हिस्सा है।

सीमा

इस समय राजपूताने में १८ मुख्य राज्य हैं, जिनमें से उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ गुहिल वंशियों (सीसोदियों) के; जोधपुर, बीकानेर और किशनगढ़ राठोड़ों के; जयपुर और अलवर कछवाहों के; बूंदी, कोटा और सिरोही चौहानों के; जैसलमेर और करौली यादवों के; झालावाड़ झालों का; भरतपुर और धौलपुर जाटों के तथा टोंक मुसलमानों का है। इनके अतिरिक्त अजमेर मेरवाड़े का सरकारी इलाक़ा तथा शाहपुरा (फूलिया) और लावा के ठिकाने हैं। इनमें से जैसलमेर, जोधपुर और बीकानेर पश्चिम तथा उत्तर में; शेखावाटी (जयपुर राज्य का अंश) और अलवर उत्तर-पूर्व में; जयपुर भरतपुर, धौलपुर, करौली, बूंदी, कोटा और झालावाड़ पूर्व और दक्षिण-पूर्व में; प्रतापगढ़, बांसवाड़ा, डूंगरपुर और उदयपुर दक्षिण में; सिरोही दक्षिण-पश्चिम में; और मध्य में अजमेर-मेरवाड़े का सरकारी इलाक़ा, किशनगढ़ राज्य, शाहपुरा (फूलिया) और लावा के ठिकाने तथा टोंक[1] राज्य के हिस्से हैं।

वर्त्तमान राज्य और उनके स्थान

अब भी वहां के लोग उसे माड ही कहते हैं। प्रतापगढ़, कोटा (जिसका कुछ उत्तरी अंश सपादलक्ष के अन्तर्गत था), झालावाड़ राज्य और टोंक के छबड़ा, पिरावा तथा सिरोंज के ज़िले मालव देश के अन्तर्गत थे।

इस विषय के सप्रमाण विस्तृत वर्णन के लिए देखो 'राजपूताने के भिन्न-भिन्न विभागों के प्राचीन नाम' शीर्षक मेरा लेख (ना० प्र० पत्रिका, भाग २, पृष्ठ ३२७-३४७)

(१) राजपूताने में एक टोंक राज्य ही ऐसा है, जिसके भिन्न-भिन्न विभाग एक

पहाड़

अर्वली[1] पर्वत राजपूताने के ईशान कोण से शुरू होकर नैर्ऋत्य कोण तक चला गया है। वहां से दक्षिण की ओर आगे बढ़ता हुआ गुजरात के महीकांठा आदि में होकर सतपुड़ा से जा मिला है। उत्तर में इसकी श्रेणियां बहुत चौड़ी नहीं हैं, परन्तु अजमेर से दक्षिण में जाकर वे बहुत चौड़ी होती गई हैं। सिरोही, उदयपुर राज्य के दक्षिणी और पश्चिमी हिस्से, डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ राज्य का पश्चिमी हिस्सा इन श्रेणियों से बहुत कुछ ढका हुआ है। एक दूसरी श्रेणी उदयपुर राज्य के पूर्वी परगने मांडलगढ़ से प्रारम्भ होकर बूंदी, कोटा और जयपुर राज्य के दक्षिण तथा झालावाड़ में होकर पूर्व और दक्षिण में मध्यभारत में फैलती हुई सतपुड़ा से जा मिली है। अलवर राज्य के पश्चिमी हिस्से तथा उससे मिले हुए जयपुर राज्य में कुछ दूर तक एक और श्रेणी चली गई है। जोधपुर राज्य के दक्षिणी विभाग में एक दूसरी से विलग पहाड़ियां तथा दक्षिण-पूर्वी विभाग में एक श्रेणी आ गई है। अर्वली पहाड़ का सबसे ऊंचा हिस्सा सिरोही राज्य में आबू पर्वत है, जिसकी गुरु-शिखर नामक सब से ऊंची चोटी की ऊंचाई समुद्र की सतह से ५६५० फुट है। हिमालय और नीलगिरि के बीच में इतनी ऊंचाईवाला कोई दूसरा पहाड़ नहीं है।

अर्वली पर्वत-श्रेणी राजपूताने को दो प्राकृतिक विभागों में विभक्त करती है, जिनको पश्चिमी और पूर्वी विभाग कहना चाहिये। पश्चिमी विभाग में बीकानेर, जैसलमेर, जोधपुर और जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रदेश का पश्चिमी अंश है। यह प्रायः रेगिस्तान है, जिसमें राजपूताने की $\frac{3}{5}$ भूमि

दूसरे से मिले हुए नहीं हैं। उक्त राज्य के ६ हिस्सों में से टोंक, अलीगढ़ और नींबाहेड़ा ये तीन परगने राजपूताने में और छबड़ा, पिरावा तथा सिरोंज मध्यभारत में हैं।

(१) राजपूताने में यह पहाड़ आड़ावळा या वळा नाम से प्रसिद्ध है। यहां की भाषा में 'वळा' शब्द पहाड़ का सूचक है। अंग्रेज़ी वर्णमाला की अपूर्णता के कारण उसमें लिखा हुआ नाम शुद्ध और एक ही तरह से पढ़ा नहीं जाता, इसी दोष से आड़ावळा का अर्वली नाम अंग्रेज़ों के समय में प्रचलित हो गया है, परन्तु राजपूताने के लोग अब तक इसको आड़ावळा ही कहते हैं। (टॉड राजस्थान का हिन्दी अनुवाद, प्रथम खंड, पृ० ४६-४७, टिप्पण १०)

का समावेश होता है। पूर्वी विभाग में अन्य राज्य हैं जहां की भूमि उपजाऊ है।

चंबल—राजपूताने की सबसे बड़ी नदी है। यह मध्यभारत के इंदौर राज्य (मऊ की छावनी से ६ मील दक्षिण-पश्चिम) से निकलती है और

नदियां

ग्वालियर, इंदौर तथा सीतामऊ राज्यों में बहकर राजपूताने में प्रवेश करती हुई भैंसरोड़गढ़ (मेवाड़), कोटा, केशवराय-पाटण और धौलपुर के निकट बहती हुई संयुक्त प्रदेश में इटावा से २५ मील दक्षिण-पश्चिम जमुना से जा मिलती है। इस नदी की पूरी लंबाई ६५० मील है।

बनास—यह उदयपुर राज्य के प्रसिद्ध कुंभलगढ़ के क़िले से ३ मील दूर की पर्वत-श्रेणी से निकलकर उदयपुर, जयपुर, बूंदी टोंक और करौली राज्यों में बहती हुई रामेश्वर तीर्थ (ग्वालियर राज्य) के पास चंबल में जा गिरती है। इसकी लंबाई अनुमान से ३०० मील है।

कालीसिंध—यह मध्यभारत से निकलती और ग्वालियर, देवास, नरसिंहगढ़ तथा इन्दौर राज्यों में बहती हुई राजपूताने में प्रवेश करती है। फिर झालावाड़ तथा कोटा राज्यों में बहती हुई पीपरा गांव के पास चंबल में मिल जाती है। राजपूताने में इसका बहाव ४५ मील है।

पारबती—यह भी मध्य भारत से निकलकर टोंक तथा कोटा राज्यों में बहती हुई पालीघाट (कोटा राज्य) के पास चंबल में गिरती है। इसकी कुल लंबाई २२० मील है।

लूणी—यह अजमेर के पास से निकलती है, जहां इसको सागरमती कहते हैं। फिर जोधपुर राज्य में बहती हुई कच्छ के रण में विलीन हो जाती है। इसकी लंबाई २०० मील है।

मही (माही)—यह मध्यभारत से निकलकर राजपूताने में डूंगरपुर और बांसवाड़ा राज्यों की सीमा बनाती हुई गुजरात में प्रवेशकर खंभात की खाड़ी में जा गिरती है। इसकी पूरी लंबाई ३०० से ३५० मील है।

राजपूताने में बड़ी प्राकृतिक झील सांभर है। पूरी भर जाने पर उसकी लंबाई २० मील और चौड़ाई २ से ७ मील तक हो जाती है। उस

झीलें

समय उसका क्षेत्रफल ९० वर्ग मील होता है। यह खारे पानी

की भील जोधपुर तथा जयपुर राज्यों की सीमा पर है। जहां ३५००००० मन से भी अधिक नमक प्रतिवर्ष पैदा होता है। इस समय इस झील को अंग्रेज़ सरकार ने अपने अधिकार में कर लिया है और जोधपुर तथा जयपुर राज्यों को उसके बदले नियत रक़म सालाना दी जाती है।

कृत्रिम अर्थात् बंद बांधकर बनाई हुई झीलों में सब से बड़ी झील जयसमुद्र (ढेबर) उदयपुर राज्य में है। उसके भर जाने पर उसकी अधिक से अधिक लंबाई ९ मील से ऊपर और सबसे ज्यादा चौड़ाई ६ मील से कुछ अधिक हो जाती है। उसके अतिरिक्त उक्त राज्य में राजसमुद्र, उदय-सागर और पिछोला नामक झील भी बड़े विस्तारवाली हैं। ये सब झीलें पहले समय की बनी हुई हैं। अभी जयपुर, अलवर, जोधपुर आदि राज्यों में कई नई झीलें भी बनीं और बनती जाती हैं।

राजपूताने का जलवायु सामान्य रूप से आरोग्यप्रद माना जाता है। रेगिस्तानी प्रदेश अर्थात् जोधपुर, जैसलमेर, बीकानेर और शेखावाटी

जलवायु

आरोग्य के विचार से विशेष उत्तम हैं। पहाड़ी प्रदेशों का जल भारी होने के कारण वहां के निवासियों का स्वास्थ्य रेगिस्तानवालों के जैसा अच्छा नहीं रहता। राजपूताने के अन्य विभागों की अपेक्षा रेतीले प्रदेशों में शीत काल में अधिक सर्दी और उष्ण काल में अधिक गर्मी[1] रहती और लू तथा आँधियां भी बहुत चलती हैं। मेवाड़ आदि के पहाड़ी प्रदेशों में ऊंचाई के कारण गर्मी कम रहती है और लू भी उतनी नहीं चलती। आबू पहाड़ पर उसकी अधिक ऊंचाई के कारण न तो उष्ण काल में पसीना आता और न गरम हवा चलती है, इसीसे वह राजपूताने का शिमला कहलाता है।

राजपूताने के पश्चिमी रेगिस्तानी विभाग में पूर्वी विभाग की अपेक्षा वर्षा कम होती है। जैसलमेर में वर्षा की औसत ६ से ७ इंच, बीकानेर में

---

(१) ता० १० जून सन् १८९७ ई० को जोधपुर में १२१ डिगरी गर्मी हो गई थी। जैसलमेर में जनवरी महीने में रात के वक़्त कभी-कभी इतनी सर्दी पड़ती है कि पानी जम जाता है।

वर्षा १२, जोधपुर में १३; सिरोही, अजमेर, किशनगढ़ और बूंदी में २०-२१ के बीच, अलवर में २२, जयपुर में २३, उदयपुर में २४, टोंक, भरतपुर और धौलपुर में २६, डूंगरपुर में २७, करौली में २६, कोटे में ३१, प्रतापगढ़ में ३४, झालावाड़ में ३७ और बांसवाड़ा में ३८ इंच के क़रीब है। आबू पर अधिक ऊंचाई के कारण वर्षा की औसत ५७ और ५८ इंच के बीच है।

रेगिस्तानवाले प्रदेश में रेता अधिक होने से विशेष कर एक ही फ़सल ख़रीफ़ (सियालू) की होती है और रबी (उनालू) की बहुत कम। जमीन और पैदावारी कोटा, बूंदी, झालावाड़, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ के पूर्वी विभाग आदि में माळ की ज़मीन अधिक होने से बिना सींचे ही रबी की फसल हो जाती है, परन्तु कुए या तालाब से सींची जानेवाली ज़मीन की अपेक्षा उसमें उपज कम होती है। बाक़ी के हिस्सों में, जहां न तो विशेष रेतीली और न माळ की भूमि है, कुओं आदि से पानी देने पर दोनों फ़सलें अच्छी होती हैं। पहाड़ों की ढाल में भी ख़रीफ़ में खेती होती है, जिसको यहां वालरा (प्राकृत वल्लर) कहते हैं। पहाड़ों के बीच की भूमि में, जहां पानी भर जाता है, चावल की खेती भी होती है। राजपूताने की मुख्य पैदायशी चीज़ें गेहूं, जौ, मक्का, जवार, बाजरा, मोठ, मूंग, उड़द, चना, चावल, तिल, सरसों, अलसी, सुआ, जीरा, रुई, तंबाकू और अफ़ीम हैं। अफ़ीम की खेती पहले बहुत होती थी, परन्तु अब तो सरकार अंग्रेज़ी ने रियासतों में इसका बोना प्रायः बन्द करा दिया है। उक्त पैदावारी की चीज़ों में से रुई, अफ़ीम, तिल, सरसों, अलसी और सुआ बाहर जाते हैं, और शक्कर, गुड़, कपड़ा, तंबाकू, सोना, चांदी, लोहा, तांबा, पीतल, मिट्टी का तेल, पेट्रोल आदि बहुत सी ज़रूरी चीज़ें बाहर से आती हैं।

राजपूताने में लोहा, तांबा, जस्ता, चांदी, सीसा, स्फटिक, तामड़ा, अभ्रक और कोयले की खानें हैं। लोहे की खानें उदयपुर, अलवर और खानें जयपुर राज्यों में, चांदी और जस्ते की खान उदयपुर राज्य के जावर स्थान में, सीसे की खान अजमेर के पास और तांबे की जयपुर

राज्य में खेतड़ी के पास सिंघाणे में है। ये सब खानें पहले जारी थीं, परन्तु बाहर से आनेवाली इन धातुओं के सस्तेपन के कारण अब वे सब बंद हैं, केवल उदयपुर राज्य के बीगोद गांव में कुछ लोहा अब तक निकाला जाता है, जिसका कारण यही है कि लोग उस लोहे को विदेशी लोहे से अच्छा समझते हैं। बीकानेर में कोयले की खान (पलाना में) वि० सं० १९५५ (ई० स० १८९८) से जारी है। अभ्रक और तांमड़े की खानें ज़िला अजमेर, उदयपुर, किशनगढ़ आदि राज्यों में जारी हैं, क्योंकि ये दोनों वस्तुएं बिक्री के वास्ते बाहर जाती हैं। संगमरमर कई जगह निकलता है, परन्तु सब से उत्तम मकराणे का है। इमारती काम का पत्थर, पट्टियां आदि अनेक जगह निकलती हैं। नमक की पैदायश का मुख्य स्थान सांभर है, उसके अतिरिक्त जोधपुर राज्य के डीडवाना, पचभद्रा आदि स्थानों में, बीकानेर राज्य के छापर और लूणकरनसर में, तथा जैसलमेर राज्य के काणोद में भी नमक बनता है। नमक के सब स्थान अब सरकार अंग्रेज़ी के हस्तगत हैं।

किले — मेवाड़ में चित्तोड़गढ़, कुंभलगढ़ और मांडलगढ़; मारवाड़ में जोधपुर, जालोर और सिवाना; जयपुर में रणथंभोर, बीकानेर में भटनेर, कोटे में गागरौन और अजमेर में तारागढ़ के प्रसिद्ध क़िले हैं। इनके सिवा छोटे-बड़े गढ़ बहुत से हैं।

रेल्वे — राजपूताने में रेल की सड़कें छोटे और बड़े दोनों नाप की हैं, परन्तु अधिक प्रमाण में छोटे नाप की ही हैं, जिनमें मुख्य 'बंबई बड़ौदा एंड सेंट्रल इंडिया रेल्वे' है, जो अहमदाबाद से आबूरोड, अजमेर, फुलेरा, बांदीकुई होती हुई दिल्ली तक चली गई है। अजमेर से एक शाखा चित्तोड़, रतलाम होती हुई खंडवे तक, दूसरी शाखा बांदीकुई से भरतपुर होती हुई आगरे तक, और तीसरी फुलेरे से रेवाड़ी तक जाती है तथा एक छोटी शाखा फुलेरे से कुचामणरोड़ तक है।

देशी राज्यों की छोटे नाप की रेल्वे में मारवाड़ और बीकानेर राज्यों की रेल्वे मुख्य हैं। मारवाड़ राज्य की रेल्वे की सबसे लंबी लाइन मारवाड़

जंक्शन से पाली, लूणी जंक्शन, समदड़ी, बालोतरा और बाड़मेर होती हुई हैदराबाद (सिंध) में जाकर बड़े नाप की रेल्वे से मिल गई है। समदड़ी से एक शाखा जालोर और भीनमाल होती हुई राणीवाड़े को तथा बालोतरा से एक शाखा पचभद्रा को गई है। दूसरी लंबी लाइन लूणी जंक्शन से निकलकर जोधपुर, पीपाड़, मेड़ता-रोड, डेगाना और मकराणा होती हुई कुचामन-रोड में बी० बी० एण्ड सी० आई० रेल्वे से मिल जाती है। जोधपुर से एक शाखा उत्तर की तरफ़ मंडोवर, ओसियां और लोहावट होकर फलौदी को गई है। पीपाड़ से एक शाखा बीलाड़ा तक गई है। मेड़तारोड से एक शाखा मेड़ता शहर तक और दूसरी शाखा उत्तर में मूंडवा, नागोर होती हुई चीलो जंक्शन पर बीकानेर स्टेट रेल्वे से जा मिलती है। डेगाना से एक शाखा खाटू, डीडवाना, जसवंतगढ़ और लाडनू होकर बीकानेर स्टेट रेल्वे के सुजानगढ़ जंक्शन से जा मिलती है। मकराणे से एक छोटी शाखा परबतसर को भी गई है।

बीकानेर राज्य की मुख्य लाइन चीलो जंक्शन से देशणोक, बीकानेर, सूरतगढ़ और हनुमानगढ़ होती हुई भटिंडा तक चली गई है। हनुमानगढ़ जंक्शन से एक शाखा श्रीगंगानगर, रायसिंहनगर और सरूपसर होती हुई सूरतगढ़ को गई है। सरूपसर से एक टुकड़ा अनूपगढ़ को गया है। बीकानेर से दूसरी लंबी लाइन रतनगढ़, चूरू और सादुलपुर होकर हिसार तक चली गई है। बीकानेर से एक शाखा गजनेर होकर कोलायतजी को और रतनगढ़ से एक शाखा सुजानगढ़ तक जाकर मारवाड़ स्टेट रेल्वे से मिल गई है, एवं रतनगढ़ से दूसरी शाखा सरदारशहर तक गई है। हनुमानगढ़ से एक शाखा नोहर, तहसील भादरा होती हुई सादुलपुर में जाकर हिसार जानेवाली लाइन से मिल जाती है।

जयपुर राज्य की अबतक केवल एक ही लाइन है, जो सवाई माधोपुर से चलकर जयपुर, रींगस और पलसाना होती हुई झूंझणू तक चली गई है।

उदयपुर राज्य में चित्तोड़गढ़ जंक्शन से एक शाखा उदयपुर को गई है, उसी के मावली जंक्शन से एक दूसरी शाखा नाथद्वारा रोड, कांक-

रोली और देवगढ़ होती हुई कामली के घाटे तक चली गई है, जो कुछ समय में मारवाड़ जंक्शन से मिल जायगी।

धौलपुर से बाड़ी तक धौलपुर राज्य की एक और भी छोटे नाप की रेल बनी हुई है।

बड़े नाप की रेलों में 'बंबई बड़ौदा एण्ड सेंट्रल इंडिया रेल्वे' की सड़क बंबई से बड़ौदा, गोधरा, रतलाम, नागदा होती हुई पचपहाड़, कोटा, सवाई माधोपुर, बयाना, भरतपुर और मथुरा होती हुई दिल्ली तक चली गई है। इसकी एक शाखा बयाने से आगरे जाती है। जी० आई० पी० रेल्वे की एक शाखा बारां से कोटे तक और दूसरी ग्वालियर से धौलपुर होती हुई आगरे गई है।

जनसंख्या

राजपूताने में अब तक छः बार मनुष्यगणना हुई, जिससे पाया जाता है कि यहां की जनसंख्या ईसवी सन् १८८१ में १०५६१२६४; ई० स० १८९१ में १२०१४१०७; ई० स० १९०१ में १०३३०२७८; ई० स० १९११ में ११०३१८२७; ई० स० १९२१ में १०३३९६५५ और ई० स० १९३१ में ११७८६००४ थी।

धर्म

महाभारत के युद्ध से पूर्व और बहुत पीछे तक भी भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों के समान राजपूताने में भी वैदिक-धर्म का प्रचार था। वैदिक-धर्म में यज्ञ ही मुख्य था और राजा लोग बहुधा अश्वमेध आदि कई यज्ञ किया करते थे। यज्ञों में जीवहिंसा होती थी और मांस-भक्षण का प्रचार भी बढ़ा हुआ था। जीवदया के सिद्धान्तों का प्रचार करनेवाले भी समय-समय पर हुए, किन्तु उनका लोगों पर विशेष प्रभाव न पड़ा। विक्रम संवत् के पूर्व की पांचवीं शताब्दी में मगध के राजा अजातशत्रु के समय गौतम बुद्ध ने बौद्ध-धर्म के, और उसी समय महावीर स्वामी ने जैन-धर्म के प्रचार को बढ़ाने का बीड़ा उठाया। इन दोनों धर्मों के सिद्धान्तों में जीवदया मुख्य थी और वैदिक वर्णाश्रम को तोड़, साधर्म्य अर्थात् उन धर्मों के समस्त अनुयायी एक श्रेणी के गिने जावें, ऐसी व्यवस्था की गई, जिसमें ऊंच-नीच का भाव न रहा। गौतम ने जीवमात्र की भलाई के विचार से

अपने सिद्धान्तों का प्रचार बड़े उत्साह के साथ किया। उनकी जीवित दशा में ही अनेक ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अन्य वर्ण के लोगों ने उक्त धर्म को स्वीकार किया और दिन-दिन उसकी उन्नति होती गई। मौर्यवंशी राजा अशोक ने कलिंग-युद्ध में लाखों मनुष्यों का संहार किया, जिसके पीछे उसकी बौद्ध धर्म की ओर रुचि बढ़ी। उसने उस धर्म को स्वीकार कर उसे बड़ी उन्नति दी, अपने विस्तृत राज्य में यज्ञों का होना बंद कर दिया और हिंसा को भी बहुत कुछ रोका। राजपूताने में भी उसी के समय से बौद्ध धर्म का प्रचार बढ़ा। बौद्ध धर्म के सामने वैदिक धर्म की सुदृढ़ नींव हिलने लगी, तो ब्राह्मण लोग अपने धर्म को फिर से उन्नत करने का प्रयत्न करने लगे। मौर्यवंश के अंतिम राजा बृहद्रथ को मारकर उसका शुंगवंशी सेनापति पुष्यमित्र मौर्य-साम्राज्य का स्वामी बना। उसने फिर वैदिक धर्म का पक्ष ग्रहण कर दो अश्वमेध यज्ञ किये। उसने बौद्धों पर अत्याचार भी किया हो ऐसा बौद्ध ग्रंथों से पाया जाता है। राजपूताने में मध्यमिका नगरी (चित्तोड़ के प्रसिद्ध क़िले से ७ मील उत्तर) के राजा सर्वतात ने (जो संभवतः शुंगवंशी हो) भी वि० सं० पूर्व की दूसरी शताब्दी के आसपास अश्वमेध यज्ञ किया, जिसके पीछे राजपूताने में प्राचीन शैली से अश्वमेध करने का कोई उदाहरण नहीं मिलता। गुप्तों के राज्य के प्रारम्भ तक बौद्ध धर्म की उन्नति होती रही, फिर समुद्रगुप्त ने बहुत समय से न होनेवाला अश्वमेध यज्ञ किया। गुप्तों के समय से ही बौद्ध धर्म का पतन और वैदिक धर्म का पुनरुत्थान होने लगा। वि० सं० ६९७ (ई० स० ६४०) के आसपास चीनी यात्री हुएन्त्संग राजपूताने में आया उस समय यहां बौद्ध धर्म की अवनति हो रही थी। वह गुर्जर देश की राजधानी भीनमाल (जोधपुर राज्य) के प्रसंग में लिखता है—"यहां की बस्ती घनी है, विधर्मियों (वैदिक धर्म को माननेवालों) की संख्या बहुत और बौद्धों की थोड़ी है। यहां एक ही संघाराम (बौद्ध मठ) है, जिसमें हीनयान संप्रदाय के १०० साधु रहते हैं, जो सर्वास्तिवादी हैं। ब्राह्मणों के देव-मंदिर कई दहाई (बहुत से) हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न संप्रदायों के अनुयायी वास करते

हैं[1]"। वि० सं० ६९२ (ई० स० ६३५) के आसपास वही यात्री मथुरा से १०० मील पश्चिम के एक राज्य में पहुंचा, जिसका नाम उसने 'पो-लि ये-टो-लो' दिया है। संभव है कि यह नाम वैराट (जयपुर राज्य) का सूचक हो। यह तो निश्चित है कि हुएन्त्संग का लिखा हुआ यह स्थान राजपूताने में ही था। उसके संबंध में वह लिखता है—"यहां के लोग बौद्ध धर्म का सम्मान नहीं करते। यहां आठ संघाराम हैं, जो प्रायः ऊजड़ पड़े हुए हैं। उनमें थोड़े से हीनयान संप्रदाय के बौद्ध साधु रहते हैं। यहां (ब्राह्मणों के) १० देव-मंदिर हैं, जिनमें भिन्न भिन्न संप्रदायों के १००० पुजारी आदि रहते हैं[2]"। उसी समय मथुरा में अनुमान २० संघारामों का होना वही यात्री बतलाता है, जिनमें २००० श्रमण रहते थे। साथ ही वहां ब्राह्मणों के केवल ५ देव-मंदिरों का होना उसने लिखा है। वि० सं० १०७५ (ई० स० १०१८) में महमूद ग़ज़नवी ने मथुरा पर चढ़ाई की उस समय वहां ब्राह्मण मत के १००० मंदिर थे। राजपूताने से वि० सं० की नवीं शताब्दी के आसपास बौद्ध धर्म का नाम निशान भी उठ गया और जो लोग बौद्ध हो गये थे वे समय-समय पर फिर वैदिक धर्म ग्रहण करते रहे[3]।

यद्यपि जैन-धर्म की स्थिति के ऐसे प्राचीन लिखित प्रमाण नहीं मिलते, तो भी अजमेर ज़िले के बर्ली नामक गांव से वीर संवत् ८४

---

(१) बील; बु० रे० वे० व०; जि० २, पृ० २७० ।

(२) वही; जि० १, पृ० १७९ ।

(३) वैदिक काल में व्रात्य अर्थात् पतित एवं विधर्मियों को वैदिक धर्म में लेने के समय 'व्रात्यस्तोम' नामक शुद्धि की एक क्रिया होती थी, जिससे उन व्रात्यों की गणना द्विज वर्णों में हो जाती थी। व्रात्यस्तोम का वर्णन सामवेद के 'तांड्यब्राह्मण' (प्रकरण १७) और 'लाट्यायन श्रौतसूत्र' (६।८) में मिलता है (बंब० ए० सो० ज०; जि० १९, पृ० ३५७—६४)। बौद्धधर्म की उन्नति के समय में करोड़ों वैदिक मतावलम्बी (हिंदू) बौद्ध हो गये थे, परन्तु उक्त धर्म की अवनति के समय वे फिर हिन्दू धर्म को ग्रहण करते गये। उस समय व्रात्यस्तोम जैसी कोई शुद्धि की क्रिया यहां होती रही हो ऐसा नहीं पाया जाता।

(वि० सं० पूर्व ३८६=ई० स० पूर्व ४४३) का एक शिलालेख मिला है[1], जिससे अनुमान होता है कि अशोक से पूर्व भी राजपूताने में जैन धर्म का प्रचार था। जैन-लेखकों का यह मत है कि राजा संप्रति ने, जो अशोक का वंशधर था, जैन धर्म को बड़ी उन्नति दी और राजपूताने तथा उसके आसपास के प्रदेशों में भी उसने कई जैन-मंदिर बनवाये। वि० सं० की दूसरी शताब्दी के बने हुए मथुरा के कंकालीटीलेवाले जैन स्तूप से तथा इधर के कुछ अन्य स्थानों से मिले हुए प्राचीन शिलालेखों तथा मूर्तियों से पाया जाता है कि उस समय भी यहां जैन धर्म का अच्छा प्रचार था। वि० सं० की १२ वीं शताब्दी में गुजरात के सोलंकी राजा कुमारपाल ने अपने प्रसिद्ध विद्वान् गुरु हेमचंद्राचार्य के उपदेश से जैन धर्म ग्रहण कर उसकी बहुत कुछ उन्नति की। उस समय राजपूताने के कई राजाओं ने हिंसा रोकने के लेख भी खुदवाये, जो अब तक विद्यमान हैं। कुमारपाल के पूर्व से लगाकर अब तक के सैकड़ों भव्य जैनमंदिर यहां विद्यमान हैं, जिनमें कुछ स्वयं कुमारपाल के बनवाये हुए हैं।

बौद्ध और जैन धर्मों के प्रचार से वैदिक धर्म को बड़ी हानि पहुंची, इतना ही नहीं, किन्तु उसमें परिवर्त्तन करना पड़ा और वह एक नये सांचे में ढलकर पौराणिक धर्म बन गया। उसमें बौद्ध और जैनों से मिलती-जुलती धर्मसंबंधी बहुतसी नई बातें घुस गईं, इतना ही नहीं, किन्तु बुद्ध-देव और आदिनाथ (ऋषभदेव) की गणना विष्णु के अवतारों में हुई और मांस-भक्षण का भी बहुत-कुछ निषेध किया गया।

दिल्ली में मुसलमानों का राज्य स्थिर होने के पीछे उन्होंने यहां के लोगों को बहुधा बलपूर्वक या लालच देकर भी मुसलमान बनाना शुरू किया, तभी से राजपूताने में इस्लाम को माननेवालों की संख्या बढ़ने लगी।

ई० स० १८१८ (वि० सं० १८७५) से राजपूताने का संबंध सरकार अंग्रेज़ी के साथ जुड़ने के पीछे ईसाई पादरी भी इस देश में आकर अपने धर्म का प्रचार करने और लोगों को ईसाई बनाने लगे। इन देशी ईसाइयों

(१) यह शिलालेख राजपूताना म्यूज़िअम् (अजमेर) में सुरक्षित है।

में प्रायः हलकी जाति के हिन्दू और कुछ मुसलमान ही हैं।

ज़रतुश्त मत के माननेवाले थोड़े से पारसी भी नौकरी या व्यापार के निमित्त राजपूताने में रहते हैं।

ई० स० १६३१ (वि० सं० १६८७) की मनुष्यगणना के अनुसार सारे राजपूताने में मुख्य-मुख्य धर्मावलंबियों की संख्या नीचे लिखे अनुसार है—

हिन्दू १०६०६००६, इनमें ब्राह्मण धर्म को माननेवाले ६६६६१४१, जैन ३२०२४५, सिक्ख ४१६४६, आर्य १४०७३, भील-मीने आदि जंगल के निवासी २३०६०१ हैं। मुसलमानों की संख्या ११६६४५८, ईसाई १२७२५ और पारसी, यहूदी आदि धर्मों को माननेवाले ८१५ व्यक्ति[1] हैं।

प्राचीन भारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण ही थे और वर्णव्यवस्था भी प्रायः गुण-कर्मानुसार होती थी। प्रत्येक वर्ण

जातियां

को अपने और अपने से नीचे के वर्णों में भी विवाह करने का अधिकार था; परस्पर के खानपान में कुछ भी प्रतिबंध न था, केवल शुद्धता का विचार रहता था। गुप्तवंशी राजाओं के राज्य-समय से प्राचीन वैदिक धर्म में परिवर्त्तन होकर पौराणिक मत का प्रचार होने के पीछे धार्मिक संप्रदायों के बढ़ जाने से पुराने रीति-रिवाजों का उच्छेद होकर जो आर्य जाति एक ही धर्म और एक ही राष्ट्रीय भाव में बंधी हुई थी उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये। विक्रम संवत् की सातवीं शताब्दी के आसपास मारवाड़ के ब्राह्मण हरिश्चंद्र की दो पत्नियों में से एक ब्राह्मणी और दूसरी क्षत्रिय जाति की थी, ऐसा विक्रम संवत् ८६४[2] तथा

---

(१) ई० स० १६३१ की मनुष्य-गणना की रिपोर्ट में आर्य, सिक्ख, जैन, भील, मीने आदि को हिन्दुओं से भिन्न बतलाया है, परन्तु वास्तव में इन सब का समावेश हिन्दुओं में ही होता है, इनमें केवल मतभेद है।

(२) विप्रः श्रीहरिचन्द्राख्य॰ पत्नी भद्रा च क्षत्(त्रि)या। ...।
तेन श्रीहरिचन्द्रेण परिणीता द्विजात्मजा।
द्वितीया क्षतृ(त्रि)या भद्रा महाकुलगुणान्विता॥

९१८[1] के शिलालेखों से पाया जाता है। मारवाड़ ही से जाकर कन्नौज में अपना राज्य जमानेवाले प्रतिहारवंशी राजाओं में से राजा महेन्द्रपाल के ब्राह्मण गुरु राजशेखर की विदुषी पत्नी अवन्तिसुंदरी चौहानवंश[2] की थी। राजशेखर विक्रम संवत् ९५० के आसपास जीवित था। इस समय के पश्चात् ब्राह्मणों का क्षत्रिय वर्ण में विवाह-संबंध होने का कोई उदाहरण नहीं मिलता। पीछे तो प्रत्येक वर्ण में भेदभाव यहां तक बढ़ता गया कि एक ही वर्ण की सैकड़ों शाखा-प्रशाखा होकर अपने ही वर्ण में शादी विवाह का संबंध बना रहना तो दूर, किंतु खानपान का संसर्ग तक भी न रहा और एक ही जाति के लोग अपनी जातिवालों के साथ भोजन करने में भी हिचकने लगे। इस तरह देशभेद, व्यवसाय-भेद और मतभेद से अनेक जातियां बन गई, तो भी राजपूतों (क्षत्रियों) में यह जातिभेद प्रवेश करने न पाया। उनमें विवाह-संबंध तो अपनी जाति में ही होता है, परन्तु अन्य तीनों वर्णों के हाथ का भोजन करने में उन्हें कुछ भी संकोच नहीं। ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रों में तो इतनी जातियां हो गई हैं कि उनके परस्पर के भेदभाव और रीति-रिवाज का सविस्तर वर्णन किया जाय तो कई जिल्दें भर जायँ।

हिन्दुओं में ब्राह्मण, राजपूत, महाजन, कायस्थ, चारण, भाट, सुनार, दरोगा, दर्ज़ी लुहार, सुथार (बढ़ई), कुम्हार, माली, नाई, धोबी, जाट, गूजर, मेर, कोली, घांची, कुनबी, बलाई, रेगर, भांबी, महतर आदि अनेक

प्रतीहारा द्विजा भूता ब्राह्मण्यां येभवन्सुताः।
राज्ञी भद्रा च यान्सूते ते भूता मधुपायिनः॥

राजपूताना म्यूज़िअम् (अजमेर) में रक्खे हुए मूल लेख से।

(१) विप्पो सिरिहरिअंदो भज्जा आसित्ति खत्तिआ भद्दा।

घटियाले के शिलालेख की छाप से।

(२) चाहुआणकुलमोलिमालिआ राअसेहरकइन्दगेहिणी।
भत्तुणो किइमवन्तिसुन्दरी सा पउञ्जइउमेअमिच्छइ॥ ११॥

राजशेखर रचित 'कर्पूरमंजरी सट्टक;' हार्वर्ड-संस्करण, पृ० ७।

जातियां हैं। जंगली जातियों में मीने, भील, गिरासिये, मोगिये, बावरी, सांसी, सौंदिये आदि हैं। मुसलमानों में मुख्य और खान्दानी शेख, सैय्यद, मुग़ल और पठान हैं। अन्य मुसलमान जातियों में रंगड़, कायमखानी, मेव, मेरात, खानज़ादे, सिलावट, रंगरेज़, घोसी, भिश्ती, क़साई आदि कई एक हैं। शिया फ़िर्क़े के मुसलमानों में एक क़ौम बोहरों की है, जो बहुधा व्यापार करती है।

पेशा

राजपूताना के लोगों में अधिकतर तो खेती करते और कई गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि जानवरों को पालकर उन्हींसे अपना निर्वाह करते हैं। कई सैनिक या अन्य नौकरी, दस्तकारी या मज़दूरी कर पेट भरते और कई व्यापार करते हैं। व्यापार करनेवालों में मुख्य महाजन हैं जो बंबई, कलकत्ता, मद्रास आदि दूर-दूर के अनेक शहरों में जाकर व्यवसाय चलाते हैं। ब्राह्मण विशेष कर पाठपूजन, पुरोहिताई, व्यापार, खेती, भिक्षावृत्ति और नौकरी करते हैं।

पोशाक

भारतवर्ष के उत्तरी विभाग शीतप्राय और दक्षिणी उष्ण होने के कारण अपनी अपनी आवश्यकता के अनुसार वस्त्र भिन्न-भिन्न प्रकार के पहने जाते थे। थोड़े शीतवाले प्रदेशों में रहनेवाले साधारणतया बिना सिये हुए वस्त्र का उपयोग विशेष करते थे और शीतप्रदेशवाले सिये हुओं का भी। दक्षिण में अब तक बहुधा मामूली वस्त्र बिना सिये हुए ही काम में लाये जाते हैं। इन बातों को देखकर कोई-कोई यह मानने लग गये हैं कि भारत के लोग मुसलमानों के इस देश में आने के अनन्तर सिया हुआ वस्त्र पहनना सीखे हैं, परन्तु यह भ्रम ही है। वैदिक काल से ही यहां कपड़ा बुनने की कला उन्नत दशा में थी और यह काम विशेषकर स्त्रियां ही करती थीं। वस्त्र बुननेवालों के नाम 'वयित्री'[1] 'वाय'[2] और 'सिरी'[3] थे। वस्त्र बुनने की ताने से संबंध रखनेवाली लकड़ी

(१) पंचविंश ब्राह्मण (१।८।६)

(२) ऋग्वेद (१०।२६।६)

(३) वही (१०।७१।६)

को 'मयूख[1]' (मेख ?) और बाने का धागा फेंकनेवाले औज़ार अर्थात् ढरकी को 'वेम[2]' (वेमन्) कहते थे। येही नाम राजपूताने में अबतक प्रचलित हैं। वस्त्र बहुधा रंगे जाते थे और रंगनेवाली स्त्रियां 'रजयित्री[3]' कहलाती थीं। सुई का काम भी उस समय में होता था। वेदों की संहिता तथा ब्राह्मण ग्रंथों में सुई का नाम 'सूची[4]' और 'वेशी[5]' मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में सुई तीन प्रकार की अर्थात् लोहे, चांदी और सोने की होना बतलाया है[6]। कैंची को 'भुरिज[7]' कहते थे। 'सुश्रुतसंहिता' में "सीव्येत् सूक्ष्मेण सूत्रेण" (बारीक डोरे से सीना) लिखा मिलता है। रेशमी चुगे को 'तार्प्य[8]' और ऊनी कुरते को 'शामूल[9]' कहते थे। 'द्रापि[10]' भी एक प्रकार का सिया हुआ वस्त्र था, जिसके विषय में सायण लिखता है कि वह युद्ध के समय पहना जाता था। सिर पर बांधने के वस्त्र को उष्णीष[11] (पगड़ी या साफ़ा) कहते थे। स्त्रियों का मामूली वस्त्र अंतरीय अर्थात् साड़ी जो आधी पहनी और आधी ओढ़ी जाती थी और बाहर जाने के समय उसपर उत्तरीय (दुपट्टा) रहता था। स्त्रियां नाचने के समय लहंगे जैसा ज़री के काम का वस्त्र पहनती थीं, जिसका नाम 'पेशस्[12]' था; शायद आजकल का पिशवाज़ इसीका अपभ्रंश हो। ऐसे वस्त्रों को बनाने-

(१) ऋग्वेद (७।६६।३)। तैत्तिरीय संहिता (२।३।१।५)

(२) वाजसनेयी संहिता (१६।८३)

(३) वही (३०।१२)। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।४।७।१)

(४) ऋग्वेद (२।३२।४)। वाजसनेयी संहिता (२३।३३)

(५) ऋग्वेद (७।१८।१४)

(६) तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।६।६)

(७) ऋग्वेद (८।४।१६)

(८) अथर्ववेद (१८।४।३१)। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।३।७।१)

(९) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (१।३८।४)

(१०) ऋग्वेद (१।२५।१३)

(११) ऐतरेय ब्राह्मण (६।१)। शतपथ ब्राह्मण (३।३।२।३)। अथर्ववेद (१५।२।१)

(१२) ऋग्वेद (२।३।६)

वाली स्त्रियां 'पेशस्कारी[1]' कहलाती थीं। स्त्रियों के पहनने के लहंगे[2] जैसे वस्त्र को, जो नाड़े से कसा जाता था, 'नीवि[3]' कहते थे। विवाह के समय जामे जैसा वस्त्र जो वर पहनता था जिसको 'वाधूय[4]' कहते थे। यह प्रथा आज तक भी कुछ रूपांतर के साथ राजपूताने की बहुतसी जातियों में प्रचलित है। वस्त्र के नीचे लगनेवाली झालरी या गोट का नाम 'तूष[5]' था। ये सब वैदिक काल के वस्त्रों आदि के नाम हैं। सूती, ऊनी और रेशमी वस्त्रों के अतिरिक्त वृक्ष और पौधों के रेशों के वस्त्र भी बनते थे, जो 'वल्कल' कहलाते थे। महाभारत, रामायण आदि में इनका वर्णन मिलता है। ये वस्त्र बहुधा तपस्वी तथा उनकी स्त्रियां पहना करती थीं। सीता ने भी वनवास के समय वल्कल ही धारण किये थे। समय के साथ पोशाक में परिवर्तन होता ही रहता है। पाटलीपुत्र के राजा उदयन की मूर्ति मिली है, जिसके बदन पर मिरज़ई है और उसकी कंठी पर बुनगट के काम का हाशिया है[6]। गुप्तों

---

(१) वाजसनेयी संहिता (३० । ६)

(२) मथुरा के कंकालीटीले से मिली हुई वि० सं० की पहली शताब्दी के आसपास के लेखवाली शिला पर एक राणी और उसकी दासियों के चित्र खुदे हुए हैं। राणी लहंगा पहने और ऊपर उत्तरीय धारण किये हुए है (स्मिथ; मथुरा ऐंटिक्विटीज़, प्लेट १४)। उसी पुस्तक में एक जैनमूर्ति के नीचे दो श्रावक और तीन श्राविकाओं की खड़ी मूर्तियां हैं। ये तीनों स्त्रियां लहंगे पहने हुई हैं (प्लेट ८५)। उसी पुस्तक में हाथ में डंडा लिए बैल पर बैठे एक पुरुष का चित्र है, जो कमर तक कुरता या अंगरखा पहने हुए है (प्लेट १०२)। ये उदाहरण राजपूताने के ही समझने चाहियें। अजंटा की गुफा में बच्चे को गोद में लिये हुए एक स्त्री का सुन्दर चित्र बना है, जिसमें वह स्त्री कमर से नीचे तक आधी बांहवाली सुन्दर छींट की अंगियां पहने हुए है (स्मिथ; ऑक्सफर्ड हिस्टरी ऑव् इंडिया; पृ० १५६ पर दिया हुआ चित्र)। इससे स्पष्ट है कि दक्षिण में भी सिये हुए वस्त्र पहने जाते थे।

(३) अथर्ववेद (८ । २ । १६)

(४) ऋग्वेद (१० । ८५ । ३४)

(५) तैत्तिरीय संहिता (१ । ८ । १ । १)

(६) ना० प्र० पत्रिका; भा० १, पृ० ४७ और उक्त मूर्ति के फोटो।

के सिक्कों पर राजा सिये हुए वस्त्र पहने खड़ा दीख पड़ता[1] है।

राजपूताने में पुरुषों की पुरानी मामूली पोशाक धोती, दुपट्टा और पगड़ी थी। शीतकाल में सिये हुए ऊनी वस्त्रों का उपयोग भी होता था। उत्सव और राजदरबारों के समय की पोशाक रेशमी ज़री के काम की भी होती थी। कृषिकार या साधारण स्थिति के लोग घुटनों या उनसे नीचे तक की कच्छ या कछनी भी पहना करते थे, जिसके चिह्न अब तक कहीं कहीं विद्यमान हैं। स्त्रियों की पोशाक विशेषतः साड़ी या नीचे लहंगा और ऊपर साड़ी होती थी। प्राचीन काल में स्त्रियों के स्तन या तो खुले रहते थे या उनपर कपड़े की पट्टी बांधी जाती थी, परन्तु राजपूताने की स्त्रियों में 'कंचुलिका' (कांचली) पहनने का रिवाज भी पुराना है।

राजपूताने के लोगों की वर्त्तमान पोशाक विशेषकर पगड़ी, अंगरखा धोती या पजामा है। बहुतसे लोग पगड़ी के स्थान में साफा या टोपी भी काम में लाते हैं। कोई-कोई अंग्रेज़ी ढंग से कोट, पतलून या ब्रीचीज़ और अंग्रेज़ी टोप भी धारण करते हैं। स्त्रियों की पोशाक प्रायः साड़ी, लहंगा और कांचली है, परन्तु अब शहर की स्त्रियों में कमीज़ और जाकेट पहनने की चाल बढ़ती जाती है।

राजपूताने में प्राचीन काल में शिक्षा की वही पद्धति प्रचलित थी जो भारत के अन्य विभागों में थी, परन्तु इस प्रदेश में कोई ऐसी नदी नहीं है, जो वर्ष भर निरन्तर बहा करती हो। ऐसी दशा में यहां अन्य प्रदेशों के समान नदियों के तट पर बने हुए ऋषियों के आश्रमों में विद्यार्थियों का पठनपाठन होता रहा हो ऐसा नहीं पाया जाता। संभव है कि यहां राजाओं की ओर से स्थापित पाठशालाओं में एवं विद्वानों के घर पर ही विद्याभ्यास होता हो। प्राचीन शैली से बालकों को अक्षरबोध, लिखने पढ़ने तथा सामान्य गणित का बोध हो जाने के पीछे व्याकरण के लिए पाणिनि की अष्टाध्यायी कंठ कराई जाती थी। व्याकरण का ज्ञान हो जाने

शिक्षा

(१) जॉन् ऐलन्; कॉइन्स ऑव् दी गुप्त डाइनेस्टीज़; प्लेट १–४।

पर विद्यार्थी को वेद, वेदांग, दर्शनशास्त्र, न्याय, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, वैद्यक आदि शास्त्र उसकी रुचि के अनुसार पढ़ाये जाते और उनकी शिक्षा संस्कृत में ही दी जाती थी। जैन और बोद्धों के धर्मग्रन्थ प्राकृत अर्थात् प्रचलित (लौकिक) भाषा में लिखे हुए होने के कारण उनके उपाश्रय (उपासरों) तथा मठों में प्राकृत की पढ़ाई भी होती थी, परन्तु विशेष ज्ञान संपादन करनेवाले जैन और बौद्ध विद्यार्थियों के लिए संस्कृत का पठन अनिवार्य था, क्योंकि काव्य, नाटक, तर्क आदि अनेक विषयों के ग्रंथों की रचना संस्कृत में ही हुई थी। इसी तरह नाटक आदि की रुचिवाले संस्कृत के विद्यार्थियों को प्राकृत भी पढ़नी पड़ती थी, क्योंकि नाटकों में विदूषक, स्त्रियों तथा छोटे दर्जे के पात्रों की भाषा प्राकृत होने का नियम था। राजपुत्रों की शिक्षा कभी अन्य विद्यार्थियों के साथ उक्त पाठशालाओं में और कभी नगरों के बाहर उनके लिए स्थापित किये हुए स्वतंत्र विद्यालयों में होती थी। उनको शास्त्रविद्या के साथ-साथ शस्त्रविद्या, अर्थशास्त्र तथा अश्वारोहण, गजारोहण आदि विषयों का ज्ञान संपादन कराया जाता था। ब्राह्मणों के समान क्षत्रिय, वैश्य, कायस्थ आदि जातियां में भी संस्कृत के अच्छे-अच्छे विद्वान् यहां हुए हैं, जिनके थोड़े से उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं। 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' नामक ज्योतिष के ग्रन्थ का रचयिता प्रसिद्ध ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त, जिसने शक संवत् ५५० (वि० सं० ६८५=ई० स० ६२८) में अपने ग्रंथ की रचना की, भीनमाल (जोधपुर राज्य) का निवासी था। 'शिशुपालवध महाकाव्य' का कर्त्ता सुप्रसिद्ध माघ कवि भी उसी नगर का रहनेवाला था। 'हरकेलिनाटक' का प्रणेता विग्रहराज (वीसलदेव चौथा) अजमेर का चौहान राजा था, जिसकी स्थापित की हुई संस्कृत पाठशाला के भवन को तोड़कर मुसलमानों ने उसके स्थान पर अजमेर में 'ढाई दिन का झोंपड़ा' बनवाया। 'पार्थपराक्रमव्यायोग' का कर्त्ता प्रल्हादनदेव आबू के परमार राजा धारावर्ष का छोटा भाई था। जालोर (जोधपुर राज्य) के चौहान राजा उदयसिंह के वैश्य मंत्री यशोवीर को 'कीर्त्तिकौमुदी' के रचयिता गुर्जरेश्वरपुरोहित सोमेश्वरदेव ने कालिदास से भी बढ़कर (?)

बतलाया है[1]। मेवाड़ के महाराणा कुंभा ने कई नाटक और संगीत के ग्रंथ रचे एवं चंडीशतक, गीतगोविन्द और संगीतरत्नाकर पर टीकाएं की थीं। 'धर्मामृतशास्त्र' आदि अनेक जैन-ग्रंथों का रचयिता बघेरवाल वैश्य आशाधर मंडलकर[2] (मांडलगढ़, उदयपुर राज्य) का निवासी था। अनेक शिलालेखों के रचयिता कायस्थ भी पाये जाते हैं[3]। राजपूताने से मिले हुए प्राचीन शिलालेखों से ज्ञात होता है कि यहां कई अच्छे अच्छे विद्वान् हो गये। यहां विद्या पढ़ाने के लिए किसी प्रकार की फ़ीस नहीं ली जाती थी, इतना ही नहीं, वरन् निर्धन विद्यार्थियों को भोजन तथा वस्त्र तक भी गुरु या पाठशाला की तरफ़ से दिये जाते थे।

मुसलमानों के राजपूताने पर हमले होने तथा उनके साथ यहां के राजाओं की लड़ाइयां छिड़ने के समय से यहां पठनपाठन की दशा दिन दिन बिगड़ती ही गई और क्षत्रिय राजाओं तथा अन्य जातियों में प्राचीन शिक्षा-प्रणाली का ह्रास होता गया। मुसलमानों के राज्यसमय में उनकी राजभाषा फ़ारसी होने के कारण यहां फ़ारसी की पढ़ाई भी कहीं कहीं प्रारम्भ हुई,

---

(१) न माघः श्लाघ्यते कैश्चिन्नाभिनन्दोभिनन्द्यते।
निष्कलः कालिदासोपि यशोवीरस्य संनिधौ ॥

कीर्त्तिकौमुदी, सर्ग १, श्लो० २१।

(२) श्रीमानस्ति सपादलक्षविषयः शाकंभरीभूषण-
स्तत्र श्रीरतिधाममंडलकरं नामास्ति दुर्गं महत्।
श्रीरत्न्यामुदपादि तत्र विमलव्याघ्रेरवालान्वया-
च्छ्रीसल्लक्षणतो जिनेंद्रसमयश्रद्धालुराशाधरः ॥

धर्मामृतशास्त्र के अंत की प्रशस्ति, श्लो० १।

(३) इमां प्रशस्तिं नरसिंघनामा चक्रे बुधो गौडमुखाब्जभानुः।
कायस्थवंशे स्वगुणौघसंपदानंदिताशेषविदग्धलोकः ॥

बांसवाड़ा राज्य के अर्थूणा नामक प्राचीन नगर से मिली हुई परमार राजा चामुंडराज के समय की प्रशस्ति, श्लो० ३७।

क्योंकि यहां के राजाओं का संबंध शाही दरबार के साथ होने से उनको पत्रव्यवहार फ़ारसी में करना पड़ता था। विशेषकर कायस्थों ने प्रथम संस्कृत पढ़ना छोड़ फ़ारसी पढ़ना आरंभ किया।

राजपूताने के साथ अंग्रेज़ों का सम्बन्ध होने के पूर्व यहां पर विद्या का प्रचार बहुत ही कम रह गया था। गांवों में पढ़ाई का प्रबन्ध कुछ भी न था। नगरों में मामूली पढ़ाई जैन यतियों के उपासरों में ही हुआ करती, जहां बाराक्षरी, पट्टीपहाड़े तथा कुछ हिसाब पढ़ाने के पीछे 'सिद्धो' ('कातंत्र-व्याकरण' का प्रारम्भिक संधिप्रकरण) और 'चाणक्य नीति' के श्लोक अशुद्ध रटाये जाते, जिनका आशय विद्यार्थी कुछ भी नहीं समझते थे। ब्राह्मण लोग 'सारस्वत व्याकरण,' कुछ ज्योतिष तथा भागवत आदि पुराण पढ़कर जन्मपत्र, एवं वर्षफ़ल बनाते और कथावाचक का काम चलाते थे। उस समय छापे का प्रचार न होने से धर्मशास्त्र, पुराण, वेद आदि की पुस्तकों का मिलना कठिन था। महाजन लोग अक्षरों का बोध होने और अपने मामूली हिसाब तथा व्याजबट्टा सीख जाने को ही काफ़ी समझते थे। संयुक्ताक्षर तथा स्वरों की मात्राओं का तो उनको कुछ भी ज्ञान नहीं होता था। वे या तो व्यंजनों को स्वरों की मात्राओं के बिना ही लिखते या बिना आवश्यकता के कोई भी मात्रा चाहे जहां लगा देते, जिससे उनकी लिखावट 'केवळा' (केवल अक्षर-संकेतवाली) कही जाती थी। इसीसे उसमें "काकाजी अजमेर गया" के स्थान में 'काकाजी आज मर गया' पढ़े जाने की लोकोक्ति अब तक प्रसिद्ध है। उनकी १०० वर्ष पूर्व की बहियां इसी तरह लिखी मिलती हैं, जिनको पढ़कर ठीक ठीक अर्थ निकालना कठिन काम है। राजकीय कर्मचारी कुछ शुद्ध हिन्दी लिखना अवश्य जानते थे, जैसा कि उनके लिखे हुए तीन सौ वर्ष पूर्व तक के पत्रों से विदित होता है, परन्तु उन लोगों को भी ह्रस्व, दीर्घ एवं संयुक्ताक्षरों का ज्ञान नहीं होता था। राजपूतों में बड़े घरानों के लोग लिखना पढ़ना कुछ सीखते थे। उनमें तथा कितने एक ब्राह्मणों आदि में व्रजभाषा की कविता पढ़ने और बनाने का शौक़ अवश्य रहा, यही कारण है कि पहले की बनी

हुई कविता की अनेक पुस्तकें यहां मिलती हैं। उर्दू और फ़ारसी की पढ़ाई कहीं-कहीं मौलवियों के मक्तबों में हुआ करती थी, और विशेषकर मुसलमान एवं कुछ राजकीय सेवा करनेवाले अहलकार लोग ही उसमें श्रम करते थे। अब तो अंग्रेज़ी राज्य के प्रभाव से नये ढंग की एवं अंग्रेज़ी की पढ़ाई सारे देश में होने लगी है। अजमेर, जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर, अलवर, पिलानी, ब्यावर और कोटे में कॉलेज बन गये हैं। हाई स्कूल तथा मिडूल और प्रारम्भिक शिक्षा की पाठशालाएं तो कई चल रही हैं और कई राज्यों तथा अजमेर के इलाक़े में लड़कियों की प्रारम्भिक एवं उच्च शिक्षा भी होती है। उच्च कोटि की विद्या के लिए जयपुर राज्य सर्वोपरि है। वहां के स्वर्गवासी विद्याप्रेमी महाराजा रामसिंह ने अपने राज्य में अंग्रेज़ी, हिन्दी, उर्दू एवं संस्कृत की पढ़ाई का उत्तम प्रबन्ध किया। संस्कृत की आचार्य परीक्षा तक का अध्ययन केवल जयपुर में ही होता है। उक्त महाराजा ने विद्या के साथ कलाकौशल का प्रचार भी अपनी प्रजा में करने के लिए जयपुर में एक अच्छा आर्टस्कूल (कलाभवन) खोला। प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा के लिए राजपूताने में झालावाड़ राज्य सर्वोपरि है। आमदनी के हिसाब से देखा जाय तो उस राज्य के समान विद्याविभाग में ख़र्च करनेवाला दूसरा कोई राज्य नहीं है, जिसका एकमात्र कारण वहां के भूतपूर्व नरेश महाराजराणा सर भवानीसिंह का विद्यानुराग ही था।

भाषा

राजपूताने की प्राचीन राजकीय भाषा संस्कृत थी। विद्वान् लोग अपने ग्रन्थों की रचना उसी भाषा में करते और यहां के प्राचीन दानपत्र तथा शिलालेख भी बहुधा उसी भाषा में मिलते हैं, तो भी जन-साधारण की भाषा प्राकृत थी। मौर्यवंशी राजा अशोक का मगध के संघ के नाम का शिला पर खुदा हुआ आदेश जयपुर राज्य के वैराट (? भाब्रू) नगर से मिला है, जो उस समय की प्राकृत में ही है। प्राकृत के रूपान्तर से 'अपभ्रंश' भाषा बनी, जिससे हिन्दी, गुजराती तथा राजपूताने की भाषाओं की उत्पत्ति हुई। उस भाषा का प्राचीन साहित्य वि० सं० की नवीं शताब्दी के आसपास से मिलता है। चारण, भाट आदि लोग सर्व-

साधारण के लिए अपनी कविता पीछे से उसी भाषा के कुछ परिवार्त्तित रूप में करते रहे, जिसको यहां 'डिंगल' कहते हैं। वि० सं० की १५ वीं शताब्दी के आसपास से यहां व्रजभाषा में भी कविता बनने लग गई थी। वर्त्तमान समय में यहां बोली जानेवाली भाषाओं को आधुनिक लेखक 'राजस्थानी' कहते हैं, जो वास्तव में पुरानी हिन्दी का ही रूपान्तर है।

यदि राजपूताने के भिन्न-भिन्न भागों की भाषाओं के सूक्ष्म विभाग किये जायँ तो उनकी संख्या अनुमान सौ तक पहुंच जाय, परन्तु हम उनको निम्नलिखित मुख्य सात विभागों में ही विभक्त करते हैं—

(१) मारवाड़ी—अजमेर मेरवाड़ा, जोधपुर, जैसलमेर, बीकानेर और शेखावाटी में बोली जाती है।

(२) मेवाड़ी—मेवाड़ के मुख्य हिस्से की भाषा।

(३) वागड़ी—डूंगरपुर, बांसवाड़ा, मेवाड़ के दक्षिणी और दक्षिण पश्चिमी पहाड़ी प्रदेश (भोमट) तथा सिरोही राज्य के पश्चिमी पहाड़ी विभाग में बोली जाती है। इस भाषा का गुजराती से विशेष सम्बन्ध है।

(४) ढूंढाड़ी—जयपुर राज्य के अधिकतर भाग की भाषा है।

(५) हाड़ोती (खैराड़ी)—बूंदी, कोटा, शाहपुरा और मेवाड़ के पूर्वी हिस्से में बोली जाती है।

(६) मेवाती—अलवर के मेवात प्रदेश की भाषा।

(७) व्रजभाषा—अलवर राज्य के पूर्वी हिस्से, भरतपुर, धौलपुर और करौली में बोली जाती है।

राजपूताने की प्राचीन लिपि ब्राह्मी थी। राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में सुरक्षित बर्ली गांव का शिलालेख जो वीर संवत् ८४ का है,

लिपि

जयपुर राज्य से मिले हुए अशोक के दो लेख, तथा वि० सं० पूर्व की दूसरी शताब्दी के मध्यमिका नगरी (मेवाड़) से प्राप्त दो शिलालेख इसी लिपि के हैं। इसी लिपि में परिवर्त्तन होते-होते गुप्तों के समय में जो लिपि प्रचलित हुई उसका नाम गुप्त लिपि हुआ। उसमें परिवर्तन होकर कुटिल लिपि बनी, जिसको केवल चित्रकारी की पूरी निपुणता रखनेवाले

ही सुन्दरता के साथ लिख सकते थे, क्योंकि उसमें विशेषकर स्वरों की मात्राओं में चित्रकला की आवश्यकता रहती थी। उस लिपि के उदाहरणों में बंसखेड़ा से मिले हुए राजा हर्ष के हर्ष-संवत् २२ (वि० सं० ६८५-६=ई० स० ६२८-९) के दानपत्र के अंत में खुदे हुए राजा के हस्ताक्षर[1], वि० सं० ७१८ (ई० स० ६६१) का मेवाड़ के राजा अपराजित का शिलालेख[2], वि० सं० ७४६ (ई० स० ६८९) का झालरापाटन से मिला हुआ राजा दुर्गगण का शिलालेख तथा कोटे से कुछ ही मील दूर कणस्वा (कण्वाश्रम) के मंदिर में लगा हुआ वि० सं० ७९५ (ई० स० ७३८) का राजा शिवगण का शिलालेख[3] उल्लेखनीय हैं। वि० सं० की १० वीं शताब्दी के आसपास से उक्त लिपि से नागरी लिपि बनने लगी, जो अब प्रचलित है। मुग़लों के समय में यहां के कितने एक राज्यों के दफ़्तरों में फ़ारसी लिपि का भी प्रवेश हुआ, किन्तु प्रजा की जानकारी के सम्बन्ध की लिखा-पढ़ी बहुधा नागरी लिपि में ही होती रही। केवल जयपुर के राजाओं के समय के कुछ शिलालेख तथा पट्टे आदि ऐसे देखने में आये, जो फ़ारसी एवं नागरी दोनों लिपियों में लिखे हुए हैं। पीछे से कहीं कहीं फ़ारसी लिपि में भी लिखा-पढ़ी होती थी, परन्तु प्रजा में तो नागरी का ही प्रचार रहा। इस समय जयपुर, धौलपुर, टोंक और अजमेर-मेरवाड़े की अदालती लिपि फ़ारसी है, बाक़ी सर्वत्र नागरी का ही प्रचार है। अलवर और झालावाड़ की अदालतों में शुद्ध नागरी और अन्य राज्यों में घसीट नागरी लिखी जाती है।

प्राचीन काल में भारतवर्ष अपने शिल्प के अनुपम सौंदर्य, भव्यता एवं स्थायित्व के लिए विख्यात था। अशोक के विशाल स्तम्भ, उनपर की

शिल्प

चमकीली पॉलिश, उनके सिंहादि आकृतियोंवाले सिरे, एवं सांची और भरहुत आदि के स्तूप, अनुपम सौंदर्य को प्रकट करनेवाले गांधार और मथुरा शैली की तक्षण-कला के भिन्न-भिन्न भग्नावशेष, पहाड़ों

(१) ए० इं०; जि० ४, पृ० २१० के पास का प्लेट।

(२) ए० इं०; जि० ४, पृ० ३० के पास का प्लेट।

(३) इं० एं; जि० १९, पृ० ५८ के पास का प्लेट।

को काट-छांटकर बनाई हुई कार्लो आदि की अनेक भव्य गुफ़ाएं, अनेक प्राचीन मंदिर तथा मूर्त्तियां आदि शिल्पकला के अनुपम नमूने—जो विधर्मियों के द्वारा नष्ट होने से बच गये या टूटी-फूटी दशा में मिले हैं—उनके निर्माताओं के असाधारण शिल्पज्ञान, कार्यकुशलता और खुदाई के काम में सुन्दरता एवं बारीकी लाने के अद्भुत हस्तकौशल का परिचय देकर शिल्प के धुरन्धर ज्ञाताओं को मुग्ध किये बिना नहीं रहते।

जब से राजपूताने पर मुसलमानों के हमले होने लगे तभी से वे समय-समय पर धर्म-द्वेष के कारण यहां के सुन्दर मंदिरों आदि को नष्ट करते रहे, इसलिए १२०० वर्ष से अधिक पूर्व के शिल्प के उत्तम नमूने यहां बिरले ही रह गये हैं, तिसपर भी इस देश में कई भव्य प्रासाद आदि अब तक ऐसे विद्यमान हैं, जिनकी बनावट और सुन्दरता को देखने से पाया जाता है कि प्राचीन काल में यहां भी भारत के समान तक्षणकला बहुत उन्नत दशा में थी। महमूद ग़ज़नवी जैसा कट्टर विधर्मी मथुरा के मंदिरों की प्रशंसा किये बिना न रह सका। उसने अपने ग़ज़नी के हाकिम को लिखा कि "यहां (मथुरा में) असंख्य मंदिरों के अतिरिक्त १००० प्रासाद मुसलमानों के ईमान के सदृश दृढ़ हैं। उनमें से कई तो संगमरमर के बने हुए हैं, जिनके बनाने में करोड़ों दीनार खर्च हुए होंगे। ऐसी इमारतें यदि २०० वर्ष लगे तो भी नहीं बन सकतीं[1]"। बाड़ोली (मेवाड़) के प्रसिद्ध प्राचीन मंदिर की तक्षणकला की प्रशंसा करते हुए कर्नल टॉड ने लिखा है कि "उसकी विचित्र और भव्य बनावट का यथावत् वर्णन करना लेखनी की शक्ति के बाहर है। यहां मानों हुनर का ख़ज़ाना खाली कर दिया गया है। उसके स्तम्भ, छतें और शिखर का एक एक पत्थर छोटे से मंदिर का दृश्य उपस्थित करता है। प्रत्येक स्तम्भ पर खुदाई का काम इतना सुन्दर और ऐसी बारीकी के साथ किया गया है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। यह मंदिर सैकड़ों वर्षों का पुराना होने पर भी अब तक अच्छी दशा में खड़ा है[2]"

(१) ब्रिग; फ़िरिश्ता; जिल्द १, पृ० ५८-५६।

(२) टॉड; राज०; जि० ३, पृ० १७५२-५३ (ऑक्सफर्ड संस्करण)। इस

मंत्री विमलशाह और वस्तुपाल के बनवाये हुए आबू पर के मंदिर भी अनुपम हैं। कर्नल टॉड ने, अपनी 'ट्रैवल्स इन् वेस्टर्न इंडिया' नाम की पुस्तक में विमलशाह के मंदिर के विषय में लिखा है कि "हिन्दुस्तान भर में यह मंदिर सर्वोत्तम है और ताजमहल के सिवा कोई दूसरी इमारत इसकी समता नहीं कर सकती"। वस्तुपाल के मंदिर के सम्बन्ध में भारतीय शिल्प के प्रसिद्ध ज्ञाता मि० फर्गुसन ने 'पिक्चर्स इलस्ट्रेशंस् ऑव् एन्श्यंट आर्किटेक्चर इन् हिन्दुस्तान' नामक पुस्तक में लिखा है कि "इस मंदिर में, जो संगमरमर का बना हुआ है, अत्यन्त परिश्रम सहन करनेवाली हिन्दुओं की टांकी से फ़ीते जैसी बारीकी के साथ ऐसी मनोहर आकृतियां बनाई गई हैं कि उनकी नक़ल कागज़ पर बनाने में कितने ही समय तथा परिश्रम से भी मैं सफल नहीं हो सका"। ऐसे ही महाराणा कुंभा का चित्तोड़ का कीर्तिस्तम्भ एवं वहां का जैनस्तम्भ, आबू के नीचे की चंद्रावती और झालरापाटन के मंदिरों के भग्नावशेष, तथा नागदा (मेवाड़) के मंदिर भी अनुपम शिल्पज्ञान, कौशल, प्राकृतिक सौंदर्य तथा दृश्यों का पूर्ण परिचय और अपने बनानेवालों के काम में विचित्रता एवं कोमलता लाने की असाधारण योग्यता प्रकट करते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु ये भव्य प्रासाद परम तपस्वी की भांति खड़े रहकर सूर्य का तीक्ष्ण ताप, पवन का प्रचंड वेग और पावस की मूसलधार वृष्टियों को सहते हुए आज भी अपना मस्तक ऊंचा किये, अटल रूप में ध्यानावस्थित खड़े, दर्शकों की बुद्धि को चकित कर देते हैं। इन थोड़े से उपरोक्त स्थानों के अतिरिक्त राजपूताने में कलाकौशल के उज्ज्वल उदाहरणरूप और भी अनेक स्थान विद्यमान हैं, जिनका वर्णन हम आगे यथाप्रसंग करेंगे। इसी तरह मुसलमानों के इस देश पर अधिकार करने के पूर्व की सुन्दर खंडित मूर्तियां जो मथुरा, कामां (भरतपुर राज्य), राजोरगढ़ (अलवर राज्य), हर्षनाथ के मंदिर (जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रदेश में), हाथमो (जोधपुर राज्य), बघेरा

मंदिर की कारीगरी के लिए देखो उसी पुस्तक में पृ० १७५२ से १७६० तक दिये हुए चित्र।

(अजमेर ज़िला); नागदा, धौड़, बाड़ोली, मैनाल (चारों उदयपुर राज्य में), बड़ौदा (डूंगरपुर राज्य की पुरानी राजधानी), तलवाड़ा (बांसवाड़ा राज्य) आदि कई स्थानों से मिली हैं। उनको देखने से यही प्रतीत होता है कि मानों कारीगर ने उनमें जान ही डाल दी हो। मुसलमानों का इस देश पर अधिकार होने के पीछे तक्षणकला में क्रमशः भद्दापन आता गया।

पाषाण की शिल्पकला के समान ही सोने, चांदी, पीतल आदि की ठोस या पोली प्राचीन मूर्त्तियां एवं लोहे के त्रिशूल, स्तंभ आदि, जो पुराने मिल आते हैं, शिल्पकला के उत्तम नमूने हैं। दिल्ली का लोहस्तंभ—जिसको 'कीली' या 'लोह की लाट' कहते हैं और जो वि० सं० की पांचवीं शताब्दी में राजपूताने पर भी राज करनेवाले राजा चन्द्र (गुप्तवंशी चंद्रगुप्त द्वितीय) ने विष्णुपद नाम की पहाड़ी पर विष्णु के ध्वज (गरुड़ध्वज) के निमित्त बनवाकर खड़ा कराया था—इतना सुन्दर, विशाल और अनुपम है कि इस बीसवीं शताब्दी में भी दुनियां भर का बड़े-से-बड़ा कोई भी लोहे का कारखाना ऐसा स्तम्भ घड़कर या ढालकर नहीं बना सकता।

शहाबुद्दीन ग़ोरी ने जब अजमेर पर अधिकार किया उस समय तक तो राजपूताने में शिल्प के काम प्राचीन हिन्दू शैली के ही बनते थे, परन्तु पीछे से मुसलमानों के बनवाये हुए मसजिद आदि स्थानों में मुसलमानी (सारसेनिक्) शैली का मिश्रण होने लगा। यह मिश्रण सब से पहले अजमेर की 'ढाई दिन का झोंपड़ा' नाम की मसजिद में, जो वि० सं० १२५६ से १२७० (ई० स० ११९९ से १२१३) तक चौदह वर्षों में बनी थी, पाया जाता है। इसकी पश्चिम की ओर की दीवार में बने हुए संगमरमर के इमामगाह के महराब में, तथा पूर्व की तरफ़ की सात महराबवाली दीवार में—जहां मध्य के बड़े महराब के किनारों पर कुरान की आयतें, कूफ़ी लिपि के लेख और अन्यत्र सुन्दर खुदाई का काम है—मुसलमानी शैली पाई जाती है। इन अंशों को छोड़कर बाक़ी का बहुधा सारा काम हिन्दू शैली का है, जिसमें हिन्दुओं के मंदिरों के स्तंभ, गुंबज आदि ज्यों-के-त्यों लगाये गये हैं। अजमेर के 'मेगज़ीन' नामक स्थान के मध्य में पीले पत्थर का सुन्दर

भवन, जो बादशाह अकबर ने बनवाया था, बहुधा हिन्दू शैली का ही है। उसकी दीवारों की ताकों आदि में मुसलमानी शैली का मिश्रण है। वि० सं० की १७ वीं शताब्दी के आसपास के बने हुए यहां के राजाओं के महलों तथा नगरों में रहनेवाले श्रीमंतों की हवेलियों आदि में भी कहीं-कहीं मुसलमानी शैली का कुछ मिश्रण पाया जाता है।

राजपूताने का सम्बन्ध अंग्रेज़ों के साथ होने के पीछे यहां पर जो ईसाइयों के गिरजे बने वे अंग्रेज़ी शैली के हैं। अब तो राजाओं के महलों तथा श्रीमंतों के बंगलों आदि में अंग्रेज़ी शैली भी प्रवेश होने लगी है।

शिल्प के समान चित्रकला भी प्राचीन भारत में बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। मिस्टर ई० बी० हैवेल ने, जो भारतीय तक्षण और चित्रकला का असाधारण

चित्रकला

ज्ञाता था, अपनी पुस्तक 'इंडियन स्कल्पचर्स् ऐंड पेंटिंग्ज़' (भारतीय तक्षण और चित्रकला) में लिखा है कि "वन और वृक्षावली में बहते हुए पवन, प्रकृति देवी के बनाए हुए हिमालय के जलप्रपात, उदयास्त होते हुए सूर्यबिंब की शक्ति और सौंदर्य, मध्याह्न के चमकते हुए प्रकाश और उष्णता, पूर्वी देशों की निर्मल चांदनी रातों, पावस ऋतु में छाये हुए घटाटोप बादलों, आंधियों की प्रचंडता, बिजली की चमक, बादल की गरज तथा प्राणप्रद वर्षाकाल की आनन्दवर्धक बूंदों के दृश्यों को अपने चित्रों में अंकित करना हिंदू लोग भलीभांति जानते थे[1]"।

उसने यह भी लिखा है कि "यूरोपियन चित्र ऐसे प्रतीत होते हैं मानों पंख कटे हुए हों क्योंकि वे लोग केवल पार्थिव सौंदर्य का चित्रण जानते थे। भारतीय चित्रकला अंतरिक्ष में ऊंचे उठे हुए दृश्यों को नीचे पृथ्वी पर लाने के भाव और सौंदर्य को प्रकट करती है"। बड़े ही भावपूर्ण एवं अनुपम चित्र अनुमान १४०० वर्ष पूर्व के बने हुए अजंटा (हैदराबाद राज्य) की गुफ़ाओं में अब तक विद्यमान हैं, और इतना समय बीतने पर भी उनके रंग की चमक-दमक आज भी वैसी ही चटकीली होने से बीसवीं

(१) पृ० ८८।

शताब्दी के यूरोपियन कला-कौशलधारी चित्रकार भी भारत के इन प्राचीन चित्रों के सम्मुख सिर झुकाते हैं।

यद्यपि राजपूताने में अब तक इस कला को प्रकाशित करनेवाले इतने प्राचीन चित्र नहीं मिले तो भी अनुमान ४०० वर्ष पूर्व तक के बने हुए चित्रों के सौंदर्य को देखते हुए अनुमान हो सकता है कि यह कला भी पहले यहां अच्छी दशा में थी।

राजपूताने में प्राचीन चित्रों के संग्रह राजाओं, सरदारों तथा कई गृहस्थों के यहां विद्यमान हैं। उनमें विशेषकर अनेक देवी-देवताओं, राजाओं, सरदारों, वीर एवं धनाढ्य पुरुषों, धर्माचार्यों, राजाओं के दरबारों, सवारियों, तुलादानों, राजमहलों, जलाशयों, उपवनों, रणखेत की लड़ाइयों, शिकार के दृश्यों, पर्वतों की छटाओं; महाभारत, रामायण, भागवत आदि के कथाप्रसंगों; साहित्य शास्त्र के नायक-नायिकाओं, रसों, ऋतुओं, राग-रागिनियों आदि के चित्रण मुख्य हैं। ये चित्र बहुधा मोटे काग़ज़ों पर बने हुए मिलते हैं। राजाओं के यहां ऐसे संग्रह छूटे पत्रों की हस्तलिखित पुस्तकों के समान ऊपर नीचे लकड़ी की पाटियां रखकर कपड़े के वेष्टनों में बंधे रहते हैं, जिनको 'जोतदान' कहते हैं। ऐसे छूटे चित्रों के अतिरिक्त कामशास्त्र या नायक-नायिका-भेद के लिखित ग्रंथों, 'गीतगोविन्द' आदि पुस्तकों, शृंगार रस आदि की वार्ताओं एवं जैनधर्म की विविध कथाओं की हस्तलिखित पुस्तकों में भी प्रसंग-प्रसंग पर उनके भावसूचक सुन्दर चित्र मिलते हैं। ऐसे ही राजाओं के महलों, गृहस्थों की हवेलियों आदि में दीवारों पर तथा कई मंदिरों की छतों और गुंबजों में भी समय-समय के भिन्न-भिन्न चित्रांकण देखने में आते हैं। देशभेद के अनुसार चित्रशैली में भिन्नता पाई जाती है। राजपूताने में जो प्राचीन चित्र मिलते हैं, वे बहुधा यहां की अर्थात् राजपूत-शैली के हैं। आजकल कोई-कोई विद्वान् यह भी मानने लग गये हैं कि राजपूत-शैली के चित्रों पर मुग़ल-शैली का प्रभाव पड़ा है और राग-रागिनियों के चित्रों की कल्पना मुसलमानों की है, परन्तु वास्तव में बात इससे उल्टी ही है। अनेक देवी-देवताओं; विष्णु, शिव और

देवी के भिन्न-भिन्न अवतारों या रूपों, वेद, अग्नि, ऋतु, आयुध[1], ग्रह[2], युग, प्रभात, मध्याह्न आदि समयविभागों तथा नक्षत्रों[3] तक की मूर्त्तियों की कल्पना हिन्दुओं ने की, जिसके अनुसार उनकी मूर्तियां या चित्र भी बने। मुसलमानों में उनके धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार मूर्तियां एवं चित्रों का बनाना निषिद्ध था। बादशाह अकबर के धर्मसम्बन्धी विचार पलटे और उसने इस्लाम के स्थान पर 'दीन इलाही' नाम का नया धर्म और हिजरी सन् के बदले 'इलाही सन्' चलाने का प्रयत्न किया, तभी से मुग़ल शैली के चित्र यहां बनने लगे हैं। हिन्दुओं में तो चित्रकला बहुत प्राचीन काल से बड़ी उन्नति को पहुंच चुकी थी और ऋतु, रस आदि के चित्र या मूर्तियां बनती थीं। ऐसी दशा में चित्रण की राजपूत-शैली पर मुग़ल-शैली का प्रभाव पड़ना एवं राग-रागिनियों आदि के चित्रों की कल्पना मुसलमानों की मानना असंगत ही है।

राजपूताने के बने हुए पुराने चित्रों के रंग की चमक भी अब तक वैसी ही है कि मानों वे आज ही खींचे गये हों। अब तो यहां की चित्रकला पर यूरोप की चित्रकला का प्रभाव पड़ने लग गया है। जयपुर के कला-भवन (आर्ट स्कूल) में अन्य विषयों के अतिरिक्त चित्रकला भी सिखाई जाती है, परन्तु विशेषकर यूरोप की शैली से। राजपूताने में चित्रकला की शिक्षा का केवल यही एक स्थान है। जयपुर नगर और नाथद्वारा (मेवाड़)

---

(१) ऋतु और आयुधों की मूर्तियां चित्तोड़ पर के महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के बनवाये हुए कीर्त्तिस्तंभ में खुदी हुई हैं और उनके ऊपर या नीचे उनके नाम भी खुदे हैं।

(२) नवग्रहों की मूर्तियां भारत के भिन्न-भिन्न विभागों में मिलती हैं और राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में भी रक्खी हुई हैं।

(३) अजमेर के 'ढाई दिन के झोंपड़े' में खुदाई करते समय एक शिलाखंड मिला था जिसपर मूर्तियों की दो पंक्तियां बनी हैं। ऊपर की पंक्ति में कलि, प्रभात, प्रात, मध्याह्न, अपराह्ण और संध्या की मूर्तियां हैं और प्रत्येक मूर्ति के ऊपर उसका नाम खुदा हुआ है। नीचे की पंक्ति में मघा, पूर्वफाल्गुन, उत्तरफाल्गुन, हस्त, चित्र, स्वाति और विशाख की मूर्तियां हैं, जिनके नीचे उनके नाम खुदे हुए हैं।

अब भी अनेक भावपूर्ण चित्र बनकर देश-देशान्तरों में जाते हैं।

यहां के चित्रों में काम आनेवाले सब प्रकार के रंग पहले यहीं बनते थे, परन्तु उनके बनाने में श्रम अधिक होने और यूरोप आदि के बने बनाये रंग, चाहे वे उतने स्थायी न हों, आसानी के साथ मिल जाने के कारण यहां के चित्रकार अब उन्हीं विदेशी रंगों का उपयोग करने लगे हैं, जिससे यहां की रंगसाज़ी का व्यवसाय भी अन्य व्यवसायों की भांति नष्ट हो गया।

संगीत

यों तो प्राचीन भारत सब प्रकार की विद्या एवं कलाकौशल में बड़ी उन्नति कर ही चुका था, परन्तु संगीत-कला[1] में तो इस देश ने सबसे अधिक कौशल प्राप्त किया था। सामवेद का एक भाग गान है जो 'सामगान' नाम से प्रसिद्ध है और वैदिक यज्ञादि में प्रसंग-प्रसंग पर सामगान होता था। अर्वाचीन वैज्ञानिकों ने जिन-जिन बातों से संगीत का महत्त्व माना है वे सभी वैदिक काल में यहां विद्यमान थीं। उस समय कई प्रकार की वीणा, झांझ, बंसी, मृदंग आदि वाद्य काम में आते थे। वैदिक साहित्य में भिन्न-भिन्न प्रकार की वीणाओं के नाम 'वीणा[2]', 'कांडवीणा[3]' और 'कर्करी[4]' आदि मिलते हैं। झांझ को 'आघाटि[5]' या 'आघाट[6]' कहते थे और इस वाद्य का प्रयोग नृत्य के समय होता था[7]। बंसी के नाम 'तूणव[8]'

(१) गीत (गाना), वाद्य (बजाना) और नृत्य (नाचना) इन तीनों को संगीत कहते हैं। "गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते" (संगीतरत्नाकर; अध्याय १, श्लोक २१)

(२) तैत्तिरीय संहिता (६।१।४।१)। काठक संहिता (३४।५)

(३) काठक संहिता (३४।५)

(४) ऋग्वेद (२।४३।३)। अथर्ववेद (४।३७।४)

(५) ऋग्वेद (१०।१४६।२)

(६) अथर्ववेद (४।३७।४)

(७) ए. ए. मैकडॉनल और ए. बी. कीथ; 'वेदिक इंडेक्स'; जि० १, पृ०५३।

(८) तैत्तिरीय संहिता (६।१।४।१)। मैत्रायणी संहिता (३।६।८)

और 'नाड़ी[1]' मिलते हैं। मृदंग आदि चमड़े से मढ़े हुए वाद्य 'आडंबर[2]', 'दुंदुभि[3]', 'भूमिदुंदुभि[4]' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध थे। आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि भारतीय मृदंग आदि बाजे तक वैज्ञानिक सिद्धान्त पर बनाये जाते थे। पाश्चात्य विद्वानों का मानना है कि तार के वाद्यों का प्रचार उसी जाति में होना संभव है, जिसने संगीत में पूर्ण उन्नति कर ली हो। तंतुवाद्यों में वीणा सर्वोत्तम मानी गई है और वैदिक काल में यहां उसका बहुत प्रचार होना यही बतलाता है कि संगीतकला ने उस समय भी बड़ी उन्नति कर ली थी जब कि संसार की बड़ी-बड़ी जातियां सभ्यता के निकट भी नहीं पहुंचने पाई थीं।

ऐनी विल्सन लिखती है—"हिन्दुओं को इस बात का अभिमान करना चाहिये कि उनकी संगीतलेखन-शैली (Notation) संसार भर में सबसे पुरानी है[5]"। सर विलियम हंटर का कथन है कि "संगीत-लिपि (Notation) भारत से ही ईरान में, फिर अरब में और वहां से ई० स० की ११ वीं शताब्दी में यूरोप में पहुंची[6]"। यही मत प्रोफ़ेसर वेबर का भी है[7]।

प्राचीन काल में भारत के राजा आदि संगीत के ज्ञान को बड़े गौरव का विषय समझते थे और अपनी संतान को इस कला की शिक्षा दिलाते थे। पांडव वनवास के पीछे एक वर्ष के अज्ञात-वास के लिए राजा विराट के यहां भेष बदलकर भिन्न-भिन्न नामों से सेवक बनकर रहे थे। उस समय अर्जुन ने अपने को बृहन्नला नामक नपुंसक प्रकट कर राजा विराट की

---

(१) ऋग्वेद (१० । १३५ । ७)। काठक संहिता (३३ । ४; ३४ । ५)।

(२) वाजसनेयी संहिता (३० । १९)।

(३) ऋग्वेद (१ । २८ । ५; ६ । ४७ । २९)। अथर्ववेद (५ । २० । १)।

(४) तैत्तिरीय संहिता (७ । ५ । ९ । ३)। काठक संहिता (३४ । ५)।

(५) 'शॉर्ट अकाउंट ऑव् दी हिन्दू सिस्टम ऑव् म्यूज़िक्'; पृ० ५।

(६) 'इंडियन गेज़ेटियर; इंडिया', पृ० २२३।

(७) 'इंडियन लिटरेचर'; पृ० २७२।

पुत्री उत्तरा को संगीत सिखलाने की सेवा स्वीकार की थी[१]। पांडुवंशी जनमेजय का प्रपौत्र उदयन, जिसको वत्सराज भी कहते थे, यौगन्धरायण आदि मंत्रियों पर राज्यभार डालकर वीणा बजाने और मृगयादि विनोद में सदा लगा रहता था। वह अपनी वीणा के मधुर स्वर से हाथियों को वश में कर वनों में से उनको पकड़ लाया करता था। एक समय अपने शत्रु उज्जैन के राजा चंडमहासेन (प्रद्योत) के हाथ में वह क़ैद हुआ और संगीत-कला में बड़ा निपुण होने के कारण चंडमहासेन ने उसे अपनी पुत्री वासवदत्ता को संगीत सिखाने के लिए नियत किया। उसी प्रसंग में उनके बीच प्रेम-बंधन जुड़ गया, जिससे वह वासवदत्ता को लेकर अपनी राजधानी को भाग गया[२]। इन दो ही उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल के राजा संगीत-प्रिय होते थे और संगीत-वेत्ताओं को सादर अपने यहां रखकर इस कला की उन्नति करते थे। राजा कनिष्क के दरबार का प्रसिद्ध कवि अश्वघोष धुरन्धर गायनाचार्य भी था। गुप्तवंशी राजा समुद्रगुप्त अपने प्रयाग के स्तम्भ-लेख में अपने को संगीत में तुंबुरु और नारद से बढ़कर बतलाता है[३] और उसके एक प्रकार के सिक्कों पर वाद्य बजाते हुए उसी की मूर्त्ति बनी है[४]। विक्रम संवत् की ५ वीं शताब्दी में ईरान के बादशाह बहराम

---

(१) नृत्यामि गायामि च वादयाम्यहं प्रानर्तने कौशलनैपुणं मम ।
तदुत्तरायाः परिधत्स्व नर्तने भवामि देव्या नरदेव नर्तकी ॥१८॥
संमन्त्र्य राजा विविधैः स्वमन्त्रिभिः परीक्ष्य चैनं प्रमदाभिराशु वै ।
अपुंस्त्वमप्यस्य निशम्य च स्थिरं ततः कुमारीपुरमुत्ससर्ज तं ॥२२॥
स शिक्षयामास च गीतवादनं सुतां विराटस्य धनंजयः प्रभुः ।
सखीश्च तस्याः परिचारिकास्तथा प्रियश्च तस्याः स बभूव पाण्डवः ॥२३॥
महाभारत; विराटपर्व, अध्याय ११ (बंबई का निर्णयसागर-संस्करण)।

(२) गौ. ही. ओ; सो. प्रा. इ; पृ० ४७—४८ के टिप्पण ।

(३) निशितविदग्धमतिगांधर्व्वललितैर्व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुंबुरुनारदादेर्व्वि-द्वज्जनेः (फ्ली; गु. इं; पृ० ८)।

(४) जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा; पृ० १८—२०; और प्लेट ४, संख्या १—८ ।

गोर का हिन्दुस्तान पर आक्रमण करना और यहां से १२००० गवैयों को नौकरी के लिए ईरान भेजना वहां के इतिहास में लिखा मिलता है[1]।

संगीत के विषय के अनेक संस्कृत ग्रंथ उपलब्ध हैं। वि० सं० की १३ वीं शताब्दी के अंत के आसपास देवगिरि के यादव राजा सिंघण के दरबार के प्रसिद्ध संगीताचार्य शार्ङ्गदेव ने 'संगीतरत्नाकर' नामक ग्रंथ लिखा, जिसमें उसने अपने पूर्व के इस विषय के कई आचार्यों का नामोल्लेख किया है, जिनमें भोज (परमार), परमर्दि, सोमेश (सोमेश्वर चौहान) आदि कई राजाओं के भी नाम हैं[2]।

कप्तान डे ने लिखा है[3]—"मुसलमानों के यहां आने से कुछ पूर्व का समय भारतीय संगीत के लिए सर्वोत्तम रहा"। जब से भक्तिमार्ग की उपासना प्रचलित हुई तब से संगीत में और भी उन्नति होती रही।

मुसलमानों के समय से उत्तर भारत के संगीत में परिवर्त्तन होने लगा, गायन शैली पलटती गई, गान में शृंगार रस प्रधान होने लगा और भिन्न-भिन्न स्थानों के रागों का मिश्रण होता गया। ऐसे रागों में राजपूताने के मारव (मारवा) और माड भी मिल गये। ये राग क्रमशः मारवाड़ और जैसलमेर[4] के थे। वीणा में परिवर्तन होकर उसके सूक्ष्म रूप सितार[5] का प्रादुर्भाव हुआ और अन्य वादित्र भी बने। अरब और ईरान के 'दिलरुबा', 'क़ानून' आदि बाजों का भी प्रचार हुआ, परन्तु वीणा का महत्त्व सदा सर्वोपरि ही बना रहा।

---

(१) माल्कम; 'हिस्ट्री ऑव् पर्शिया'; पृ० २२०।

(२) रुद्रटो नान्यभूपालो भोजभूवल्लभस्तथा।
परमर्दी च सोमेशो जगदेक(व)महीपतिः ॥ १८ ॥
'संगीतरत्नाकर'; अध्याय १।

(३) 'म्यूज़िक् ऑव् सदर्न इंडिया'; पृ० ३।

(४) प्राचीन शिलालेखों में जैसलमेर राज्य का नाम 'माड' मिलता है और वहां के लोग उसे अभी तक 'माड' ही कहते हैं। वहां की स्त्रियां बहुधा माड ही गाती हैं।

(५) वीणा पर से सितार किसने बनाई यह अनिश्चित है तो भी अमीर खुसरो इसका निर्माता माना जाता है।

वि० सं० १४९० (ई० स० १४३३) में मेवाड़ के राज्यसिंहासन पर महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) आरूढ हुआ। वह संगीत-शास्त्र का धुरन्धर विद्वान् था। उसके रचे हुए दो ग्रंथ 'संगीतमीमांसा' और 'संगीतराज' उपलब्ध हुए हैं[1]। उसके पौत्र महाराणा संग्रामसिंह (सांगा) के पुत्र भोजराज की स्त्री मीराबाई, जो भगवद्भक्ति के लिए भारत भर में प्रसिद्ध है, कविता करने एवं गानविद्या में निपुण थी। उसका बनाया हुआ 'मीराबाई का मलार' नामक राग अब तक प्रचलित है। वि० सं० की १६ वीं शताब्दी के मध्य में ग्वालियर का तोमरवंशी (तंवर) राजा मानसिंह संगीत के लिए प्रसिद्ध हुआ। वह संकीर्ण (मिश्र) रागों को अधिक महत्त्व देता था। उसने अपनी गूजरी राणी (मृगनयनी) के नाम पर 'गूजरी', 'बहुल गूजरी', 'माल गूजरी' और 'मंगल गूजरी' राग बनाये[2]। उसका रचा हुआ 'मानकुतूहल' नामक संगीत का ग्रंथ रामपुर के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। उसी के समय में ध्रुपद गाने की शैली प्रचलित हुई, जो शीघ्र ही चारों ओर फैल गई।

अकबर के दरबार में हिन्दू और मुसलमान गवैयों के जमघट में ध्रुपद ही अधिक गाया जाता था। इस समय तक ईरानी राग भी मुसलमानों में प्रचलित हो गये थे और यहां के कई पुराने रागों के मुसलमानी नाम भी रख लिये गये थे, जैसे कि देवगांधार का नाम 'रहाई', कानड़े का 'निशाबर', सारंग का 'माहुर' आदि[3]। मुग़लों के समय में भी राजपूताने के राजाओं में संगीत का प्रेम पूर्ववत् बना रहा, जिससे उनके आश्रित विद्वान् गायकों के बनाये हुए संगीत विषयक कई ग्रंथ मिलते हैं। अकबर के समय

---

(१) ऑ; कै. कै; भाग १, पृ० १११।

(२) क; आ. स. इं; जि. २, पृ० ६३-६४।

(३) रहार्यो देवगांधारे कानरे च निशाबरः।
सारंगे माहुरो नाम जंगूलोऽथ बंगालके॥

पुंडरीक विट्ठलकृत 'रागमंजरी'; पृ० १६।

'रागमंजरी' में इस प्रकार १४ रागों के मुसलमानी नाम दिये हैं।

कछवाहा राजा भगवन्तदास के पुत्र माधवसिंह[1] ने खानदेश से पुंडरीक विट्ठल को अपने यहां बुलाया, जिसने वहां रहते समय 'रागमंजरी' नामक ग्रंथ लिखा। फिर पुंडरीक का प्रवेश अकबर के दरबार में हुआ, जहां उसने 'नृत्यनिर्णय[2]' लिखा। अकबर के दरबार के प्रसिद्ध गायक तानसेन के वंशज अब तक जयपुर राज्य के आश्रित चले आते हैं। बीकानेर के महाराजा अनूपसिंह (अनोपसिंह) के दरबार के पंडित भावभट्ट ने 'अनूपांकुश', 'अनूपसंगीतविलास' और 'अनूपरत्नाकर' नामक संगीत-ग्रंथों की रचना की। भावभट्ट का पिता जनार्दनभट्ट शाहजहां के दरबार का गवैया था। अकबर के पीछे जहांगीर और शाहजहां के दरबार में भी संगीतवेत्ताओं का आदर होता रहा, परन्तु औरंगज़ेब ने संगीत की चर्चा ही रोक दी, जिससे शाही दरबार के बहुतसे गवैयों ने राजपूताने के राजाओं के यहां आश्रय पाया। संभव है कि भावभट्ट औरंगज़ेब के समय में ही बीकानेर में आया हो। जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह के दरबार में बहुत से गवैये नौकर थे और उक्त महाराजा की आज्ञा से 'संगीतसार' नामक बृहत् ग्रंथ लिखा गया था। मुग़ल-साम्राज्य के अस्त होने पर राजपूताने के राजाओं ने संगीत को अपनाया और अनेक गायकों को आश्रय दिया, इसीसे यहां अब तक थोड़ा बहुत संगीत रह गया है।

संगीत का एक अंश नृत्य (नाचना) है, जो भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से वैज्ञानिक पद्धति पर किया जाता है। वि० सं० पूर्व की छठी शताब्दी में पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' की रचना की उस समय भी शिलाली

---

(१) श्रीमन्माधवसिंहराजरुचिदा शृंगारहारा सभा ॥ ६ ॥
अगणितगणकचिकित्सकवेदान्तन्यायशब्दशास्त्रज्ञाः ।
दृश्यन्ते बहवः संगीती नात्र दृश्यतेऽप्येकः ॥ ७ ॥
इत्युक्ते माधवे सिंहे विठ्ठलेन द्विजन्मना ।
नत्वा गणेश्वरं देवं रच्यते रागमंजरी ॥ ८ ॥

'रागमंजरी', पृ० १ ।

(२) 'रागमंजरी' की मराठी भूमिका, पृ० २ ।

और कृशाश्व के 'नटसूत्र' (नाट्यशास्त्र) विद्यमान थे[1]। भरत का 'नाट्य-शास्त्र' सुप्रसिद्ध है; उसके अतिरिक्त दंतिल, कोहिल आदि के नाट्य के नियमों के कई ग्रंथ मिलते हैं। नाट्यशास्त्र के नियमों के आधार पर भास, कालिदास आदि अनेक कवियों के सैकड़ों नाटकों की रचना हुई। शिवजी का उद्धत नृत्य 'तांडव' और पार्वती आदि का मधुर एवं सुकुमार नृत्य 'लास्य' कहलाया। स्त्रियों के नृत्य का लास्य में समावेश होता है।

मुसलमानों के समय से राजपूताने में परदे का प्रचार बढ़ने से नृत्यकला की अवनति होती गई, तो भी राजा से रंक तक की स्त्रियों में नाचने की प्रथा अब तक चली आती है और विवाह आदि प्रसंगों पर वे नाचती हैं, परन्तु नृत्य की प्राचीन शैली तो लुप्तसी हो गई है। अब तो प्राचीन शैली का नृत्य दक्षिण के तंजोर आदि स्थानों में तथा कहीं-कहीं अन्यत्र पाया जाता है।

सिक्के

राजपूताने में भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों के समान प्राचीन काल में सोने चांदी और तांबे के सिक्के चलते थे। सोने के सिक्कों के प्राचीन नाम सुवर्ण, निष्क, शतमान, पल, दीनार, गद्याणक आदि; चांदी के सिक्कों के पुराण, धरण, पाद, पदिक (फदेया या फदीया), द्रम्म, रूपक, टंक आदि और तांबे के सिक्कों के नाम कार्षापण, पण, काकिणी आदि मिलते हैं। राजपूताने से मिलनेवाले सबसे पुराने सिक्के चांदी और तांबे के हैं, जो दूसरे प्रदेशों के सिक्कों के समान प्रारम्भ में चौकोर और पीछे से गोल भी बनने लगे थे। इनपर कोई लेख नहीं मिलता, किन्तु मनुष्य, पशु, पक्षी, सूर्य, चंद्र, धनुष, बाण, स्तूप, बोधिद्रुम, स्वस्तिक, वज्र, पर्वत (मेरु), नदी (गंगा) आदि धार्मिक संकेत एवं अनेक अन्य चिह्न अंकित मिलते हैं, जिनमें से कई एक का वास्तविक आशय ज्ञात नहीं होता।

राजपूताने में सब से पुराने लेखवाले तांबे के सिक्के 'मध्यमिका' नामक प्राचीन नगर से मिले हैं, जिनपर "मझमिकाय शिबिजनपदस[2]" (शिबि देश के मध्यमिका नगर का सिक्का) लेख है। ये सिक्के वि० सं०

(१) गौ० ही० ओ०; भा० प्रा० लि०; पृ० ७, टिप्पण ६।

(२) क; आ. स. इं; जि० ६, पृ० २०३।

के पूर्व की तीसरी शताब्दी के आसपास के हों ऐसा उनपर के लेख की लिपि से अनुमान होता है। उसी समय के आसपास के मालव जाति के तांबे के सिक्के जयपुर राज्य के 'नगर' (कर्कोटक नगर) से मिले हैं, जिनपर 'मालवानां जय' या 'जय मालवानां'[1] (मालवों की जय) लेख है। ये सिक्के मालव गण या मालव जाति की विजय के स्मारक हैं। इनके पीछे ग्रीक, शक, कुशन और क्षत्रपों के सिक्के मिलते हैं। ग्रीक और क्षत्रपों के सिक्के तो यहां अब तक चांदी और तांबे के ही मिले हैं, परन्तु कुशन और शकों के सोने के भी कभी-कभी मिल जाते हैं। फिर वि० सं० की चौथी शताब्दी से गुप्तवंशी राजाओं के सोने और चांदी के सिक्के विशेष रूप से मिलते हैं। हूणवंशियों के भी चांदी के सिक्के मिले हैं, परन्तु संख्या में बहुत कम। हूणों ने अपने सिक्के ईरान के ससानियनवंशी राजाओं के सिक्कों की शैली पर बनाया, जिनकी नक़ल वि० सं० की १२ वीं शताब्दी के आस पास तक यहां होती रही। फिर उनमें क्रमशः परिवर्त्तन होता गया और कारीगरी में भद्दापन आता गया, जिससे उनपर राजा का चेहरा यहां तक बिगड़ा कि उसका पहिचानना भी कठिन हो गया और लोग उसे गधे का खुर मानकर उन सिक्कों को 'गधैया' कहने लग गये। वि० सं० की सातवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी के मध्य तक राजपूताने के प्राचीन हिन्दू राजवंशों में से केवल तीन ही वंशों के सोने, चांदी या तांबे के सिक्के प्राप्त हुए हैं। ये सिक्के मेवाड़ के गुहिल, कन्नौज के प्रतिहार और अजमेर के चौहानों के हैं। इनमें सोने का सिक्का अबतक केवल गुहिलवंशी बप्प (रावल बापा) का[2] ही मिला है। चौहानों के सिक्कों में बहुधा एक ओर नंदी और दूसरी ओर हाथ में भाला लिये सवार होता था और कभी एक ओर लक्ष्मी और दूसरी ओर केवल लेख रहता था। शहाबुद्दीन ग़ोरी के सोने के सिक्कों पर एक ओर लक्ष्मी की मूर्ति और दूसरी ओर नागरी लिपि में 'श्रीमहमदविनिसाम' (मुहम्मद बिन साम)

(१) क; आ. स. इं; जि० ६, पृ० १८१।

(२) ना. प्र. प.; भाग १, पृ० २४१—८४।

लेख है। इसी तरह उसके तांबे के सिक्कों पर एक ओर नंदी तथा त्रिशूल के साथ 'स्रीमहमद साम' और दूसरी तरफ़ चौहानों के सिक्कों के समान सवार और 'स्रीहमीर' (अमीर) लेख है। इन दोनों प्रकार के सिक्कों में चौहानों के सिक्कों का अनुकरण स्पष्ट पाया जाता है। इसी अश्वनन्दी शैली के तांबे के सिक्के सुलतान अल्तमश (शमशुद्दीन), रुकनुद्दीन फीरोज़शाह, मुइज़ुद्दीन कैकोबाद और अलाउद्दीन ख़िलजी तक के मिलते हैं। अलाउद्दीन ने ही अपने पिछले समय में सिक्कों पर से राजपूत शैली के चिह्नों को बिल्कुल उठा दिया[1]।

वि० सं० की तेरहवीं शताब्दी के पीछे राजपूताने के जिन-जिन विभागों पर मुसलमानों का अधिकार होता गया वहां उन्हीं का सिक्का चलने लगा। फिर तो केवल मेवाड़ के गुहिल (सीसोदिया) वंशियों में से महाराणा कुंभकर्ण, सांगा, रत्नसिंह, विक्रमादित्य और उदयसिंह के सिक्के मिलते हैं। महाराणा अमरसिंह ने बादशाह जहांगीर के साथ सुलह कर शाही अधीनता स्वीकार की तब से मेवाड़ के सिक्के भी अस्त हो गये और सारे देश में सिक्का और खुत्बा (नमाज़ के वक्त बादशाह को दुआ देना) बादशाही प्रचलित हो गया। फिर जब मुहम्मदशाह और उसके पिछले बादशाहों के समय मुग़लों का राज्य निर्बल हो गया तब राजपूताने के राजाओं ने अपने-अपने राज्यों में बादशाहों की आज्ञा से टकसालें तो खोलीं; किन्तु सिक्कों पर लेख बादशाहों के नाम के ही बने रहे। ई० स० १८१८ (वि० सं० १८७५) में सरकार अंग्रेज़ी से संधि होने के बाद मुग़लों का नाम यहां के सिक्कों पर से उठता गया। अब तो कुछ राज्यों को छोड़कर सर्वत्र अंग्रेज़ी सरकार का सिक्का (कलदार) ही चलता है।

इस प्रकरण में राजपूताने का भूगोलसम्बन्धी वर्णन हमने बहुत संक्षेप में लिखा है, आगे प्रत्येक राज्य के इतिहास में वह विस्तार से लिखा जायगा।

---

(१) ऐच. नेल्सन राइट; 'कैटैलॉग ऑव् दी कॉइन्स इन् दी इंडियन् म्यूज़ियम कलकत्ता'; जि० २, पृ० २७-३०।

दूसरा अध्याय

राजपूत

जैसे 'राजपूताना' नाम अंग्रेज़ों के समय में प्रसिद्ध हुआ वैसे ही 'राजपूत' शब्द भी एक जाति या वर्ण विशेष के लिए मुसलमानों के इस देश में आने के पीछे प्रचलित हुआ। 'राजपूत' या 'रजपूत' शब्द संस्कृत के 'राजपुत्र' का अपभ्रंश अर्थात् लौकिक रूप है। प्राचीन काल में 'राजपुत्र' शब्द जातिवाचक नहीं, किन्तु क्षत्रिय राजकुमारों या राजवंशियों का सूचक था, क्योंकि बहुत प्राचीन काल से प्रायः सारा भारतवर्ष क्षत्रिय वर्ण के अधीन था। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र'[1], कालिदास के काव्य और नाटकों[2], अश्वघोष के ग्रंथों[3], बाणभट्ट के 'हर्षचरित' तथा 'कादंबरी'[4] आदि पुस्तकों एवं प्राचीन शिलालेखों[5] तथा दानपत्रों[6] में राजकुमारों और राजवंशियों के

---

(१) जन्मप्रभृति राजपुत्रान्रक्षेत् कर्कटकसधर्माणो हि जनकभक्षाः राजपुत्राः।

'अर्थशास्त्र'; पृ० ३२।

(२) राजसूयदीक्षितेन मया राजपुत्रशतपरिवृतं वसुमित्रं गोप्तारमादिश्य।

'मालविकाग्निमित्र नाटक'; अंक ५, पृ० १०४।

(३) अथ तेजस्विसदनं तपःक्षेत्रं तमाश्रमम्।
केचिदिक्ष्वाकवो जग्मू राजपुत्रा विवत्सवः ॥ ८ ॥

'सौन्दरानन्द काव्य'; सर्ग १।

(४) केसरिकिशोरकैरिव विक्रमैकरसैरपि विनयव्यवहारिभिरात्मनः प्रतिबिम्बैरिव राजपुत्रैः सह रममाणः प्रथमे वयसि सुखमतिचिरमुवास।

कादंबरी; पृ० १४–१५।

(५) भालिभाडाप्रभृतिग्रामेषु संतिष्ठमानश्रीप्रतीहारवंशीयसर्व्वराजपुत्रैश्च।

आबू पर तेजपाल के मंदिर का वि० सं० १२८७ का शिलालेख। ए. इं; जि० ८, पृ० २२२।

(६) सर्व्वानेव राजराजनकराजपुत्रराजामात्यसेनापति०

खालिमपुर से मिला हुआ राजा धर्मपाल का दानपत्र। ए. इं; जि० ४; पृ० २४६।

लिए 'राजपुत्र' शब्द का प्रयोग होना पाया जाता है। चीनी यात्री हुएन्त्संग ने वि० सं० ६८६ से ७०२ (ई० स० ६२९-६४५) तक इस देश में भ्रमण कर अपनी यात्रा का विस्तृत वर्णन लिखा, जो भारतवर्ष के उस समय के भूगोल, इतिहास, धर्म, लोगों के रहन-सहन आदि जानने के लिए बड़े महत्त्व का है। उक्त पुस्तक में उसने कई राजाओं का नामोल्लेख कर उनको क्षत्रिय[1] ही लिखा है, राजपूत[2] कहीं नहीं।

मुसलमानों के राजत्वकाल में क्षत्रियों के राज्य क्रमशः अस्त होते गये और जो बचे उनको मुसलमानों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी, अतएव वे स्वतन्त्र राजा न रहकर सामन्त से बन गये। ऐसी दशा में मुसलमानों के समय राजवंशी होने के कारण उनके लिए 'राजपूत' नाम का प्रयोग होने लगा। फिर धीरे-धीरे यह शब्द जातिसूचक होकर मुग़लों के समय अथवा उससे पूर्व सामान्य रूप से प्रचार में आने लगा।

क्षत्रिय वर्ण वैदिक काल से इस देश पर शासन करता रहा और आर्यों[3] की वर्णव्यवस्था के अनुसार प्रजा का रक्षण करना, दान देना, यज्ञ

---

(१) हुएन्त्संग ने महाराष्ट्र के राजा पुलकेशी, वलभी के राजा ध्रुवपट (ध्रुवभट) आदि कई राजाओं को क्षत्रिय ही लिखा है (बी; बु. रे. वे. व; जि० २, पृ० २५६; २६७)।

(२) 'पृथ्वीराज रासे' में रजपूत (राजपूत) शब्द मिलता है 'लग्गो सुजाय रजपूत सीस। धायो सु तेग करि करिय रीस' ('पृथ्वीराज रासा', पृ० २५०८; नागरी-प्रचारिणी सभा का संस्करण), परन्तु यह ग्रंथ वि० सं० की १६ वीं शताब्दी के पूर्व का बना हुआ नहीं है।

(३) इस पुस्तक में 'आर्य' शब्द का प्रयोग (सिवाय पृ० १४ के) देखकर पाठक यह अनुमान न करें कि यह शब्द आर्यसमाज के अनुयायियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। आजकल 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग होता है, परन्तु उसके स्थान में प्राचीन काल में 'आर्य' शब्द का प्रयोग होता था। हिन्दू नाम वि० सं० की ८ वीं शताब्दी से पूर्व के ग्रंथों में नहीं मिलता है। फारस (ईरान) की भाषा में 'स' के स्थान में 'ह' बोला जाता था जैसे कि 'सप्त' को 'हफ़्त' 'सिंधु' को 'हिंदू' आदि। इसी से ईरानियों ने सिंधु के निकटवर्ती निवासियों को हिन्दू कहा। पीछे से सारे भारत के लोग हिन्दू और उनका देश हिन्दुस्तान कहलाया। सिकन्दर के समय के यूनानी

करना, वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करना और विषयासक्ति में न पड़ना आदि क्षत्रियों के धर्म या कर्म माने जाते थे[1]। मुसलमानों के समय से यही क्षत्रिय जाति 'राजपूत' कहलाने लगी। आजकल के कितने एक यूरोपियन विद्वान् और उनके लेखों की छाया पर निर्भर रहनेवाले कुछ एतद्देशीय विद्वान् भी यही मानने लगे हैं कि राजपूत जाति प्राचीन आर्य क्षत्रिय नहीं, किन्तु उत्तर की ओर से आये हुए सीथियन अर्थात् शक हैं। राजपूताने के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक कर्नल टॉड ने राजपूतों के शक होने के प्रमाणों में उनके बहुत से प्रचलित रीति-रिवाजों का, जो शक जाति के रिवाजों से मिलते जुलते हैं, उल्लेख किया है। ऐसे प्रमाणों में सूर्य की पूजा या उपासना, तातारी और शक लोगों की पुरानी कथाओं का पुराणों की कथाओं से मिलना, सती होना, अश्वमेध यज्ञ करना, मद्यपान का शौक़ रखना, शस्त्र और घोड़ों का पूजना आदि हैं[2]।

मिस्टर विन्सेंट स्मिथ ने "अर्ली हिस्ट्री ऑव् इंडिया" (भारत का प्राचीन इतिहास) में लिखा है—"प्राचीन लेखों में हूणों के साथ गुर्जरों का भी, जो आजकल की गूजर जाति है और हिन्दुस्तान के उत्तर-पश्चिम विभागों में फैली हुई है, नाम मिलता है। अनुमान होता है कि पुराने गूजर

लेखकों ने सिंधु को इंडु (इंडज्) और वहां के निवासियों को 'इंडियन्' कहा; इसी से अंग्रेज़, भारतवासियों को 'इंडियन्' और भारत को 'इंडिया' कहते हैं। प्राचीन काल में आर्य शब्द बड़े गौरव का सूचक था और सम्मान के लिए उसका प्रयोग होता था। राणियां एवं स्त्रियां अपने पति को संबोधन करने में 'आर्यपुत्र', ऐसे ही सासु और श्वशुर के लिए क्रमशः आर्या और आर्य शब्दों का प्रयोग करती थीं। बौद्धों में भी यह शब्द गौरव का बोधक माना जाता था; इसी से उनके कई प्रसिद्ध धर्माचार्यों आदि के नाम के साथ आर्य शब्द जुड़ा हुआ मिलता है, जैसे कि आर्यअसंग, आर्यदेव, आर्यपार्श्विक, आर्यसिंह आदि। जैनों में साध्वी अबतक आर्या (आरजा) कहलाती हैं।

(१) प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥

'मनुस्मृति'; १। ८९।

(२) टॉ; रा; जि० १, प्रकरण ६।

बाहर से आये हुए थे, उनका श्वेत-हूणों के साथ निकट सम्बन्ध होना सम्भव है। उन्होंने राजपूताने में अपना राज्य स्थापित कर भीनमाल (श्रीमाल) को अपनी राजधानी बनाया, जो आबू से अनुमान ५० मील उत्तर-पश्चिम में है। समय पाकर भीनमाल के गुर्जर प्रतिहार राजाओं ने कन्नौज को जीतकर उत्तर भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना की। भड़ौंच का छोटा गुर्जर राज्य भीनमाल के बड़े राज्य की एक शाखा थी[1]।

"यहां मैं उस बात की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूं, जिसके विषय में बहुत दिनों से सन्देह था, परन्तु अब प्रमाणों-द्वारा निश्चित हो गया है कि राजपूताने और गंगा नदी के उत्तरी प्रदेशों में, वहां के निवासियों के साथ लड़ाई झगड़ा रहने पर भी, गुर्जरों का राज्य बिलकुल नष्ट नहीं हो गया था। यद्यपि बहुतसे गुर्जर नष्ट हुए, परन्तु कई बच भी गये, जो वहां के निवासियों में मिल गये और अब भी उनकी बहुतसी संतानें मौजूद हैं। अपने से पहले आनेवाले शक और यूची (कुशन) लोगों के समान यह विदेशी जाति भी शीघ्र ही हिन्दू धर्म में मिलकर हिन्दू बन गई। उसके जिन कुटुम्बों या शाखाओं ने कुछ भूमि पर अधिकार प्राप्त कर लिया वे तत्काल क्षत्रिय या राजवर्ण में मिला लिये गये और इसमें सन्देह नहीं कि पड़िहार और उत्तर के कई दूसरे प्रसिद्ध राजपूतवंश इन्हीं जंगली समुदायों से निकले हैं, जो ई० स० की पांचवीं या छठी शताब्दी में हिन्दुस्तान में आये थे। इन विदेशियों के सैनिकों एवं साथियों से गूजर और दूसरी जातियां बनीं जो पद और प्रतिष्ठा में राजपूतों से कम हैं। इसके अतिरिक्त दक्षिण में कई मूल निवासियों या जंगली जातियों अथवा वंशों ने भी हिन्दू धर्म स्वीकार कर हिन्दू-समाज में प्रवेश किया, जैसे कि गोंड, भड़, खरवड़ आदि से चंदेल, राठोड़, गहरवार आदि दूसरे प्रसिद्ध राजपूतवंश निकले[2] और उन्होंने अपनी

---

(१) स्मि; अ. हि. इं; पृ० ३२१-२२।

(२) आज तक के प्राचीन शोध से इस बात का नाममात्र को भी पता नहीं चलता कि चंदेल, राठोड़, गहरवार आदि प्रसिद्ध राजवंश गोंड, भड़, खरवड़ आदि

उत्पत्ति सूर्य और चन्द्र से जा मिलाई[1]।

उसी पुस्तक में आगे लिखा है— "पड़िहार, पँवार (परमार), चंदेल आदि राजपूत जातियां कौन थीं, और हर्षवर्धन तथा मुसलमानों की विजय के बीच की शताब्दियों में उन (राजपूतों) के कारण गड़बड़ क्यों उत्पन्न हुई ? उत्तरी भारत के प्राचीन और मध्ययुगीन इतिहास में अन्तर डालनेवाली मुख्य बात राजपूत वंशों की प्रधानता ही होने से उसके स्पष्टीकरण की इच्छा उत्पन्न होती है। प्रश्न करना सहज है, परन्तु उत्तर देना सहज नहीं और यह विषय भी बिलकुल अनिश्चित होने से उसका सन्तोषजनक निर्णय नहीं किया जा सकता; तो भी कुछ विचार प्रकट करना आवश्यक है, जिससे पाठकों को इन वंशों की भूलभुलैयां में मार्ग ढूंढ निकालने में कुछ सहायता मिले।

"ई० स० की आठवीं और नवीं शताब्दी में राजपूत राज्यों का एकाएक उद्गम होना एक आश्चर्य की बात है। प्राचीन राजवंशों के वर्ण या जाति के विषय में ठीक तौर से कुछ भी ज्ञात नहीं है। अशोक और समुद्रगुप्त के कुटुम्ब हिन्दू समाज के किस वर्ग के थे, यह कोई ठीक-ठीक नहीं बतला सकता और इसका भी कोई उल्लेख नहीं मिलता कि रंगभूमि पर आये हुए बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं ने केवल अपने पराक्रम ही के द्वारा राज्य प्राप्त किये थे अथवा वे बड़े-बड़े वंशों के मुखिया थे। पिछले समय के सब राजपूत अपने को प्राचीन क्षत्रिय वर्ण का ही होना मानते हैं। वास्तव में बहुत प्राचीन काल से, पिछले राजपूत वंशों के समान, क्षत्रिय वंश भी विद्यमान थे और इस माध्यमिक काल के सदृश ही पहले भी नये-नये राज्य बराबर स्थापित होते जाते थे, परन्तु उनके लिखित प्रमाण नष्ट हो गये और केवल थोड़े से यशस्वी वंशों की यादगार मात्र बनी रही। इतिहास में

जातियों से निकले हों। यह केवल मि० विन्सेंट स्मिथ की कपोलकल्पना मात्र है। यदि उक्त कथन में कुछ भी तथ्य होता तो उसके लिए कोई प्रमाण देने का साहस अवश्य किया जाता।

(१) स्मि; अ. हि. इं; पृ० ३२१।

उनका उल्लेख इस ढंग से किया गया है कि उसको बिलकुल सत्य ही नहीं कह सकते। क्षत्रिय शब्द सदा से एक संशयात्मक अर्थ का द्योतक रहा है। उससे केवल राज्य करनेवाली जाति का बोध होता है, जो ब्राह्मण कुल की न हो। कभी-कभी ब्राह्मण जाति के भी राजा हुए, परन्तु राजदरबार में ब्राह्मण विशेष कर राजा का नहीं, किन्तु मन्त्री का ही काम करते थे। चंद्रगुप्त मौर्य क्षत्रिय ही अनुमान किया गया है और उसका मंत्री चाणक्य या कौटिल्य निश्चय ब्राह्मण ही था।

"प्राचीन और माध्यमिक काल में वास्तविक अन्तर यही है कि प्राचीन समय की दंतकथाओं की शृंखला टूट गई और माध्यमिक काल की दंतकथाएं अब तक प्रचलित हैं। मौर्य और गुप्त वंशों की वास्तविकता का पता नहीं चलता; केवल पुस्तक, शिलालेख और सिक्कों ही के आधार पर उनकी स्मृतिमात्र स्थिर है। इसके विरुद्ध माध्यमिक काल के राजवंशों का परिचय बहुत कुछ प्राप्त है। टॉड और दूसरे पुराने लेखकों ने लिखा है कि राजपूत विशेषकर शक हैं तथा आजकल की यथेष्ट शोध से उनके कथन की पुष्टि होती है, और यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि कई मुख्य-मुख्य राजपूत वंशों में विदेशियों का रुधिर मिल गया है। जो जातियां राजपूतों से कम दर्जे[1] की गिनी जाती थीं उनके साथ राजपूतों का निकट

(१) राजपूतों का सम्बन्ध राजपूतों में ही होता है न कि कम दर्जे की जातियों में। मि० स्मिथ का उपर्युक्त कथन भ्रमपूरित ही है। यह बात अवश्य हुई है कि कुछ राजपूत घराने पहले राज करते थे या उनके पास अच्छी जागीरें थीं, परन्तु पीछे से समय के हेर फेर में उनकी जीविका छिन गई और वे लाचार नौकरी या खेती से अपना निर्वाह करने लगे, जिससे वे अच्छे राजपूतों की बराबर के नहीं, किन्तु कम दर्जे के गिने जाने लगे। मेवाड़ के महाराणा हम्मीरसिंह चंदाणा राजपूत की कन्या से उत्पन्न हुआ था यह प्रसिद्ध है। उस समय चंदाणे अच्छे राजपूत माने जाते थे। मुंहणोत नैणसी ने भी उनको चौहानों की सोनगरा शाखा में होना लिखा है ('नैणसी की ख्यात'; जि० १, पृ० २२१) ऐसे ही नैणसी ने खरवड़ों को पड़िहारों की शाखा होना बतलाया है ('नैणसी की ख्यात'; जि० १, पृ० २२१) और पहले उनके पास भी जागीरें होने के कारण उनकी गणना अच्छे राजपूतों में होती थी, परन्तु अब मेवाड़ के चंदाणा और खरवड़ों का शादी-व्यवहार बहुधा अच्छे राजपूतों के साथ नहीं रहा, जिसका कारण उनके पास

सम्बन्ध पाया जाता है। भारतवर्ष में सब से प्रथम ई० स० पूर्व की दूसरी शताब्दी में बाहर से आनेवाली जाति, जिसके विषय में इतिहास साक्षी है, शक थी। उसके पीछे यूची या कुशन जाति ई० स० की पहली शताब्दी में इधर आई। इन जातियों तक तो वर्तमान राजपूत वंश अपनी ठीक वंशपरम्परा नहीं पहुंचा सकते। निस्सन्देह शक और कुशनवंशी राजाओं ने जब हिन्दू-धर्म स्वीकार कर लिया तब वे हिन्दू जाति की प्रथा के अनुसार क्षत्रियों में मिला लिये गये। जो कुछ अबतक ज्ञात है उसके आधार पर यही कहा जा सकता है कि वे बहुत पीछे हिन्दुओं में मिलाये गये होंगे, किन्तु इस कथन के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है।

"ऐतिहासिक प्रमाणों से भारत में तीन बाहरी जातियों का आना सिद्ध होता है, जिनमें से शक और कुशन का वर्णन तो ऊपर हो चुका। तीसरी जाति हूण या श्वेतहूण थी, जो ई० स० की पांचवीं या छठी शताब्दी के प्रारंभ में इधर आई। इन तीनों के साथ और भी कई जातियां आईं। मनुष्यों की जातियां निर्णय करनेवाली विद्या (Ethnology), पुरातत्त्वविद्या और सिक्कों ने विद्वानों के चित्त पर अंकित कर दिया है कि हूणों ही ने हिन्दू संस्थाओं और हिन्दू राजनीति को अधिकतर हिला दिया हो[1]"। फिर आगे कुछ और बातें लिखकर उक्त महाशय ने निष्कर्ष यह निकाला है कि "हूण जाति ही विशेष कर राजपूताने और पंजाब में स्थायी रूप से आबाद हुई, जिसमें अधिकांश गुर्जर थे, जो अब गूजर कहलाते हैं[2]"।

जागीरों का न रहना और खेती आदि से निर्वाह करना ही हुआ। राजपूताने में एक जाति दरोगा, चाकर या गोला कहलाती है। इस जाति में विधवा स्त्री का नाता (पुनर्विवाह) होता है। जागीरें न रहने पर जब अच्छे राजपूत लाचार खेती या नौकरी से अपना निर्वाह करते हैं और राजपूतों की रीति के अनुसार परदे आदि का अपने यहां प्रबन्ध नहीं रख सकते तब उनको लाचार दरोगों में मिलना पड़ता है। फिर उनका शादी-व्यवहार अच्छे राजपूतों के साथ नहीं होता। राजपूतों के साथ उनके शादी-व्यवहार के जो उदाहरण मिलते हैं वे उनकी पूर्व की अच्छी स्थिति के समय के सूचक हैं।

(१) स्मि; अ. हि. इं; पृ० ४०७–१०।

(२) वही; पृ० ४११।

यूरोपियन विद्वानों की शोधक बुद्धि वास्तव में प्रशंसनीय है, परन्तु उनमें गतानुगत वृत्ति एवं प्रमाणशून्य मनमानी कल्पना करने की रुचि यहां तक बढ़ गई है कि कभी-कभी उनकी शोधक बुद्धि हमारे प्राचीन इतिहास की शृंखला मिलाने में लाभ की अपेक्षा अधिक हानि पहुंचानेवाली हो जाती है। आज तक कोई विद्वान् सप्रमाण यह नहीं बतला सका कि शक, कुशन या हूणों से अमुक-अमुक राजपूतवंशों की उत्पत्ति हुई। एक समय राजपूतों को 'गूजर' मानने का प्रवाह ऐसे वेग से चला कि कई विद्वानों ने चावड़ा, पड़िहार (प्रतिहार), परमार, चौहान, तंवर, सोलंकी, कछवाहा आदि राजपूतों का 'गूजर' होना बतलाने के सम्बन्ध में कई लेख लिख डाले, परन्तु अपनी मनमानी कल्पना की घुड़दौड़ में किसीने इन बातों का तनिक भी विचार न किया कि प्राचीन शिलालेख आदि में उनके वंश-परिचय के विषय में क्या लिखा है, दूसरे समकालीन राजवंश उस विषय में क्या मानते थे, हुएन्त्संग ने उनको किस वंश का बतलाया है और यही कहते गये कि ये तो पीछे से अपने को क्षत्रिय मानने लग गये हैं। जब तक सप्रमाण यह न बताया जा सके कि अमुक राजपूत जाति अमुक समय अमुक गूजर वंश से निकली तब तक ऐसे प्रमाणरहित काल्पनिक कथन स्वीकार नहीं किये जा सकते।

कर्नल टॉड ने तो अपना ग्रंथ सौ वर्ष पूर्व रचा, उस समय भारत में प्राचीन शोध का प्रारम्भ ही हुआ था और प्राचीन शिलालेखादि का ठीक ठीक पढ़ा जाना आरम्भ भी नहीं हुआ था, अतएव टॉड का कथन तो अधिकतर काल्पमिक ही कहा जा सकता है, परन्तु इस बीसवीं शताब्दी के लेखक मि० विन्सेंट स्मिथ ने भी कोई मूल प्रमाण उद्धृत कर यह नहीं बतलाया कि अमुक-अमुक राजपूत जातियां अमुक बाहरी जाति से निकली हैं। केवल अनुमान के आधार पर ही अपना लेख लिखा, इतना ही नहीं किन्तु यह भी स्पष्ट रूप से नहीं बतलाया जा सका कि राजपूत जाति की उत्पत्ति शक, कुशन और हूण इन तीन में से किससे हुई। उक्त महाशय को साथ-साथ यह भी लिखना पड़ा कि 'निस्सन्देह शक और कुशनवंशी

राजाओं ने जब हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया तब से हिन्दू जाति की प्रथा के अनुसार वे क्षत्रियों में मिला लिये गये, परन्तु जो कुछ अब तक जाना गया उससे यही ज्ञात होता है कि वे बहुत काल पीछे हिन्दुओं में मिलाये गये हों, लेकिन इसके लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है।"

अब हम सबसे पहले राजपूतों को क्षत्रिय न माननेवालों की शक जाति सम्बन्धी मुख्य दलील की जांच करते हैं। 'मनुस्मृति' में लिखा है— 'पौंड्रक, चोड, द्रविड, कांबोज, यवन, शक, पारद, पल्हव, चीन, किरात, दरद और खश ये सब क्षत्रिय जातियां थीं, परन्तु शनैः शनैः क्रियालोप होने से वृषल (विधर्मी, धर्मभ्रष्ट) हो गई"[1]। इस कथन का अभिप्राय यही है कि वैदिक धर्म को छोड़कर अन्य (बौद्ध आदि) धर्मों के अनुयायी हो जाने के कारण वैदिक धर्म के आचार्यों ने उनकी गणना विधर्मियों (धर्म-भ्रष्टों) में की।

पुराणों से पाया जाता है—"इक्ष्वाकुवंशी राजा वृक के पुत्र बाहु (बाहुक) के राज्य पर हैहयों और तालजंघों[2] (तालजंघ के वंशजों) ने आक्रमण किया, जिससे वह पराजित होकर अपनी राणियों सहित वन में जा रहा जहां और्व ऋषि के आश्रम में उसका देहांत हुआ। और्व ने बाहु के पुत्र सगर को वेदादि सब शास्त्र पढ़ाये, अस्त्रविद्या की शिक्षा दी और विशेषकर भार्गव नामक अग्न्यस्त्र का प्रयोग सिखलाया। एक दिन उस (सगर) ने अपनी माता से ऋषि के आश्रम में निवास करने का कारण जानने पर क्रुद्ध होकर अपना पैतृक राज्य छीन लेने और हैहयों तथा तालजंघों

(१) शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
पौण्ड्रकाश्चोडद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पल्हवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥
'मनुस्मृति;' १०। ४३-४४।

(२) हैहय और तालजंघ यदुवंशी राजा थे। हैहय यदु का चौथा और तालजंघ पन्द्रहवां वंशधर था। इनके वंशज हैहय (कलचुरि) और तालजंघ कहलाये।

को नष्ट करने का प्रण किया। फिर उसने बहुधा सब हैहयों को नष्ट किया और वह शक, यवन, कांबोज तथा पल्हवों को भी (जो बाहु का राज्य छीनने में हैहय आदि के सहायक हुए थे) नष्ट कर देता, परन्तु उन्होंने अपनी रक्षा के लिए उसके कुलगुरु वसिष्ठ की शरण ली, तब गुरु ने सगर को रोका और कहा कि अब तू उनका पीछा मत कर, मैंने तेरी प्रतिज्ञा-पालन के निमित्त उनको द्विजाति से च्युत कर दिया है। सगर ने गुरु का कथन स्वीकार कर उन जीती हुई जातियों में से यवनों को सारा सिर मुंडवाने, शकों को आधा मुंडवाने, पारदों को केश बढ़ाये रखने और पल्हवों को दाढ़ी रखने की आज्ञा दी। उनको तथा अन्य क्षत्रिय जातियों को वषट्कार (अग्नि में आहुति देने का शब्द) और वेद के पठन से विमुख किया। इस प्रकार धर्म (वैदिक धर्म) से च्युत होने तथा ब्राह्मणों का संसर्ग छूट जाने के कारण ये भिन्न भिन्न जातियां म्लेच्छ हो गईं[1]।"

---

(१) रुरुकस्य च वृकस्ततो बाहुर्योसौ हैहयतालजंघादिभिरवजितो-न्तर्वत्न्या महिष्या सह वनं प्रविवेश। स च बाहुर्वृद्धभावादौर्वाश्रमसमीपे ममार। तस्य भार्या अनुमरणनिर्बंधाद्विरराम। तेनैव भगवता स्वाश्रम-मानीयत···अतितेजस्वी बालको जज्ञे। तस्यौर्वो जातकर्मादिकां क्रियां निष्पाद्य सगर इति नाम चकार। कृतोपनयनं चैनमौर्वो वेदान् शास्त्रा-ण्यशेषाणि अस्त्रं चाग्नेयं भार्गवाख्यमध्यापयामास। उत्पन्नबुद्धिश्च मात-रमपृच्छत्। अंब कथमत्र वयं क्व तातस्ततोस्माकं क इत्येवमादिपृच्छतस्त-न्माता सर्वमवोचत्। ततः पितृराज्यहरणामर्षितो हैहयतालजंघादिवधाय प्रतिज्ञामकरोत्। प्रायशश्च हैहयान् जघान शकयवनकांबोजपारदपल्हवा हन्यमानास्तत्कुलगुरुं वसिष्ठं शरणं ययुः। अथैतान्वसिष्ठो जीवन्मृतका-न्कृत्वा सगरमाह। वत्स वत्सालमेभिरतिजीवन्मृतकैरनुसृतैः। एते च मयैव त्वत्प्रतिज्ञापरिपालनाय निजधर्मद्विजसंगपरित्यागं कारिताः। स तथेति तद्गुरुवचनमभिनंद्य तेषां वेषान्यत्वमकारयत्। यवनान्मुंडितशिरसोर्ध्व-मुंडाञ्छकान् प्रलंबकेशान्पारदान् पल्हवांश्च श्मश्रुधरान् निःस्वाध्यायवषट्-

पुराणों के इस कथन से स्पष्ट है कि शक आदि उपर्युक्त जातियां क्षत्रिय थीं और राजा सगर के समय में भी वे विद्यमान थीं। पीछे से बौद्ध आदि धर्म स्वीकार करने पर वैदिक मतवालों ने उनकी गणना म्लेच्छों में कर ली। भारतवर्ष में जब बौद्धधर्म की प्रबलता हुई उस समय ब्राह्मणादि अनेक लोग बौद्ध हो गये तो उनकी भी गणना धर्मद्वेष के कारण ब्राह्मणों ने अपनी स्मृतियों में शूद्रों में कर दी। इतना ही नहीं, किन्तु अंग, बंग, कलिंग, सुराष्ट्र, मगध आदि बौद्धप्राय देशों में यात्रा के अतिरिक्त जाने पर पुनः संस्कार करने का विधान तक किया था[1]। फिर बौद्ध धर्म की अवनति होने पर वे ही बौद्ध पीछे वेदधर्मानुयायियों में मिलते गये।

चंद्र वंश के मूलपुरुष पुरूरवा का चौथा वंशधर ययाति था। उसके पांच पुत्र यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरु हुए। द्रुह्यु का पांचवां वंशधर गंधार हुआ, जिसके नाम से उसका देश गांधार कहलाया; वहां के घोड़े उत्तम होते हैं। गंधार का पांचवां वंशज प्रचेता हुआ। मत्स्य, विष्णु और

कारान् एतानन्यांश्च क्षत्रियांश्चकार ते च निजधर्मपरित्यागाद्ब्राह्मणैश्च परित्यक्ता म्लेच्छतां ययुः।

'विष्णुपुराण;' अंश ४, अध्याय ३। ऐसा ही 'वायुपुराण' (अध्याय ८८, श्लोक १२१-४३) में लिखा मिलता है।

(१) अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च।
तीर्थयात्रां विना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति॥

यह श्लोक 'सिद्धान्तकौमुदी' की 'तत्वबोधिनी' टीका में 'परोक्षे लिट्' (३।२।११५) सूत्र के वार्तिक के प्रसंग में उद्धृत किया गया है।

सिन्धुसौवीरसौराष्ट्रं तथा प्रत्यंतवासिनः।
कलिङ्गकौङ्कणान्वङ्गान् गत्वा संस्कारमर्हति॥ १६॥

आनन्दाश्रम ग्रंथावलि (पूना) के 'स्मृतिनां समुच्चयः' नामक ग्रंथ में प्रकाशित 'देवलस्मृति'; पृ० ८५।

इस प्रकार की कड़ी व्यवस्था ब्राह्मणों ने अपने स्मृतिग्रंथों में अवश्य की थी, परन्तु लोगों ने उसका कभी पालन किया हो ऐसा इतिहास में कहीं वर्णित नहीं है।

भागवत पुराण में लिखा है—'प्रचेता के सौ (बहुत से) पुत्र हुए, जो सब उत्तर (भारतवर्ष के उत्तर) के म्लेच्छ देशों के राजा हुए[1]।' पतंजलि के महाभाष्य के अनुसार भी आर्यावर्त के बाहर उत्तरी प्रदेशों में आर्यों की बस्तियां थीं[2]।

शकादि बाहरी आर्य जातियों के सम्बन्ध में हमारे यहां ऊपर लिखे अनुसार उल्लेख मिलते हैं। अब हमें यह देखना चाहिये कि यूरोप के प्राचीन काल के इतिहास-लेखक शकों के विषय में क्या लिखते हैं। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में लिखा है—"ज्योस नामक विद्वान् का कथन है कि मुझे कई प्रमाण ऐसे मिले हैं, जिनके अनुसार शकों का आर्य होना निश्चित है। इस कथन की साक्षी हिरोडॉटस देता है कि सीथियन (शक) और सर्माटियन एक ही भाषा बोलते थे, और सर्माटियन के निःसन्देह आर्य होने की साक्षी प्राचीन ग्रंथकार देते हैं। स्टेपी[3] के सारे प्रदेशों पर आक्सस् और जेहूं नदियों से हंगेरिया के पुज्टास् तक पहले आर्यों की एक शाखा का अधिकार था। शकों के देवता भी आर्यों के देवताओं से मिलते हुए थे।

---

(१) द्रुह्योस्तु तनयौ शूरौ सेतुः केतुस्तथैव च।
सेतुपुत्रः शरद्वांस्तु गन्धारस्तस्य चात्मजः ॥ ६ ॥
ख्यायते यस्य नाम्नासौ गन्धारविषयो महान्।
आरट्टदेशजास्तस्य तुरगा वाजिनां वराः ॥ ७ ॥
गन्धारपुत्रो धर्मस्तु धृतस्तस्यात्मजोऽभवत्।
धृताच्च विदुषो जज्ञे प्रचेतास्तस्य चात्मजः ॥ ८ ॥
प्रचेतसः पुत्रशतं राजानः सर्व एव ते।
म्लेच्छराष्ट्राधिपा सर्वे उदीचीं दिशमाश्रिताः ॥ ९ ॥

'मत्स्यपुराण'; अध्याय ४८।

ऐसा ही 'विष्णुपुराण', अंश ४ अध्याय १७ में और 'भागवत', स्कंध ६, अध्याय १३, श्लो० १४-१५ में लिखा है।

(२) ना० प्र० प० भाग ५, पृ० २१५–२०।

(३) स्टेपी—रूस के दक्षिण और साइबेरिया के पश्चिम का प्रदेश।

उनकी सब से बड़ी देवी तबींती (अन्नपूर्णा) थी; दूसरा देवता पपीना (पाकशासन, इन्द्र) और उसकी स्त्री अपिया (पृथ्वी) थी। इनके अतिरिक्त सूर्य आदि दूसरे देवता भी पूजे जाते थे। राजवंशी शक समुद्र के देवता (वरुण) की पूजा करते थे। वे ठीक ईरानी प्रथा के अनुसार देवताओं की मूर्त्तियां और मंदिर नहीं बनाते, किंतु एक खड्ग को बड़ी वेदी पर रखकर प्रतिवर्ष उसको भेड़ आदि की बलि चढ़ाते थे। शक लोग लड़ाई के समय घोड़े पर सवार होते और धनुष बाण रखते थे[1]"।

ऊपर उद्धृत किये हुए मनुस्मृति, पुराण एवं प्राचीन यूरोपियन इतिहासलेखकों के प्रमाणों से स्पष्ट है कि शक जाति आर्यों से भिन्न नहीं, किंतु उन्हीं की एक शाखा थी। यदि यह प्रश्न किया जाय कि वे आर्य थे तो पीछे से वे पुराणों आदि में वृषल (विधर्मी, धर्मभ्रष्ट) क्यों कहलाये? तो इसका उत्तर यही है कि उन्होंने वैदिक धर्म से अलग होकर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। धर्मभेद के कारण बौद्धों और ब्राह्मणों में परस्पर परम शत्रुता रही, इसी से जैसे ईरानियों ने शक शब्द का अर्थ 'सग' (कुत्ता) बतलाया वैसे ही ब्राह्मणों ने उनका क्षत्रिय होना स्वीकार करते हुए भी उनको वृषल (धर्मभ्रष्ट) ठहराया, किंतु शक और कुशनवंशियों के सिक्कों, शिलालेखादि एवं प्राचीन ग्रंथों में मिलनेवाले उनके वर्णन को देखते हुए यही कहना पड़ता है कि वे जंगली और वृषल नहीं, किंतु आर्य ही थे और आर्यों की सी सभ्यता रखते थे।

ऊपर हम बतला चुके हैं कि पुराणों के अनुसार चंद्रवंशी राजा द्रुह्यु गांधार देश का राजा था। उसके पांचवें वंशधर प्रचेता के अनेक पुत्रों ने भारतवर्ष से उत्तर के म्लेच्छ देशों में अपने राज्य स्थापित किये थे। मुसलमानों के मध्य एशिया विजय करने के पूर्व उक्त सारे देश में भारतीय सभ्यता फैली हुई थी। सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डॉ. सर ऑरल स्टाइन ने ई० स० १९०१ (वि० सं० १९५८) में चीनी तुर्किस्तान में प्राचीन शोध का काम करते समय रेत के नीचे दबे हुए कई स्थानों से खरोष्ठी लिपि के लेखों का बड़ा

(१) 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका'; जि० २१, पृ० ५७६।

संग्रह किया। उक्त लेखों की भाषा वहां की लौकिक (तुर्की) मिश्रित भारतीय प्राकृत है। उनमें से कितने ही का प्रारंभ 'महनुअव महरय लिहति' (महानुभाव महाराजा लिखता है) पद से[1] होता है। कई लेखों में 'महाराज' के अतिरिक्त 'भट्टारक[2]', 'प्रियदर्शन[3]' (प्रियदर्शी) और 'देवपुत्र[4]' भी वहां के राजाओं के ख़िताब (बिरुद) मिलते हैं। 'भट्टारक' (परमभट्टारक) भारत के राजाओं का सामान्य ख़िताब था, 'प्रियदर्शन' (प्रियदर्शी) मौर्य राजा अशोक का था, और 'देवपुत्र' भारतवर्ष में मिलनेवाले कुशनवंशी राजाओं के शिलालेखों के अनुसार उनकी कई उपाधियों में से एक थी। कई एक लेखों में संवत् भी लिखे हुए हैं, जो प्राचीन भारतीय शैली के हैं, अर्थात् उनमें 'संवत्सर', 'मास' और सौर दिवस दिये हुए हैं[5]। ये लेख चीनी तुर्किस्तान में भारतीय सभ्यता के प्रचार की साक्षी दे रहे हैं।

---

(१) ए० एम० बोयर, ई० जे० राप्सन और ई० सेनार्ट के द्वारा संपादित 'खरोष्ठी इन्स्क्रिपशन्स डिस्कवर्ड बाइ सर ऑरल स्टाइन इन् चाइनीज़ तुर्किस्तान' नामक पुस्तक, भाग १, लेखसंख्या १, ३–११, १३–१४, १६–२२, २४, २६–३०, ३२, ३३, ३६–४०, ४२, ४३, ४५–४७; ४६, ५२–५७, ६२–६४, ६८, ७०–७२ और कई अनेक। उक्त पुस्तक में चीनी तुर्किस्तान से मिले हुए ४२७ प्राकृत लेखों का अक्षरान्तर छपा है।

(२) भटरगस (भट्टारकस्य) प्रियदर्शनस प्रियपितु° (लेखसंख्या १३३)
भटरगनां (भट्टारकाणां) प्रियदेवमनुशसंपुजितनां प्रियदर्शननां योग्यदिव्यवर्षशतत्रयुप्रमननां (लेखसंख्या १४०)।

(३) प्रियदेवमनुशस प्रियदर्शनस प्रियभ्रतु° (लेखसंख्या १३९ और १५६)।

(४) संवत्सरे ४ ३ (=७) महनुअव महरय जिटुघवंशमण देवपुत्रस मसे ४ २ (=६) दिवसे १० ४ (=१४) तं कालंमि° (लेखसंख्या ११६)।
इस टिप्पण में तथा इसके पीछे के तीन टिप्पणों में जो अवतरण उद्धृत किये गये हैं वे चीनी तुर्किस्तान से मिले हुए खरोष्ठी लेखों से हैं। खरोष्ठी लिपि में बहुधा स्वरों की मात्राओं में ह्रस्व-दीर्घ का भेद नहीं रहता। देखो 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला'; पृ० ३१–३७; और लिपिपत्र ६५–७०।

(५) संवत्सरे १० १ (=११) मसे ४ १ (=५) दिवसे ४ ४ (=८) तं कलंमि° (लेखसंख्या ८)।

चीनी यात्री फाहियान ई० स० ३९९ (वि० सं० ४५६) में अपने देश से भारत की यात्रा को निकला और ई० स० ४१४ (वि० सं० ४७१) में समुद्र-मार्ग से स्वदेश को लौटा। वह मध्य एशिया के मार्ग से भारत में आया था और अपनी यात्रा के वर्णन में लिखता है—"गोबी की मरुभूमि को सत्रह दिन में बड़ी कठिनता से पारकर हम शेनशन प्रदेश (चीनी तुर्किस्तान) में पहुंचे। इस देश का राजा बौद्ध है। यहां अनुमानतः ४००० से अधिक श्रमण (बौद्ध साधु) रहते हैं, जो सब हीनयान[1] संप्रदाय के अनुयायी हैं। यहां के लोग, क्या गृहस्थ क्या श्रमण, सब भारतीय आचार और नियम का पालन करते हैं, अंतर इतना ही है कि गृहस्थ सामान्य रूप से और श्रमण विशेष रूप से। यहां से पश्चिम के सब देशों में भी ऐसा ही पाया गया। केवल लोगों की भाषा में अंतर है तो भी सब श्रमण भारतीय ग्रंथों और भारतीय भाषा का अध्ययन करते हैं[2]।" यहां से पश्चिम में यात्रा करता हुआ वह खोतान में पहुंचा जहां के विषय में उसने लिखा है—"यह देश रम्य और समृद्धिशाली है। यहां की जनसंख्या बहुत बड़ी और जनता संपन्न है। सब लोग बौद्ध धर्म को मानते हैं और एकत्र होकर धार्मिक संगीत का आनंद लूटते हैं। यहां कई अयुत (दस हज़ार) श्रमण रहते हैं, जिनमें से अधिक महायान संप्रदाय के अनुयायी हैं। यहां का प्रत्येक कुटुंब अपने द्वार के सामने एक एक स्तूप बनवाता है, जिसमें से छोटे से छोटा

संवत्सरे २० १०(=३०) मसे ४ १(=५) दिवसे ४ ४(=८) तं कलंमि° (लेखसंख्या १०)।

संवत्सरे २० १०(=३०) मसे १ दिवसे ४ ३(=७) तं कलंमि कल्यनधम° (लेखसंख्या १२३)।

खरोष्ठी लिपि के अंकों के लिए देखो 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला'; पृ० १२८-२९; और लिपिपत्र ७५ वां, खंड तीसरा।

(१) बौद्धों में तीन संप्रदाय 'हीनयान', 'महायान' और 'मध्यमयान' थे, जिनमें से पहले दो के ही अनुयायी अधिक थे तीसरे के बहुत कम।

(२) जेम्स लेगे; 'फाहियान्स ट्रैवल्स इन् इंडिया एंड सीलोन'; पृ० १२—१४।

स्तूप बीस हाथ से कम ऊंचा न होगा। चारों ओर से आनेवाले श्रमणों के लिए लोग संघारामों (मठों) में कमरे बनाते हैं जहां उन(श्रमणों)की आवश्यकताएं पूरी की जाती हैं। यहां के राजा ने फाहियान और उसके साथियों को गोमती नामक विहार (संघाराम) में, जहां ३००० श्रमण रहते थे, बड़े सत्कार के साथ ठहराया था।" फाहियान अपने कुछ साथियों सहित रथयात्रा का उत्सव देखने के लिए यहां तीन मास ठहर गया। उसने रथयात्रा का जो वर्णन किया है वह बहुत अंश में जगदीश (पुरी) की वर्तमान रथयात्रा से मिलता जुलता है[1]। इसी तरह हुएन्त्संग ने अपनी भारत की यात्रा करते हुए भारत में प्रवेश करने के पूर्व और लौटते समय मध्य एशिया के देशों के धर्म और सभ्यता आदि का जो वर्णन किया है उससे भी वहां भारतीय सभ्यता का साम्राज्य होना पाया जाता है।

जिस समय मध्य एशिया से शक लोग इस देश में आये उस समय उनके धर्मसंबंधी विचारों एवं उनके साथ यहांवालों के वर्त्ताव का अब हम कुछ विवेचन करते हैं—

विजयी शक अपना राज्य बढ़ाते हुए शकस्तान[2] (सीस्तान) तक पहुंच गये। फिर वि० सं० की पहली शताब्दी के आसपास उन्होंने अफ़गानिस्तान और हिन्दुस्तान में प्रवेश किया। इस देश में उनका एक राज्य पंजाब में, दूसरा मथुरा के आसपास के प्रदेश पर, और तीसरा राजपूताना, मालवा, गुजरात, काठियावाड़ तथा महाराष्ट्र पर रहा। इन तीन राज्यों में से पहले दो तो शीघ्र ही अस्त हो गये, परंतु तीसरा राज्य समय की प्रगति के साथ घटता बढ़ता लगभग तीन सौ वर्ष तक किसी प्रकार बना रहा, जिसका अंत गुप्तवंश के प्रतापी राजा चंद्रगुप्त द्वितीय ने किया। इन शकों के समय के शिलालेख एवं सिक्कों पर के चिह्नों आदि से पाया जाता है कि उनमें से कोई बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, तो कोई वैदिक धर्म को मानते थे। उक्त तीसरे शक राज्य के राजाओं (महाक्षत्रपों) के सिक्कों में एक ओर सूर्य-

(१) जेम्स लेगे; 'फाहियान्स ट्रैवल्स इन् इंडिया ऐंड सीलोन'; पृ० १६-१६।

(२) अफ़गानिस्तान की दक्षिण-पश्चिमी सीमा से मिला हुआ ईरान का एक अंश।

चंद्र के बीच पर्वत (मेरु) का चिह्न और उसके नीचे नदी (गंगा) का चिह्न है[1]। आजकल जैसा ब्राह्मण धर्म और जैन धर्मवालों के बीच वर्ताव है, वैसा ही जनता में उस समय वैदिक और बौद्ध धर्मवालों के बीच था। जैसे आजकल ओसवाल तथा अग्रवाल आदि महाजनों में कई कुटुम्ब वैदिक-धर्म के एवं कई जैन धर्म के अनुयायी हैं, कहीं कहीं तो पति वैष्णव है तो स्त्री जैन है। ऐसा ही प्राचीन समय में भी व्यवहार होता था। पश्चिमी क्षत्रप राजा नहपान का दामाद उषवदात (ऋषभदत्त), जो शक दीनीक का पुत्र था, वेदधर्म को माननेवाला था[2], परन्तु उसकी स्त्री दक्षमित्रा बौद्ध मत की पोषक थी[3]। क्षत्रप राजा रुद्रदामा को यहां की कई राजकन्याओं ने अपनी प्राचीन रीति के अनुसार स्वयंवर में वरमालाएं पहनाई थीं[4]। उसी रुद्रदामा की पुत्री का विवाह पुराण-प्रसिद्ध एतद्देशीय आंध्रवंशी राजा वासिष्ठीपुत्र शातकर्णी के साथ हुआ था[5], ऐसा प्राचीन शिलालेखों से स्पष्ट है। इन सब बातों का निष्कर्ष यही है कि उस समय यहांवाले बाहर से आये हुए इन शकों को असभ्य या जंगली नहीं, किन्तु अपने जैसे ही सभ्य और आर्य जाति की संतति मानते और उनके साथ विवाह-संबंध जोड़ते थे। यहां के ब्राह्मण आदि लोग धर्म-संबंधी बातों में आज की भांति संकीर्ण विचार के न थे और अटक से आगे बढ़ने पर अपना धर्म नष्ट होना नहीं मानते थे[6]। अनेक राजाओं ने भारत से उत्तरी देशों के अतिरिक्त कई अन्य

---

(१) प्रोफेसर इ. जे. रापूसन् संपादित आंध्र और पश्चिमी क्षत्रपों आदि के सिक्कों की पुस्तक; प्लेट १०—१७।

(२) नासिक के पास की पांडव गुफा का लेख (ए. इं; जि. ८, पृ. ७८, लेख-संख्या १०)।

(३) वही; पृ ८१, ८५; लेखसंख्या ११, १३।

(४) स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्रकन्न्यास्वयंवरानेकमाल्यप्राप्त-दाम्ना महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना (ए. इं; जि. ८, पृ० ४४)।

(५) ए. इं; जि. १० का परिशिष्ट; पृ० १०३; लेखसंख्या ९९४। स्मि, अ. हि. इं, पृ० २१७।

(६) जब से अफ़ग़ानिस्तान पर मुसलमानों का अधिकार हुआ और वहां के

देशों पर अपने राज्य स्थिर किये थे और वहां पर भारतीय सभ्यता का प्रचार किया था। सुमात्रा, जावा आदि द्वीपों में भी उनके राज्य थे। वहां अनेक हिन्दू मंदिर थे, जो अबतक विद्यमान हैं, और उनके संस्कृत शिलालेख भी कई जिल्दों में छप चुके हैं। बोर्नियो के टापू में राजा मूलवर्मा के यज्ञ आदि के लेखवाले कई स्तंभ खड़े हुए हैं[1]। अफ़ग़ानिस्तान पर मुसलमानों के पहले हिन्दू राजाओं का ही राज्य था; ईरान प्राचीन आर्य सभ्यता और अग्नि की उपासना के लिए उत्तर का केंद्र था। ईरान तक ही नहीं, किन्तु वहां से पश्चिम के एशिया माइनर से मिले हुए कीलाक्षर (Cuneiform) लिपि के शिलालेखों से पाया जाता है कि उक्त प्रदेश के मलेटिआ (Malatia) विभाग पर ई० स० पूर्व १५०० और १४०० में राज्य करनेवाले मिटान्नि (Mitanni) के राजा आर्य नाम धारण करते थे और ऋग्वेद के इंद्र, वरुण, मित्र और नासत्य देवताओं के उपासक भी थे[2]।

ऐसी दशा में यदि राजपूतों के प्रचलित रीति-रिवाज शकों के रीति-रिवाजों से मिलते हुए हों तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि दोनों ही क्षत्रिय जातियां थी। सूर्य की उपासना वैदिक काल से आर्य लोगों में प्रचलित थी और जहां-जहां आर्य लोग पहुंचे वहां उसका प्रचार हुआ। शकों की पुरानी कथाओं का यहां की प्राचीन कथाओं से मिलना भी यही बतलाता है कि वे कथाएं यहां से ही मध्य एशिया आदि देशों में आर्यों के साथ पहुंची थीं। सती होने की प्रथा भी शकों के इस देश में आने से पूर्व की है। पांडु की दूसरी स्त्री माद्री सती हुई थी। अश्वमेध यज्ञ आर्यों ने

लोग मुसलमान बनाये गये तब से भारतवासियों का अटक से परे जाना रुक गया था, परन्तु राजपूताने के कई राजा आदि अटक से परे अफ़ग़ानिस्तान, बलख़ आदि प्रदेशों में गये और वहां विजय प्राप्तकर मुग़लों का राज सुस्थिर किया। अब तो कई ब्राह्मण, वैश्य, खत्री आदि काबुल में ही नहीं, किन्तु दूर दूर के प्रदेशों में जाते हैं और वहां व्यापार करते हैं।

(१) डा. वोजेल; 'यूप इन्स्क्रिप्शन्स ऑव् किंग मूलवर्मन् फ्रॉम कोएटी (ईस्ट बोर्नियो) पृ० १६६-२३२।

(२) प्रोफ़ेसर इ. जे. राप्सन; 'एनश्यंट इंडिया'; पृ० ७६-८०।

शकों से सीखा, यह कथन सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि वैदिक काल से ही भारतीय राजा अश्वमेध करते आये हैं। युधिष्ठिर आदि अनेक क्षत्रिय राजाओं ने अश्वमेध किये थे। शस्त्र और घोड़ों की पूजा प्राचीन काल से लेकर अबतक बराबर होती है। एक दूसरे से बहुत दूर बसने के कारण इनकी भाषा, पोशाक, रहन-सहन में समयानुसार अंतर पड़ना स्वाभाविक है। मध्य एशिया तक के दूरवर्ती देश की बात जाने दीजिये, यदि इन बातों की दृष्टि से कश्मीर और पंजाब के वर्तमान हिन्दुओं का बंगाल, राजपूताना, गुजरात और महाराष्ट्र के हिन्दुओं से मिलान किया जाय तो परस्पर बड़ा अन्तर पाया जाता है।

अब हम कुशन(यूची)वंशियों के विषय का कुछ विवेचन करते हैं—

ये लोग मध्य एशिया के उस प्रदेश से भारतवर्ष में आये, जिसको तुर्किस्तान कहते हैं। इनके सिक्कों में से अधिकांश पर एक तरफ़ राजा की खड़ी हुई मूर्त्ति और दूसरी ओर बैल (नंदी) के पास खड़े हुए शिव की मूर्त्ति बनी है[1]। अन्य सिक्कों पर सूर्य, बुद्ध तथा अन्य देवी देवताओं की मूर्त्तियां हैं। अनेक सिक्कों पर राजा अग्नि में आहुति देता हुआ खड़ा है। हम ऊपर बतला चुके हैं कि तुर्किस्तान में आर्य लोग निवास करते थे और वहां आर्य सभ्यता फैली हुई थी। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में लिखा है—'जब से इतिहास का पता है पूर्वी (मध्य एशिया के) तुर्किस्तान में आर्य जाति निवास करती थी[2]।' ऊपर वर्णन किये हुए उनके सिक्कों से भी यही पाया जाता है। उक्त सिक्कों में राजा के सिर पर या तो लंबी टोपी या मुकुट, बदन पर कोट और पैरों में लंबे बूट दीख पड़ते हैं, जो उक्त शीतप्रधान देश के लिए आवश्यक हैं। हिन्दुस्तान में आने के पीछे भी वे वैदिक और बौद्ध धर्म के अनुयायी रहे थे।

प्राचीन काल से भारत के क्षत्रिय राजाओं में देवकुल बनाने की प्रथा

---

(१) गार्डनर; 'दी कॉइन्स आव् दी ग्रीक ऐंड सीथिक् किंग्ज़ आव् बाक्ट्रिया ऐंड इंडिया'; प्लेट २५, संख्या ६–८; १२–१४।

(२) जि० २३, पृ० ६३६।

थी। राजाओं की मृत्यु के पीछे उनकी मूर्त्तियां रक्खी जाती थीं। प्रसिद्ध कवि भास ने, जो कालिदास से भी पूर्व हुआ था, अपने 'प्रतिमा नाटक' में अयोध्या के निकट बने हुए रघुवंशियों के देवकुल का वर्णन किया है, जिसमें राजा दिलीप, रघु, अज और दशरथ की मूर्त्तियां रक्खी हुई थीं[1]। पाटलीपुत्र (पटना) के निकट पुराणप्रसिद्ध शिशुनागवंशी राजाओं का देवकुल था[2], जहां से उस नगर को बसानेवाले महाराज उदयन और सम्राट् नंदिवर्द्धन की मूर्त्तियां मिली हैं। कुशनवंशी राजाओं का देवकुल मथुरा से ६ मील माट गांव में था। वहां से एक शिलालेख १४ टुकड़ों में मिला, जिसका कुछ अंश नष्ट भी हो गया है। उसका आशय यह है—"सत्यधर्मस्थित महाराज राजातिराज देवपुत्र हुविष्क के दादा का यहां देवकुल था, जिसको टूटा हुआ देखकर महाराज राजातिराज देवपुत्र हुविष्क की आयु तथा बलवृद्धि की कामना से महादंडनायक..........के पुत्र ब [कन] पति...... .....ने उसकी मरम्मत करवाई[3]।" इससे स्पष्ट है कि कुशनवंशियों में भी रघु और शिशुनागवंशी राजाओं के समान देवकुल बनाने की प्रथा थी। इन बातों को देखने से इनका आर्य होना निश्चित है। इन राजाओं के राजत्वकाल के कई बौद्ध, जैन और ब्राह्मणों के शिलालेख मिले हैं, जिनमें संवत्, इनके नाम तथा खिताब मिलते हैं, परन्तु अबतक इनके खुदवाये हुए ऐसे लेख नहीं मिले, जिनसे इनकी वंशपरंपरा, विस्तृत वृत्तांत या इनके शादी व्यवहार आदि का पता चलता हो। ऐसी दशा में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि भारत के प्राचीन क्षत्रिय राजवंशियों के साथ इनके विवाह आदि संबंध कैसे थे, परंतु इनके आर्य होने और शिव, अग्नि, सूर्य आदि देवताओं के उपासक होने से क्षत्रियों का इनके साथ संबंध रहा हो तो आश्चर्य नहीं।

अब हम हूणों के संबंध का थोड़ा सा परिचय देते हैं—

---

(१) ना० प्र० प०; भाग ४, पृ० २६७-७०।

(२) वही; भा० १, पृ० १०१।

(३) ज. रॉ. ए. सो, ई. स. १९२४, पृ० ४०२-३।

हूण भी मध्य एशिया में रहनेवाली एक आर्य जाति थी, जिसने बल प्राप्तकर एशिया और यूरोप के कई देश विजय किये और उनपर अपना अधिकार जमा लिया। चीनी ग्रंथकार उनको 'यून्‌यून्', 'येथिलेटो' और 'येथ'; यूनानी इतिहास-लेखक 'उन्नोई' (हूण), 'लुकोई उन्नोई' (श्वेत हूण), 'एफ़थेलाइट' या 'नेफ़-थेलाइट'; और संस्कृत विद्वान् 'हूण', 'हून', 'श्वेत-हूण' या 'सितहूण' कहते थे। महाभारत तथा पुराण आदि ग्रंथों में हूणों का जो उल्लेख मिलता है उसका संबंध उनके मध्य एशिया में निवास करने के समय से है, क्योंकि भारत में वि० सं० की छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक उनका आना नहीं पाया जाता। मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का प्राबल्य था और हूणों ने भी उसे स्वीकार किया हो, जिससे ब्राह्मण लेखकों ने धर्मद्वेष के कारण मध्य एशिया की अन्य जातियों के समान उनकी गणना भी म्लेच्छों में की। वि० सं० ४७७ (ई० स० ४२०) के आसपास मध्य एशिया की ऑक्सस (वंक्षु) नदी के निकट रहनेवाले हूणों ने ईरान के ससानियन्‌वंशी राजाओं से लड़ना प्रारंभ किया और यज़्दज़र्द दूसरे (ई० स० ४३८–४५७=वि० सं० ४९५–५१४) और फ़ीरोज़ (ई० स० ४५७–४८४=वि० सं० ५१४-५४१) को परास्त कर उनका खज़ाना लूटा और उनका कुछ देश भी अपने अधीन कर लिया। फिर वे हिन्दुस्तान की ओर मुड़े। गांधार देश विजय कर शाकल नगर को उन्होंने अपनी राजधानी बनाया और क्रमशः आगे बढ़ते गये। चीनी यात्री सुंगयुन् ई० स० ५२० (वि० सं० ५७७) में गांधार में आया। वह लिखता है—"यहां का राजा ये-थे-ले-टो' (हूण) है जो बड़ा लड़नेवाला है और उसकी सेना में ७०० हाथी रहते हैं। हूणों ने गांधार में लेलिह को अपना राजा बनाया था। वर्तमान राजा (मिहिरकुल) उससे तीसरा है[1]।" गुप्त सं० १९१ (वि० सं० ५६७=ई० स० ५१०) के आसपास हूण राजा तोरमाण ने गुप्तवंशी राजा भानुगुप्त से मालवा, राजपूताना आदि देश छीन लिये। तोरमाण के पीछे उसका पुत्र मिहिरकुल बड़ा प्रतापी राजा हुआ, जिसके चांदी के सिक्कों पर 'जयतु

(१) कनिंगहाम; 'कॉइन्स ऑव् दी लेटर इंडोसीथिअन्स'; पृ० ७५ और आगे।

वृषध्वज' या 'जयतु वृष' लेख के अतिरिक्त त्रिशूल, वृष (नंदी) और छत्र के चिह्न हैं, जो उसका शैव होना प्रकट करते हैं।

मिहिरकुल के समय मालवे में यशोधर्मन् (विष्णुवर्द्धन) नामक प्रतापी राजा हुआ, जिसके विशाल जयस्तंभ मंदसोर से तीन मील दूर सोंदनी गांव के पास पड़े हुए हैं। उनपर के लेखों से ज्ञात होता है कि 'यशोधर्मन् ने लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से लगाकर महेन्द्राचल तक और हिमालय से पश्चिमी समुद्र तक के देश विजय किये थे। अपने इष्टदेव शिव के सिवा किसी अन्य के आगे मस्तक न झुकानेवाले राजा मिहिरकुल ने उसके चरणों की सेवा की थी[1]।' इससे प्रत्यक्ष है कि मिहिरकुल शिव का अनन्य भक्त था। यशोधर्मन् से परास्त होने पर मिहिरकुल को राजपूताना, मालवा आदि देश छोड़कर, कश्मीर की शरण लेनी पड़ी। हूणों में तोरमाण ही मालवा, राजपूताना आदि का प्रथम राजा हुआ और उसके पुत्र मिहिरकुल के समय अर्थात् लगभग ४० या ५० वर्ष में ही हूणराज्य यहां से अस्त हो गया। यशोधर्मन् के जो लेख अबतक मिले हैं उनसे यह नहीं पाया जाता है कि वह किस वंश का था, परंतु इतना तो स्पष्ट है कि वह हूणों से भिन्न किसी एतद्देशीय राजवंश का वंशधर था।

संभव है कि मिहिरकुल के पराजित होने के पीछे भी इधर के कुछ प्रदेश हूणों के अधीन रहे हों और उनके स्वामियों ने यहां के राजाओं की अधीनता स्वीकार करली हो, क्योंकि यहां के कितने एक राजवंशियों का हूणों के साथ विवाह आदि संबंध होना पाया जाता है, जैसे कि मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा अल्लट (वि० सं० १०१०=ई० स० ९५३) की राणी हरियदेवी

---

(१) स्थाणोरन्यत्र येन प्रणतिकृपणतां प्रापितं नोत्तमाङ्गं
यस्याश्लिष्टो भुजाभ्यां वहति हिमगिरिर्दुर्गशब्दाभिमानम्।
नीचैस्तेनापि यस्य प्रणतिभुजबलावर्ज्जनक्लिष्टमूर्ध्ना
चूडापुष्पोपहारैर्म्मिहिरकुलनृपेणार्च्चितं पादयुग्मम् ॥

फ्ली.; गु.; इं.; पृ० १४६-४७।

हूणवंश की थी[1]। ऐसे ही चेदी के कलचुरी (हैहय) वंशी राजा गांगेयदेव के पुत्र कर्ण (वि० सं० १०९९=ई० स० १०४२) का विवाह हूण कुमारी आवल्लदेवी के साथ हुआ था[2]। 'कुमारपालप्रबंध' एवं भाटों की पुस्तकों में हूणों की गणना ३६ राजवंशों में की गई है।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि मुसलमान धर्म की उत्पत्ति से पूर्व मध्य एशिया में आर्य जातियों का निवास था और हूण भी वहीं से आये थे। मिहिरकुल के पिता तोरमाण के लेख में, जो लाहोर के अजायबघर में रक्खा हुआ है, उसको 'महाराजाधिराज, षाही, जऊव्ल' कहा है[3]। जऊव्ल उसके कुल का सूचक होना चाहिये। 'महाराजाधिराज' आर्य भाषा का और 'षाही' मध्य एशिया की भाषा का खिताब है। कुशनवंशियों के कितने ही लेखों में ऊपर बतलाये हुए भारतीय खिताबों के अतिरिक्त उनका 'षाही' खिताब भी होना पाया जाता है। इसपर कई विद्वानों का यह अनुमान करना निर्मूल नहीं है कि हूण कुशनवंशियों की एक शाखा के रहे हों। ऐसे ही मिहरकुल के अनन्य शिवभक्त और बौद्धों के कट्टर विरोधी होने से, जैसा कि हम आगे हूणों के वृत्तांत में बतलावेंगे, यहां के क्षत्रियों के साथ उक्त वंश के राजाओं का शादी-व्यवहार होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, परंतु यह नहीं माना जा सकता कि राजपूत हूणों से निकले हैं।

---

(१) अभूद्यस्याभवत्तस्यां तनयः श्रीमदल्लटः ॥
स भूपतिः [प्रिया] यस्य हूणान्वोणीशवंशजा ।
हरियदेवी यशो यस्या भाति हर्षपुराह्वयं ॥
इं. ऐं; जि० ३९, पृ० १९१।

(२) पुत्रोऽस्य खड्गदालि[तारि]करीन्द्रकुम्भ–
मुक्ताफलैः स्म ककुभोर्च्चति कर्णदेवः ।···॥
अजनि कलचुरीणां स्वामिना तेन हूणा–
न्वयजलनिधिलक्ष्म्यां श्रीमदावल्लदेव्यां । ए. इं; जि० २, पृ० ४।

(३) ···राजा···राजमहाराजतोरमाणषाहिजऊव्ल···
ए. इं. जि० १, पृ० २३९।

अब मि० स्मिथ के इस कथन की जांच करना आवश्यक है कि 'हूणों का बड़ा विभाग गुर्जर या गूजर था'। गुजरात के चौलुक्य (सोलंकी) सामंत पुलकेशी के त्रैकूटक (कलचुरि) संवत् ४६० (वि० सं० ७६५-६६= ई० स० ७३८-३६) के दानपत्र से पाया जाता है कि चावोटक (चावड़े) और गुर्जर दोनों भिन्न भिन्न वंश थे[1]। जोधपुर राज्य की उत्तरी सीमा से लगाकर भड़ौच तक सारा देश एक समय गुर्जरों के अधीन होने से 'गुर्जरत्रा' या गुजरात कहलाया। उक्त देश पर गुर्जरों का अधिकार कब हुआ यह अबतक अनिश्चित है तथापि इतना तो निश्चित है कि शक सं० ५५० (वि० सं० ६८५=ई० स० ६२८) में गुर्जर देश की राजधानी भीनमाल में चाप (चावड़ा) वंश का राजा व्याघ्रमुख राज्य करता था[2]। उससे पूर्व भी वहां उक्त वंश के राजाओं का राज्य रहा हो। उक्त संवत् से बहुत पूर्व गुर्जरों का राज्य वहां अस्त हो चुका था और उनकी स्मृति का सूचक देश का नाम गुर्जरत्रा (गुजरात) मात्र अवशेष रह गया था। अतएव गुर्जरों का वि० सं० ४०० से भी पूर्व या उसके आसपास भीनमाल पर शासन करना संभव हो सकता है। अनुमानतः उस समय से १६० वर्ष पीछे वि० सं० ५६७ (ई० स० ५१०) के लगभग हूणों का अधिकार राजपूताने पर हुआ; इस अवस्था में गुर्जरों को हूण मानना केवल कपोलकल्पना है। ऐसे ही कन्नौज के प्रतापी प्रतिहारों (पड़िहारों) का भी गुर्जरों से कोई संबंध नहीं था यह हम आगे प्रतिहारों के वर्णन में बतलावेंगे।

क्या राजपूतों का उदय मि० विन्सेंट स्मिथ के लेखानुसार ई० स० की आठवीं या नवीं शताब्दी में एकाएक हुआ? इसके उत्तर में हम कह

(१) ना. प्र. प; भा. १, पृ० २१०-११।

(२) श्रीचापवंशतिलके श्रीव्याघ्रमुखे नृपे शकनृपाणाम्।
पंचाशत्संयुक्तैर्वर्षशतैः पंचभिरतीतैः॥ ७॥
ब्राह्मः स्फुटसिद्धान्तः सज्जनगणितगोलवित्प्रीत्यै।
त्रिंशद्वर्षेण कृतो जिष्णुसुतब्रह्मगुप्तेन॥ ८॥
(ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त)।

सकते हैं कि राजपूताने में ही गुहिल, चावड़े, यादव और मौर्य आदि राजवंश ई० स० की सातवीं शताब्दी में तथा उससे पूर्व भी विद्यमान थे।

गुहिलवंशी राजा शीलादित्य (शील) का सामोली गांव (मेवाड़ के भोमट ज़िले में) से मिला हुआ वि० सं० ७०३ (ई० स० ६४६) का शिलालेख[1] राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में सुरक्षित है। शीलादित्य से पूर्व के चार राजाओं के नाम भी प्राचीन शिलालेखों में मिलते हैं, जिससे उक्त वंश के मूलपुरुष गुहिल का समय वि० सं० ६२५ (ई० स० ५६८) के आसपास स्थिर होता है।

चावड़ावंशी राजा व्याघ्रमुख शक सं० ५५० (वि० सं० ६८५=ई० स० ६२८) में भीनमाल में राज्य करता था ऐसा 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' से ऊपर बतलाया जा चुका है।

यादव प्राचीन काल से मथुरा और उसके आसपास के प्रदेश पर राज्य करते रहे। कामां (कामवन, भरतपुर राज्य) की 'चौरासी खंबा' नाम की मसजिद में, जो हिन्दू मंदिरों को गिराकर उनके पत्थरों से बनाई गई है, एक स्तंभ पर शूरसेनवंशी यादव राजा वत्सदामा[2] का खंडित शिलालेख विद्यमान है, जिसकी लिपि झालरापाटनवाले राजा दुर्गगण के वि० सं० ७४६ (ई० स० ६८६) के शिलालेख की लिपि से मिलती हुई है। यदि कामां का लेख वि० सं० की आठवीं शताब्दी के अंत का भी माना जाय तो भी उसमें लिखे हुए वत्सदामा के पूर्व के सातवें राजा फक्क का समय—प्रत्येक राजा के राज्यसमय की औसत बीस वर्ष मानने से वि० सं० ६८० (ई० स० ६२३) के आसपास स्थिर होता है।

मौर्य या मोरी वंश के राजा मान का एक शिलालेख वि० सं० ७७० (ई० स० ७१३) का[3] चित्तोड़ के क़िले से ३ मील दूर पूठौली गांव के पास मानसरोवर नामक तालाब पर मिला है। उसमें राजा मान के प्रपितामह

---

(१) ना० प्र० प; भाग १, पृ० ३२२–२४।

(२) इं. एं; जि० १०, पृ० ३४-३६।

(३) टॉ, रा; जि. २, पृ० ९१९–२२।

माहेश्वर से मौर्यों की वंशावली दी है; अतएव माहेश्वर का समय वि० सं० की सातवीं शताब्दी के आसपास आता है। इन थोड़े से उदाहरणों से स्पष्ट है कि मि० विन्सेंट स्मिथ का उपर्युक्त कथन भी भ्रमपूर्ण ही है।

कुछ विद्वान् वर्तमान राजपूत वंशों को आर्य क्षत्रिय न मानने में यह भी प्रमाण उपस्थित करते हैं कि पुराणों में लिखा है—'शिशुनाग वंश के अंतिम राजा महानंदी के पीछे शूद्रप्राय और अधर्मी राजा होंगे।' इस विषय में हम अपना मत प्रकाशित करने के पूर्व इस प्रश्न को पाठकों के ध्यान में सम्यक् प्रकार से जमाने के लिए इतना कहना उचित समझते हैं कि वास्तव में पुराणों में इस विषय में क्या लिखा है, और काल पाकर उस लेख ने कैसा रूप धारण कर लिया है। मत्स्य, वायु, ब्रह्मांड, भागवत और विष्णु पुराण में लिखा है—'महानंदी का पुत्र महापद्म (नंद) शूद्रा स्त्री से उत्पन्न होकर अपने ८८ वर्ष के शासन-काल में क्षत्रियों को नष्ट करेगा। उस महापद्म के सुमाल्य (सुकल्प) आदि आठ पुत्र १२ वर्ष राज्य करेंगे, तत्पश्चात् कौटिल्य (विष्णुगुप्त, चाणक्य) ब्राह्मण इन (नव नंदों) को नष्ट करेगा और मौर्य (चंद्रगुप्त) राजा होगा[1]।"

---

(१) महानन्दिसुतश्चापि शूद्रायां कलिकांशजः ।
उत्पत्स्यते महापद्मः सर्वक्षत्रांतको नृपः ॥
ततः प्रभृति राजानो भविष्याः शूद्रयोनयः ।
एकराट् स महापद्म एकच्छत्रो भविष्यति ॥
अष्टाशीति तु वर्षाणि पृथिव्यां च भविष्यति ।
सर्वक्षत्रमथोद्धृत्य भाविनार्थेन चोदितः ॥
सुकल्पादिसुता ह्यष्टौ समा द्वादश ते नृपाः ।
महापद्मस्य पर्याये भविष्यन्ति नृपाः क्रमात् ॥
उद्धरिष्यति तान् सर्वान् कौटिल्यो वै द्विजर्षभः ।
भुक्त्वा महीं वर्षशतं ततो मौर्यान् गमिष्यति ॥

'मत्स्यपुराण'; अध्याय २७२, श्लो० १७–२२। 'वायुपुराण'; अध्याय ९९, श्लो० ३२६–३१। 'ब्रह्मांडपुराण'; ३। ७४। १३९–४३।

पाश्चात्य पुराने लेखकों में से केवल एक प्लुटार्क नामी यूनानी लेखक ने, जो ई० स० की दूसरी शताब्दी में हुआ, पुरानी जनश्रुति के आधार पर ऐसा लिखा है—"मगध के राजा (महानंदी) की एक राणी का प्रेम किसी नाई के साथ हो गया। इन दोनों ने राजा को मार डाला और नाई उसके राज्य का स्वामी हो गया। उसी का पुत्र (महापद्म) सिकंदर के समय वहां का राजा था[1]।" महापद्म या उसके पुत्रों को चंद्रगुप्त ने मारकर मगध का राज्य छीन लिया।

बहुत काल पीछे वि० सं० की नवीं शताब्दी के आसपास विशाखदत्त पंडित ने अपने 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक में चाणक्य (कौटिल्य) और चंद्रगुप्त के संवाद में चाणक्य का चंद्रगुप्त को 'वृषल' शब्द से संबोधन करना बतलाया है। उसी मुद्राराक्षस के टीकाकार ढुंढिराज ने, शक संवत् १६३५ (वि० सं० १७७०=ई० स० १७१३) में शायद विशाखदत्त के 'वृषल' शब्द के आधार पर या किसी प्रचलित दंतकथा के अनुसार अपनी टीका में यह लिख दिया—'नंद वंश के अंतिम राजा सर्वार्थसिद्धि (नंद) की वृषल (शूद्र) जाति की मुरा नामक राणी से चंद्रगुप्त उत्पन्न हुआ, जो अपनी माता के नाम से 'मौर्य' कहलाया[2]।" इन्हीं ऊटपटांग

महानंदिसुतः शूद्रागर्भोद्भवोतिलुब्धो महापद्मो नंदः परशुराम इवापरोऽखिलक्षत्रांतकारी भविता। ततः प्रभृति शूद्रा भूमिपाला भविष्यंति। स चैकच्छत्रामनुल्लंघितशासनो महापद्मः पृथिवीं भोक्ष्यति। तस्याप्यष्टौ सुताः सुमाल्याद्या भवितारस्तस्य च महापद्मस्यानु पृथिवीं भोक्ष्यंति महापद्मस्तत्पुत्राश्च एकं वर्षशतमवनीपतयो भविष्यंति नवैव तान्नंदान्कौटिल्यो ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति। तेषामभावे मौर्याश्च पृथिवीं भोक्ष्यंति कौटिल्य एव चंद्रगुप्तं राज्येऽभिषेक्ष्यति॥

'विष्णुपुराण', अंश ४, अध्याय २४। ऐसे ही 'श्रीमद्भागवत'; स्कंध १२, अध्याय १, श्लो० ८–१३।

(१) 'मैक्क्रिंडल'; 'इनवेज़न ऑव् इंडिया बाई अलेक्ज़ैंडर दी ग्रेट'; पृ० २८२।

(२) सूनुरग्रे नन्दनामानः कोऽपि सर्वार्थसिद्धिभुजः ॥ २३ ॥

कथाओं को ध्यान में रखकर आजकल के यूरोपियन तथा अन्य विद्वानों ने यह मान लिया है कि वर्तमान राजपूत आर्य क्षत्रिय नहीं, और चंद्रगुप्त मगध के नंदवंशियों का वंशधर था।

पुराण, बृहत्कथा, कथासरित्सागर और मुद्राराक्षस में तो कहीं इस बात का उल्लेख भी नहीं है कि चन्द्रगुप्त नंद वंश में उत्पन्न हुआ था या उसकी माता का नाम मुरा था। उनमें तो केवल उसको मौर्य (मौर्यवंशी) माना है।

यूनानी लेखक प्लुटार्क का ऊपर लिखा हुआ कथन चंद्रगुप्त से अनुमानतः ४७५ वर्ष पीछे का है और उसमें भी सिकंदर के समय मगध पर राज्य करनेवाले राजा (महापद्म, नंद) को नाई का पुत्र लिखा है। उसने भी चंद्रगुप्त को नंद का पुत्र नहीं माना। मुद्राराक्षस में चंद्रगुप्त को संबोधन करने में कौटिल्य के मुख से 'वृषल' (शूद्र) शब्द का प्रयोग कराना उक्त नाटक के रचयिता की धृष्टता ही है, क्योंकि जब चन्द्रगुप्त जैसा सम्राट् कौटिल्य को आदर सहित 'आर्य' शब्द से संबोधन कर उसके चरणों के आगे सिर झुकाता है, तो क्या यह संभव है कि कौटिल्य उसका इस प्रकार अनादर करे?

चंद्रगुप्त का नंद वंश के साथ न तो कोई संबंध ही था, और न वह मुरा नाम की शूद्रा स्त्री से उत्पन्न हुआ था। वह तो हिमालय के निकट के एक प्रदेश का, जो मोर पक्षियों की अधिकता के कारण मौर्यराज्य कहलाता था, उच्चकुल का क्षत्रियकुमार था जैसा कि बौद्ध ग्रंथों से पाया जाता है[1]। मौर्य वंश नंद वंश की अपेक्षा प्राचीन था, क्योंकि ई० स० पूर्व

सर्वार्थसिद्धिनामासींत्तेषु विख्यातपौरुष।…॥ २४ ॥
राज्ञः पत्नी सुनन्दासीज्ज्येष्ठान्या वृषलात्मजा।
मुराख्या सा प्रिया भर्तुः शीललावण्यसंपदा ॥ २५ ॥
मुराप्रसूतं तनयं मौर्याख्यं गुणवत्तरं।…॥ ३१ ॥

मुद्राराक्षस की टीका का उपोद्घात; पृ० ४।

(१) मैक्क्रिंडल; 'इनवेज़न ऑव् इंडिया बाई अलेग्जैंडर दी ग्रेट'; पृ० ४०८; और महावंश की टीका।

४७७ (वि० सं० पूर्व ४२०) में जब बुद्धदेव का निर्वाण हुआ तो उनकी अस्थियों का विभाग लेने में अन्य क्षत्रियों के समान पिप्पलीवन के मौर्य क्षत्रियों ने भी दावा किया था[१]। बौद्ध लेखक मौर्यों का उसी (सूर्य) वंश में होना बतलाते हैं, जिसमें भगवान् बुद्धदेव का जन्म हुआ था। ऐसे ही जैन लेखक भी उनका सूर्यवंशी क्षत्रिय होना मानते हैं[२]। मौर्य राजा अशोक के समय बौद्ध धर्म का प्रचार भारत में बहुत बढ़ गया, जिससे ब्राह्मणों का मत निर्बल होता जाता था, अतएव धर्मद्वेष के कारण महापद्म के शूद्रा स्त्री से उत्पन्न होने और मौर्यों के बौद्ध-धर्म को अंगीकार कर लेने से ब्राह्मणों ने ऐसा लिख दिया हो कि नंद वंश से राजा शूद्र-प्राय और अधर्मी होंगे। पुराणों के इस कथन में उतनी ही सत्यता है, जितनी कि परशुराम के २१ बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय करने की कथा में है। जैसे खास परशुराम के समय और उनके पीछे भी क्षत्रिय राजा विद्यमान थे वैसे ही नंद वंश के समय तथा उसके पीछे भी अनेक क्षत्रिय वंशों का विद्यमान होना सिद्ध है। यह तो प्रत्यक्ष है कि न तो सारे पुराण एक ही समय में लिखे गये और न उनमें दी हुई वंशावलियां राजवंशों का क्रमवार होना सूचित करती हैं, किन्तु वे भिन्न भिन्न प्रदेशों पर राज्य करनेवाले कई समकालीन वंशों की सूचक हैं। उनमें वि० सं० की पांचवीं शताब्दी के आसपास तक होनेवाले राजवंशों का उल्लेख मिलता है। नंद और मौर्य वंशों के पीछे भी क्षत्रिय वंश विद्यमान था इसके बहुत से प्रमाण मिलते हैं, जिनमें से थोड़े से हम नीचे उद्धृत करते हैं—

(१) अश्वमेध या राजसूय यज्ञ सार्वभौम क्षत्रिय राजा ही करते थे[३]।

---

(१) कर्न; 'मैन्युअल् ऑव् इंडियन् बुद्धिज़म्'; पृ० ४६ (एन्साइक्लोपीडिया ऑव् इंडो आर्यन् रिसर्च में)।

(२) 'कुमारपालप्रबंध' में चित्तोड़ के मौर्यवंशी राजा चित्रांगद को रघुवंशी कहा है।

राममुनिराह पुरा रघोर्वंशे चित्रांगदो राजा अभिनवैः फलैः···।

(३) क्षत्रियस्यापि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि पार्थिव।

दद्याद्राजा न याचेत यजेत न च याजयेत ॥·· ॥

यह प्रथा वैदिक काल से चली आती थी। अश्वमेध आदि वैदिक यज्ञों का होना अशोक ने बंद किया, परन्तु मौर्यवंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ को मारकर उसका सेनापति पुष्यमित्र उसके साम्राज्य का स्वामी बना। उसने फिर वैदिक धर्म के अनुसार दो अश्वमेध यज्ञ किये[1]। पुष्यमित्र के यज्ञ में महाभाष्य के कर्ता पतंजलि भी विद्यमान थे[2]। यदि वह शूद्र होता तो संभव नहीं कि पतंजलि जैसे विद्वान् ब्राह्मण उसके यज्ञ में संमिलित होते। पुष्यमित्र के पीछे आंध्र[3] (सातवाहन), वाकाटक[4] आदि कई वंश के राजाओं ने अश्वमेध आदि यज्ञ किये ऐसा शिलालेखादि से सिद्ध है।

(२) कटक (उड़ीसे में) के पास उदयगिरि की हाथी गुफ़ा में खुदे हुए वि० सं० पूर्व की दूसरी शताब्दी के राजा खारवेल के लेख में कुसंब जाति के क्षत्रियों का उल्लेख है[5]।

(३) शक उषवदात के नासिक के पास की पांडव गुफ़ा के लेख में, जो वि० सं० की दूसरी शताब्दी का है, लिखा है—'मैं (उषवदात) भट्टारक (नहपान) की आज्ञा से मालयों (मालवों) से घिरे हुए उत्तमभाद्रों को मुक्त करने को वर्षा ऋतु में गया और मालव मेरे पहुंचने का शोर सुनते ही भागे, परंतु वे सब उत्तमभाद्र क्षत्रियों के बंधुए बनाये गये। वहां

पालयित्वा प्रजाः सर्वा धर्म्मेण जयताम्बर ।
राजसूयाश्वमेधादीन् मखानन्यांस्तथैव च ॥

'पद्मपुराण'; स्वर्गखंड, अध्याय २८; 'शब्दकल्पद्रुम'; कांड २, पृ० २२७।

(१) ना. प्र. प; भाग ५, पृ० ६६–१०४; २०२।

(२) ना. प्र. प; भाग ५, पृ० २०३, टिप्पण †।

(३) खड्गविलास प्रेस (बांकीपुर) का छपा हिंदी 'टॉड राजस्थान'; खंड १, पृ० ५१४।

(४) वही; पृ० ५३१।

(५) कुसंवानं खतियं च सहायवता पतं मसिकनगरं (कुसंवानां क्षत्रियाणां च सहायवता प्राप्तं मसिकनगरं) भगवानलाल इंद्रजी; 'दी हाथी गुंफा एंड थ्री अदर इन्स्क्रिप्शन्स'; पृ० २४ और ३६।

से मैंने पुष्कर में जाकर स्नान किया और वहां ३००० गौ और एक गांव दान में दिया[1]"।

(४) मथुरा के आसपास के प्रदेश पर महाभारत के युद्ध से पूर्व भी यदुवंशी राज्य करते थे, जो समय के हेर-फेर सहते हुए अब तक विद्यमान हैं। शूरसेनवंशी यादवों के कई प्राचीन शिलालेख उसी प्रदेश से मिल चुके हैं[2]।

(५) शक सं० ७२ (वि० सं० २०७=ई० स० १५०) के आसपास के गिरनार पर्वत के निकट एक चट्टान पर खुदे हुए, क्षत्रपवंशी राजा रुद्रदामा के लेख में लिखा है—"उसने क्षत्रियों में 'वीर' पदवी धारण करनेवाले यौधेयों को नष्ट किया था।" उसमें यौधेयों को स्पष्ट रूप से क्षत्रिय लिखा है[3]। इस विषय का विशेष वर्णन यौधेयों के परिचय में लिखा जायगा।

(६) जग्गयपेट के शिलालेख में जो वि० सं० की तीसरी शताब्दी के आसपास का है, माढरीपुत्र राजा श्रीवीरपुरुषदत्त को इक्ष्वाकुवंशी[4] बतलाया है। ऐसे ही नागार्जुनीकोंड (मद्रास प्रेसीडेंसी के गन्टूर ज़िले में) से मिले हुए कई शिलालेखों में जो वि० सं० की तीसरी शताब्दी के आसपास के हैं, महाराज वाशिष्ठी पुत्र चांतमूल को इक्ष्वाकुवंशी[5] कहा है। इन

---

(१) भटारका अंजातिया च गतोस्मि वर्षारतुं मालयेहि रुधं उतमभाद्रं मोचयितुं ते च मालया प्रनादेनेव अपयाता उतमभद्रकानं च क्षत्रियानं सर्वे परिग्रहा कृता ततोस्मि गतो पोक्षरानि तत्र च मया अभिसेको कृतो त्रीणि च गोसहस्रानि दतानि ग्रामो च (ए. इं; जि. ८, पृ० ७८)।

(२) देखो ऊपर पृ० ६५ ।

(३) सर्व्वक्षत्राविष्कृतवीरशब्दजातोत्सेकाविधेयानां यौधेयानां प्रसह्योत्सादकेन (ए. इं; जि ८, पृ० ४४ और ४७)।

(४) सिधं । रञे(ञो) माढरिपुतस इखाकुना(णं) सिरिविरपुरिसदतस संवछर २० । ('भारतीय प्राचीन लिपिमाला'; पृ ४८; लिपिपत्र १२)।

(५) महाराजस······वासिठि पुत स इखाकुस सिरिचांतमूलस सोदरा भगिनी········। एपिग्राफिआ इंडिका, जि० २०, पृ० १६ ।

प्रमाणों से स्पष्ट है कि नंद और मौर्य वंश के पीछे भी क्षत्रिय राजवंश विद्यमान थे।

राजपूतों को क्षत्रिय न माननेवालों की एक दलील यह भी है कि राजपूतों में चौहान, सोलंकी, प्रतिहार और परमार ये चार कुल अग्निवंशी हैं और उनके मूल पुरुषों का आबू पर वसिष्ठ के अग्निकुंड से उत्पन्न होना बतलाया जाता है। अग्नि से उत्पत्ति मानने का तात्पर्य यही है कि वे क्षत्रिय नहीं थे, जिससे उनको अग्नि की साक्षी से संस्कार कर क्षत्रियों में मिला लिया। इसका उत्तर यह है कि इन चार राजवंशों का अग्निवंशी होना केवल 'पृथ्वीराजरासे' में लिखा है, परंतु उसके कर्ता को राजपूतों के प्राचीन इतिहास का कुछ भी ज्ञान न था, जिससे उसने मनमाने झूठे संवत् और बहुधा अप्रामाणिक घटनाएं उसमें भर दी हैं। ऐसे ही वह पुस्तक वि० सं० की १६ वीं शताब्दी के पूर्व की बनी हुई भी नहीं है। जो विद्वान् 'पृथ्वीराजरासे' को सम्राट् पृथ्वीराज के समय का बना हुआ मानते हैं उन में से किसी ने भी उसकी पूरी जांच नहीं की। यदि वह प्राचीन शोध की कसौटी पर कसा जाता तो उसकी वास्तविकता प्रकट हो जाती। जब से प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर बूलर को कश्मीर से कश्मीरी पंडित जयानक का बनाया हुआ और पृथ्वीराज के समय में ही लिखा गया 'पृथ्वीराजविजय महाकाव्य', प्राप्त हुआ, तब से शोधक बुद्धि के विद्वानों की श्रद्धा 'पृथ्वीराजरासे' पर से उठ गई है।

अब यह देखना आवश्यक है कि वि० सं० की १६ वीं शताब्दी के पूर्व चौहान आदि राजवंशी अपने को अग्निवंशी मानते थे अथवा नहीं। वि० सं० ८१३ (ई० स० ७५६) से लगाकर वि० सं० १६०० (ई० स० १५४३) तक के चौहानों के बहुत से शिलालेख, दानपत्र तथा ऐतिहासिक संस्कृत पुस्तकें मिली हैं, जिनमें से किसी में उनका अग्निवंशी होना नहीं लिखा। 'पृथ्वीराजविजय' में जगह-जगह उनको सूर्यवंशी[1] बतलाया है।

---

(१) काकुत्स्थमिक्ष्वाकुरघू च यद्दधत्पुराभवत्त्रिप्रवरं रघोः कुलम्।

पृथ्वीराज से पूर्व अजमेर के चौहानों में विग्रहराज (बीसलदेव चौथा) बड़ा विद्वान् और वीर राजा हुआ, जिसने अजमेर में एक सरस्वती मंदिर स्थापित किया था। उसमें उसने अपना रचा हुआ 'हरकेलिनाटक' तथा अपने राजकवि सोमेश्वररचित 'ललितविग्रहराजनाटक' को शिलाओं पर खुदवाकर रखवाया था। वहीं से मिली हुई एक बहुत बड़ी शिला पर किसी अज्ञात कवि के बनाये हुए चौहानों के इतिहास के किसी काव्य का प्रारंभिक अंश खुदा है। इसमें भी चौहानों को सूर्यवंशी ही लिखा है[1]। वि० सं० १४५० (ई० स० १३९३) के आसपास ग्वालियर के तंवर राजा वीरम के दरबार में प्रतिष्ठा पाये हुए जैन-विद्वान् नयचंद्रसूरि ने 'हंमीरमहाकाव्य' नामक चौहानों के इतिहास का ग्रंथ रचा, जिसमें भी चौहानों को सूर्यवंशी होना माना है[2]। अतएव स्पष्ट है कि वि० सं० की १६ वीं शताब्दी के पूर्व

कलावपि प्राप्य सचाहमानतां प्ररूढतुर्यप्रवरं बभूव तत् ॥ २ । ७१ ॥
... ... भानोः प्रतापोन्नतिं ।
तन्वन्गोत्रगुरोर्निजेन नृपतेर्जज्ञे सुतो जन्मना ॥ ७ । ५० ॥
सुतोप्यपरगाङ्गेयो निन्येस्य रविसूनुना ।
उन्नतिं रविवंशस्य पृथ्वीराजेन पश्यता ॥ ८ । ५४ ॥
'पृथ्वीराजविजयमहाकाव्य'।

(१) ....देवो रविः पातु वः ॥ ३३ ॥
तस्मात्समालंव(ब)नदंडयोनिरभूज्जनस्य स्खलतः स्वमार्गे ।
वंशः स दैवोढरसो नृपाणामनुद्गतैनोघुणकीटरंध्रः ॥ ३४ ॥
समुत्थितोर्कोदनरण्ययोनिरुत्पन्नपुन्नागकदंव(ब)शाखः ।
आश्चर्यमंतःप्रसरत्कुशोयं वंशोर्थिनां श्रीफलतां प्रयाति ॥ ३५ ॥
आधिव्याधिकुवृत्तदुर्गतिपरित्यक्तप्रजास्तत्र ते ।
सप्तद्वीपभुजो नृपाः समभवन्निक्ष्वाकुरामादयः ।...॥ ३६ ॥
तस्मिन्नथारिविजयेन विराजमानो राजानुरंजितजनोजनि चाहमानः ।
...॥ ३७ ॥

(२) 'हंमीरमहाकाव्य'; सर्ग १।

चौहान अपने को अग्निवंशी नहीं मानते थे।

शक सं० ५०० (वि० सं० ६३५=ई० स० ५७८) से लगाकर वि० सं० की १६ वीं शताब्दी तक सोलंकियों के अनेक दानपत्र, शिलालेख तथा कई ऐतिहासिक संस्कृत ग्रंथ मिले, जिनमें कहीं उनका अग्निवंशी होना नहीं लिखा, किन्तु उसके विरुद्ध उनका चद्रवंशी और पांडवों की संतान होना जगह-जगह बतलाया है[1]।

वि० सं० ८७२ (ई० स० ८१५) से लगाकर वि० सं० की १४ वीं शताब्दी के पीछे तक प्रतिहारों (पड़िहारों) के जितने शिलालेख, दान-पत्रादि मिले उनमें कहीं भी उनका अग्निवंशी होना नहीं माना। वि० सं० ९०० (ई० स० ८४३) के आसपास की ग्वालियर से मिली हुई प्रतिहार राजा भोजदेव की बड़ी प्रशस्ति में प्रतिहारों को सूर्यवंशी बतलाया है[2]। ऐसे ही वि० सं० की दसवीं शताब्दी के मध्य में होनेवाले प्रसिद्ध कवि राज-शेखर ने अपने नाटकों में अपने शिष्य महेन्द्रपाल (निर्भयनरेन्द्र) को, जो उक्त भोजदेव का पुत्र था, 'रघुकुलतिलक'[3] कहा है।

---

(१) सोलंकियों की उत्पत्ति के विषय के जो-जो प्रमाण उनके शिलालेखों, दानपत्रों और ऐतिहासिक संस्कृत पुस्तकों में मिले वे सब मैंने 'सोलंकियों के प्राचीन इतिहास' के प्रथम भाग में पृ० ३ से १३ तक एकत्रित किये हैं।

(२) मन्विक्ष्वाकुककुस्थ(त्स्थ)मूलपृथवः क्ष्मापालकल्पद्रुमाः ॥२॥
तेषां वंशे सुजन्मा क्रमनिहतपदे धाम्नि वज्रेषु घोरं
रामः पौलस्त्यहिन्श्रं (हिंस्रं) क्षतविहितसमित्कर्म्म चक्रे पलाशैः।
श्लाघ्यस्तस्यानुजोसौ मघवमदमुषो मेघनादस्य संख्ये
सौमित्रिस्तीव्रदंडः प्रतिहरणविधेर्यः प्रतीहार आसीत् ॥ ३ ॥
तद्वंशे प्रतिहारकेतनभृति त्रैलोक्यरक्षास्पदे
देवो नागभटः पुरातनमुनेर्मूर्तिर्ब्बभूवाद्भुतम् ।

'आर्कियालॉजिकल् सर्वे ऑव् इंडिया'; एन्युअल रिपोर्ट; ई० स० १९०३-४; पृ० २८०।

(३) रघुकुलतिलको महेन्द्रपालः ('विद्धशालभंजिका'; १ । ६)।

ऊपर उद्धृत किये हुए प्रमाणों से यह तो स्पष्ट है कि चौहान, सोलंकी और प्रतिहार पहले अपने को अग्निवंशी नहीं मानते थे, केवल 'पृथ्वीराजरासा' बनने के पीछे उसी के आधार पर वे अपने को अग्निवंशी कहने लगगये हैं।

अब रहे परमार। मालवे के परमार राजा मुंज (वाक्पतिराज, अमोघवर्ष) के समय अर्थात् वि० सं० १०२८ से १०५४ (ई० स० ९७१ से ९९७) के आसपास होनेवाले उसके दरबार के पंडित हलायुध ने 'पिंगलसूत्रवृत्ति' में मुंज को 'ब्रह्मक्षत्र'[1] कुल का कहा है। ब्रह्मक्षत्र शब्द का प्रयोग प्राचीन काल में उन राजवंशों के लिए होता रहा, जिनमें ब्रह्मत्व और क्षत्रत्व दोनों गुण विद्यमान हों[2] या जिनके वंशज क्षत्रिय से ब्राह्मण हुए हों। मुंज के

देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणिः।

'बालभारत'; १।११।

तेन (=महीपालदेवेन) च रघुवंशमुक्तामणिना (बालभारत)।

महीपाल महेन्द्रपाल का पुत्र था।

(१) ब्रह्मक्षत्रकुलीनः प्रलीनसामन्तचक्रनुतचरणः।
सकलसुकृतैकपुञ्जः श्रीमान्मुञ्जश्चिरं जयति॥ 'पिंगलसूत्रवृत्ति'।

(२) देवपाड़ा से मिले हुए बंगाल के सेनवंशी राजा विजयसेन के शिलालेख में उक्त राजा के पूर्वजों का चंद्रवंशी होना और राजा सामंतसेन को ब्रह्मवादी और 'ब्रह्मक्षत्रियकुल' का शिरोमणि कहा है—

तस्मिन् सेनान्ववाये प्रतिसुभटशतोत्सादनब्र(ब्र)ह्मवादी।
स ब्र(ब्र)ह्मक्षत्रियाणामजनि कुलशिरोदामसामन्तसेनः॥

ए. इं; जि. १, पृ० ३०७।

मत्स्य, वायु, विष्णु और भागवत पुराणों में पौरव (पांडु) वंश का वर्णन करते हुए अंतिम राजा क्षेमक के प्रसंग में लिखा है कि पुरुवंश में २५ राजा होंगे। इस संबंध में प्राचीन ब्राह्मणों का कथन है कि ब्रह्मक्षत्र (ब्राह्मण और क्षत्रिय) को उत्पन्न करनेवाले तथा देवताओं एवं ऋषियों से सत्कार पाये हुए इस कुल में अंतिम राजा क्षेमक होगा—

ब्रह्मक्षत्रस्य यो योनिर्वंशो देवर्षिसत्कृतः।
क्षेमकं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ॥

समय से पीछे के शिलालेखों तथा ऐतिहासिक पुस्तकों में परमारों के मूल-पुरुष का आबू पर वसिष्ठ के अग्निकुंड से उत्पन्न होना अवश्य लिखा मिलता है, परंतु यह कल्पना भी इतिहास के अंधकार में पीछे से की हुई प्रतीत होती है। परमारों के शिलालेखों में उक्त वंश के मूलपुरुष का नाम धूमराज[1] मिलता है। धूम अर्थात् धुआं अग्नि से उत्पन्न होता है; शायद इसी पर परमारों के मूलपुरुष का अग्निकुण्ड से निकलना और उसके अग्निवंशी कहलाने की कथा पीछे से प्रसिद्ध हो गई हो तो आश्चर्य नहीं।

सारांश यह है कि चौहान, सोलंकी और प्रतिहार तो वि० सं० की १६ वीं शताब्दी तक अपने को अग्निवंशी मानते ही नहीं थे और राजा मुंज के समय तक परमार भी ब्रह्मक्षत्र कहे जाते थे, न कि अग्निवंशी। ऐसी दशा में 'पृथ्वीराजरासे' का सहारा लेकर जो विद्वान् इन चार राजपूत वंशों का क्षत्रिय होना नहीं मानते यह उनकी हठधर्मी है, वास्तव में ये राजपूत भी प्राचीन क्षत्रिय जाति के ही वंशधर हैं।

राजपूतों के रीति-रिवाज अन्य विदेशी जातियों से मिलते-जुलते होने के कारण कर्नल टॉड आदि योरोपियन विद्वानों ने उनको शक आदि विदेशी जातियां मानने में जो प्रमाण दिये हैं, उनका निराकरण तो हम ऊपर

'मत्स्यपुराण'; अध्याय ५०, श्लो० ८८। 'वायुपुराण'; अ० ६६, श्लो० २७८-७९। 'विष्णुपुराण'; अंश ४, अध्याय २०। 'भागवत'; सर्ग ९, अ० २२, श्लो० ४४-४५।

यहां ब्रह्मक्षत्र शब्द से यही अभिप्राय है कि 'ब्राह्मण और क्षत्रियगुणयुक्त'; अर्थात् जैसे सूर्यवंश में मांधाता के वंशज विष्णुवृद्ध, हरितादि क्षत्रिय ब्राह्मण हो गये उसी तरह चंद्रवंश में विश्वामित्र, अरिष्टसेन आदि क्षत्रिय भी ब्रह्मत्व को प्राप्त हो गये थे।

(१) श्रीधूमराजः प्रथमं बभूव भूवासवस्तत्र नरेंद्रवंशे।...॥३३॥

आबू पर के तेजपाल के मंदिर के वि० सं० १२८७ के शिलालेख से।

आनीतधेन्वे परनिर्जयेन मुनिः स्वगोत्रं परमारजातिम्।
तस्मै ददावुद्धतभूरिभाग्यं तं धौमराजं च चकार नाम्ना॥

आबू के नीचे के गिरवर गांव के पासवाले पाटनारायण के मंदिर की वि० सं० १३४४ की प्रशस्ति की छाप से।

कर चुके, अब हम नीचे महाभारत और कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से कुछ उदाहरण उस समय के रीति-रिवाजों के देते हैं, जब कि शक, कुशन आदि विदेशियों का भारत के किसी विभाग पर अधिकार ही नहीं हुआ था। उनमें से कई रीति-रिवाज अब तक भी राजपूतों में विद्यमान हैं।

महाभारत के समय राजधानियां तथा अन्य बड़े नगरों के ऐसे ही गढ़ों के चारों ओर ऊंची-ऊंची दीवारें बनवाकर उनके गिर्द जल से भरी हुई गहरी खाई बनाई जाती थी। राजाओं के अंतःपुर पुरुषों के निवासस्थानों से अलग बनते थे, जिनमें विस्तीर्ण मैदान, उद्यान और क्रीडास्थान भी होते थे। क्षत्रिय रमणियों के लिए परदे का रिवाज इतना कड़ा न था जितना कि आज है। क्रूरता के साथ पुरुषों का पुरुषत्व नष्ट कर अंतःपुर की रक्षा निमित्त उनको नपुंसक बनाने की दुष्ट पद्धति भी नहीं थी। मद्य आदि नशीली चीज़ों का निरोध किया जाता और मद्य की दुकानों और वेश्याओं पर कड़ा निरीक्षण रहता था।

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से पाया जाता है कि उस समय धूपघड़ी और नालिकाएं रक्खी जाती थीं। रात में पहर रात के आसपास तुरही बजने पर राजा शयनगृह में जाता और प्रातःकाल तुरही का शब्द होने पर उठ जाता था। योगी और जादूगर सदा प्रसन्न रक्खे जाते थे। अंतःपुर के चारों ओर ऊंची-ऊंची दीवारें होतीं, दरवाज़ों पर देवताओं की मूर्तियां बनाई जातीं, महलों में सुरंगें होतीं और कितने एक तांत्रिक प्रयोगों पर विश्वास होने से उनपर अमल किया जाता था। शस्त्रधारी स्त्रियां अंतःपुर की रक्षा के लिए रहतीं और स्वयं राजा के शरीर की सेवा भी प्रायः स्त्रियां ही किया करती थीं[1]। अंतःपुर में छल-प्रपंच चला करते थे। राजा की सवारी के

(१) मौर्य राजा चंद्रगुप्त के दरबार में रहनेवाला यूनानी राजदूत मैगास्थिनीज़ लिखता है—'राजा के शरीर की रक्षा का भार स्त्रियों पर रहता है। जब राजा महल से बाहर जाता तब भी बहुतसी स्त्रियां उसके शरीर के निकट रहतीं और उनके घेरे के बाहर भाला धारण किये पुरुष रहते थे' (इं. ऐं; जि. ६, पृ० १३२)। कालिदास के 'शाकुंतल' नाटक से पाया जाता है कि राजा बाहर जाता उस समय शस्त्रधारी स्त्रियां साथ रहती थीं ('अभिज्ञानशाकुंतलनाटक'; पृ० १७१)। इन कामों के लिए बहुत

समय मार्ग में दोनों ओर पुलिस का प्रबन्ध रहता और गौओं के चरने और तपस्वियों के रहने के लिए नगरों और गांवों के आसपास भूमि छोड़ी जाती थी। शिकार के लिए जंगल रक्षित रहते थे। नगरों के चारों ओर पक्के कोट बनवा कर उनके गिर्द खाई खुदवाई जाती थी। मार्गों में पत्थर पाटे जाते थे। गढ़ के दरवाज़े पर भिन्न भिन्न देवताओं की मूर्तियां रहती थीं, वेश्याएं राजा के साथ रहतीं, राजा की वर्षग्रंथी पर क़ैदी छोड़े जाते और भूतप्रेतों की पूजा होती थी। दास दासियों का क्रय-विक्रय होता, परंतु आर्य जाति के स्त्री पुरुष दास नहीं बनाये जाते थे[1]।

यहां तक विस्तार के साथ यह बतलाया जा चुका है कि राजपूत प्राचीन क्षत्रियों के ही वंशधर हैं और जो लेखक ऐसा नहीं मानते उनका कथन प्रमाणशून्य है। अब महाभारत आदि के समय में क्षत्रियों के राज्य-प्रबंध, युद्धप्रणाली, युद्ध के नियम आदि का संक्षेप से उल्लेख कर अन्त में क्षत्रिय जाति की अवनति के कितनेक मुख्य-मुख्य कारणों का दिग्दर्शन मात्र कराते हैं।

राज्यप्रबंध और न्याय का काम राजा आठ मुख्य मंत्रियों की सलाह से चलाते थे (वही अठकौशल अब तक राजपूताने में प्रसिद्ध है)। ये मंत्री प्रधान, सेनापति, पुरोहित, गुप्तचर विभाग का अध्यक्ष, दुर्गाध्यक्ष, न्यायाधीश, आयव्ययाधिपति (आमद-ख़र्च के विभाग का दारोगा) और महासांधिविग्रहिक (दूसरे राज्यों से संधि या युद्ध करने का अधिकारी) थे। इनके अतिरिक्त ज़िलों के हाकिम तथा प्रजा के सब वर्णों के श्रेष्ठ पुरुष भी राजसभा में संमिलित रहते थे। महाभारत काल में राजा स्वयं प्रतिदिन दरबार में आकर न्याय करता था और उसकी सहायता के वास्ते एक राजसभा भी रहती थी, जिसमें ४ वेदवित् तथा सदाचारी गृहस्थ ब्राह्मण, ८ बलवान्

सी स्त्रियां यवनादि देशों से भी लाई जाती थीं। बाणभट्ट की 'कादंबरी' से भी पाया जाता है कि उस समय भी राजा की सेवा करनेवाली अर्थात् स्नान कराने, पान खिलाने, चंवर करनेवाली स्त्रियां ही होती थीं।

(१) कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित होचुका है। पाठक उसमें भिन्न भिन्न स्थलों पर इन बातों को देख लें।

एवं शस्त्रकुशल क्षत्रिय, २१ धनवान् वैश्य और पवित्र तथा विनयसम्पन्न ३ शूद्र सम्मिलित रहते थे[1]। यह केवल न्यायसभा ही नहीं, किन्तु देश के प्रबन्ध से संबंध रखनेवाली सभा भी थी। राग-द्वेष को छोड़कर धर्माचरण करना, कार्य में शिथिलता न करना, मदोन्मत्त होकर विषय-भोग में न पड़ना, शूरवीर होना, दानशूर बनना परंतु कुपात्र को दान न देना, नीच पुरुषों की संगति न करना, स्त्रीसेवन में सदा नियमित रहना, सदाचारियों का सम्मान करना और दुराचारियों को दंड देना, समय को अमूल्य समझना, प्रजा के कल्याणकारी प्रयत्न सदा सोचना और उनको कार्य में परिणित करना, योग्य और कार्य-कुशल पुरुषों को अधिकार देना, व्यापारी और कारीगरों की सहायता कर व्यापार और कलाकौशल की सदा उन्नति करना, प्रजा पर ऐसे करों का न लगाना जिनसे उसे कष्ट हो, आलस्य को पास न फटकने देना एवं विद्या और धर्म की उन्नति करना इत्यादि राजा के मुख्य ३६ गुण माने जाते थे[2]। राजा का अंतिम मुख्य कर्त्तव्य यही था कि वह ईश्वर का भय रखकर सत्यमार्ग से कभी क़दम बाहर न रक्खे क्योंकि सारी राज्यसत्ता का मुख्य आधारस्तंभ सत्य ही है। यदि राजा सत्यपथ का त्याग कर दे तो अवश्य प्रजा भी उसका अनुकरण करेगी क्योंकि 'यथा राजा तथा प्रजा'।

यह प्राचीन राज्य-व्यवस्था का संक्षिप्त विवेचन है अब सेना और युद्धसंबंधी प्राचीन दशा का भी कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। सेना चार प्रकार की होती थी—पदाति (पैदल), अश्व (घुड़सवार), गज (हाथी-सवार), और रथ। इसको चतुरंगिनी सेना कहते थे। हाथी ऐसे सधाये जाते कि उन्हें मतवाला कर उनकी शुंडों में दुधारे खड्ग दे शत्रुओं पर पेल देते थे[3]। प्रत्येक सैनिक को अपने-अपने कार्य में निपुणता प्राप्त करने के

---

(१) 'महाभारत'; शांतिपर्व, अध्याय ८५।

(२) इन ३६ गुणों का विवेचन 'महाभारत' के शांतिपर्व में किया है। देखो 'हिंदी महाभारत मीमांसा'; पृ० ३१०।

(३) प्राचीन काल में हाथी सेना के मुख्य अंग समझे जाते थे। अग्रभाग में

वास्ते वर्षों तक सैनिक शिक्षा दी जाती थी। सेना का वेतन नियत समय पर अन्न तथा रोकड़ के रूप में दिया जाता था। प्रत्येक दस, सौ एवं हज़ार योद्धाओं पर एक एक अफ़सर अलग-अलग रहता था। व्यूहरचना अर्थात्

थोड़े थोड़े अंतर से उनकी पंक्ति बांधकर बीच में और बाज़ू पर पैदल धनुर्धारी रक्खे जाते थे। राजा भी युद्ध के समय प्रायः हाथी पर ही सवार हुआ करते थे। पोरस जब सिकंदर से लड़ा तब उसने अपने हाथियों की पंक्ति आगे की तरफ़ लगाकर एक-एक सौ फुट के अंतर पर उन्हें खड़े कर उनके पीछे व बीच में पैदलों को रक्खा था। पैदलों के दोनों ओर सवार और उनके आगे रथ थे। सिकंदर ने पहले शत्रु के बाज़ू पर हमला किया, तीरों की मार से हिन्दू सेना सिमट कर मध्य भाग में आगई, घुड़सवारों पर धावा होने से वे भी घबराकर हाथियों के पास चले आये। महावतों ने हाथियों को दुश्मन के बढ़ते हुए सवारों पर हूला, परंतु यूनानियों ने उनको तीरों की मार से रोका और सवारों पर भी तीर चलाना शुरू किया। जब हाथियों पर चारों ओर से बाणों की बौछार होने लगी और आगे तो शत्रु की मार और पीछे अपनी सेना का उभार होने से उनको आगे बढ़ने को स्थान न मिला, तब तो भयभीत होकर वे पीछे मुड़े। उन्होंने शत्रुओं की अपेक्षा मित्रों को विशेष हानि पहुंचाई और वे अंधाधुंध उनको गूंधते, हटाते और कुचलते हुए पीछे हटने लगे। महावत तीरों की मार से गिरा दिये गये और निरंकुश हाथियों ने पीछे हटकर पोरस की सेना को विचलित कर दिया। उसी वक्त सिकंदर ने सामूहिक-रूप से धावा करके विजय प्राप्त करली और हाथी पर सवार राजा पोरस घायल होने पर बंदी बना लिया गया (मैक् क्रिंडल; 'दी इन्वेज़न ऑव् इंडिया बाई अलेग्ज़ैंडर दी ग्रेट'; पृ० १०२-३)। युद्धकाल में राजा और सेनापतियों का हाथी सवार होकर राजचिह्नों को साथ रखना भी अनेक लड़ाइयों में राजपूतों की हार का कारण बन गया, क्योंकि शत्रु उनको तुरंत पहचान कर अपना लक्ष्य बना लेते, और एक सेनानायक के मारे जाने या उसके वाहन के मुड़ जाने से सारी सेना पीठ दिखा देती थी। सिंध का राजा दाहिर हाथी पर सवार होने ही से घायल हुआ और उसके हाथी के भड़ककर भागने से उसकी सेना भी भाग निकली। महमूद ग़ज़नवी के साथ लाहौर के राजा अनंदपाल के युद्ध में राजा का हाथी भागा, जिसपर सारी सेना ने पीठ दिखाई। हाथी सवार होने ही से कन्नौज का राजा जयचंद गहरवार आसानी के साथ शत्रु का लक्ष्य बन गया। बयाने के प्रसिद्ध युद्ध में महाराणा सांगा भी हाथी पर सवार था। शत्रु ने ताक कर तीर मारा, जिससे महाराणा घायल हुआ और बाबर की फ़तह हो गई। ऐसे और भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। मुसलमान बादशाह भी प्रायः लड़ाई के वक्त हाथी पर सवार हुआ करते थे, परंतु अब तो हाथियों का युद्ध में उपयोग ही नहीं रहा।

क़वायद भी सिखलाई जाती और चतुरंगिनी सेना के साथ विष्टि (बारबरदारी), नौकर, जासूस और दैशिक भी रहते थे। पैदल सेना के आयुध धनुष-बाण, ढाल-तलवार, भाला, फरसा, तोमर (लोहे का डंडा) आदि थे। गदा केवल द्वंद्वयुद्ध में काम आती थी। घुड़सवारों के पास तलवार और बरछे रहते थे। रथी और महारथी रथों पर सवार होते और कवच धारण करते थे। उनके धनुष पुरुष-नाप के और बाण तीन-तीन हाथ लंबे होते थे। बाणों के फल बहुत तीक्ष्ण और भारी होते जो लोहे की मोटी चद्दरों तक को वेध कर पार हो जाते थे। अस्त्रों में अग्न्यस्त्र, वायवास्त्र, विद्युतास्त्र आदि के नाम मिलते हैं। अस्त्रविद्या का जाननेवाला अनस्त्रविद् पर अपने अस्त्रों का प्रयोग नहीं करता था। रथ[1] दो पहियों के होते और उनमें चार घोड़े जुतते थे। उनके शिखरों पर भिन्न-भिन्न चिह्नोंवाली पताकाएं रहती थीं। रथी के पास बाण, शक्ति आदि आयुधों का संग्रह रहता था। रथी या महारथी अपने सिर पर लोहे का टोप, शरीर पर कवच, हाथों पर गोधांगुलित्राण और अंगुलियों की रक्षा के लिए भी आवरण रखता था। सारथी भी कवचादि से सुरक्षित रहता था। रथी या सेनापति सेना के आगे रहता और प्रायः दोनों पक्ष के सेनापतियों में

---

(१) रथों का युद्ध समभूमि में होता था। सिकंदर के साथ पोरस जब लड़ा तो उसकी सेना में रथ भी थे। "राजा ने यूनानियों को रोकने के वास्ते एक सौ रथ और ४ हज़ार अश्वारोही आगे भेजे। प्रत्येक रथ में ४ घोड़े जुते थे और उसके साथ ६ आदमी थे, जिनमें से दो तो हाथ में ढाल पकड़े, दो दोनों ओर धनुष लिये खड़े थे, और दो सारथी थे। ये सारथी भी लड़नेवाले होते थे। युद्ध आरंभ होने पर ये घोड़ों की बागें छोड़ हाथों से शत्रु पर भाले फेंकने लगते थे । युद्धकाल के पहले वृष्टि हो जाने से कीचड़ के कारण रथ आसानी के साथ इधर-उधर मुड़ नहीं सकते थे आदि" (मैक्क्रिंडल; इनवेज़न ऑव् इंडिया बाई अलेक्ज़ैंडर दी ग्रेट; पृ० २०७-८)।

भारत युद्ध में रथ के घोड़े तो ४ ही जुतते, परंतु उसमें एक ही धनुर्धर और एक सारथी रहता था। दो चक्ररक्षक अलबत्ता साथ रहते, जो महारथी के रथ के साथ-साथ दोनों बाजू दूसरे दो रथों में बैठे चलते थे। यूनानियों के आने के पीछे भारतीय सेना में रथ रखने की रीति लुप्तप्राय होती गई।

द्वंद्वयुद्ध भी हुआ करता था[1]।

युद्ध के नियम बंधे हुए थे और नियमानुकूल युद्ध धर्मयुद्ध कहलाता था। विषदिग्ध और कर्णी (आंकड़ेदार) बाणों का प्रयोग नहीं किया जाता था। रथी से रथी, हाथी से हाथी, अश्व से अश्व और पैदल से पैदल लड़ते थे। दोनों योद्धाओं के शस्त्र समान होते। दुःखाकुल स्थिति में शत्रु पर प्रहार नहीं किया जाता था; भयभीत, पराजित और पलायन करनेवाले को नहीं मारते थे। प्रतिपक्षी का शस्त्र भंग हो जाय, धनुष की प्रत्यंचा टूट जाय, योद्धा का कवच निकल पड़े अथवा उसका वाहन नष्ट हो जाय तो उसपर शस्त्र नहीं चलाया जाता था। सोते हुए, थके हुए, प्यासे, भोजन या जल-पान करते हुए तथा घासदाना लाते समय शत्रु पर वार नहीं किया जाता था। युद्ध के समय कृषिकारों को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचाई जाती और न प्रजा को दुःख दिया जाता था। युद्ध में घायल हुए शत्रुओं को या तो उनके कटक में पहुंचा देते या विजेता उनको अपने यहां लाकर उनके घावों की मरहमपट्टी करवाता और चंगे होने पर उन्हें मुक्त कर देता। कहीं-कहीं इन नियमों का उल्लंघन होना भी पाया जाता है, परंतु ऐसे उदाहरण कम मिलते हैं और वे निंदनीय समझे जाते थे।

इनमें से बहुतेरे नियम राजपूत जाति में मुग़ल राज्य के प्रारंभकाल के आसपास तक पाये जाते थे, जैसे चित्तोड़ के महाराणा सांगा ने मालवे के सुलतान महमूद ख़िलजी (दूसरे) को युद्ध में परास्त किया, सुलतान घायल होकर रणखेत में पड़ा था, जिसको उठवा कर वह अपने डेरे में लाया और उसका इलाज करवाया। आराम हो जाने पर पीछा उसे अपने राज्य पर बिठा दिया। जब आंबेर का कुंवर मानसिंह महाराणा प्रतापसिंह पर बादशाह अकबर की तरफ़ से फ़ौज लेकर आया तो उसकी सेना का पड़ाव महाराणा की सेना से कुछ ही कोस के अंतर पर था। युद्ध छिड़ने के पूर्व कुंवर मानसिंह एक दिन थोड़े साथियों सहित शिकार को गया था, जिसकी सूचना गुप्तचरों ने महाराणा के पास पहुंचाई और सामंतों ने निवेदन

(१) हिंदी महाभारत मीमांसा; पृ० ३५०।

किया कि अच्छा अवसर हाथ आया है, अवश्य शत्रु को मार लेना चाहिये; परंतु वीर राणा ने यही उत्तर दिया—'इस तरह छल और दग़ा के साथ शत्रु को मारना शूरवीर क्षत्रियों का धर्म नहीं है।'

क्षत्रियों का मुख्य धर्म आपत्काल में राष्ट्र के निमित्त शत्रु से संग्राम कर प्रजा की रक्षा करना और विजय किये हुए देशों का नीतिपूर्वक शासन कर वहां की प्रजा को भी सुखी बनाना था। युद्ध में लड़कर मरने को क्षत्रिय परम सौभाग्य और रणखेत से भागने को अत्यंत निंदनीय समझते थे। इस विषय का महाभारत से एक ही उदाहरण नीचे उद्धृत किया जाता है—

'संजय नामक एक राजपुत्र पर सिंधुराज (सिंध के राजा) ने आक्रमण किया। शत्रु की वीरहाक और शस्त्रों की खनखनाहट से भयभीत हो संजय रणभूमि से भागकर घर में आ बैठा और निराशा के पंक में पड़कर ग़ोते खाने लगा। जब उसकी वीरमाता विदुला ने अपने पुत्र की यह दशा देखी तो उत्साहवर्द्धक और अत्यंत महत्त्वपूर्ण शब्दों में उसको उपदेश दिया कि 'मनुष्य को अपने वास्तविक धर्म, धैर्य, पुरुषार्थ और दृढ संकल्प से कभी मुख न मोड़ना चाहिये। परतंत्र और दीनहीन बनने के बराबर दूसरा कोई पाप नहीं है। उद्योग पर ही अपने जीवन का आधार रखकर सदा कर्मयोग का ही साधन करता रहे और अभीष्ट सिद्ध करने में प्राणों की भी परवाह न करे। आलसी, कायर और निरुद्यमी अपने मनोरथ के सफल होने की आशा स्वप्न में भी नहीं कर सकता है' इत्यादि[1]।

दक्षिण में बादामी के सोलंकी राजा पुलकेशी के वर्णन में चीनी यात्री हुएन्त्संग लिखता है—"राजा जाति का क्षत्रिय है, उसका नाम पुलकेशी (पु-लो-कि-शे) है, उसके विचार और कार्य उदार हैं, उसके उपकार के कामों का लाभ दूर दूर तक पहुंचता है और उसकी प्रजा पूर्ण विनय के साथ उसकी आज्ञा का पालन करती है। इस समय शीलादित्य (कन्नोज का राजा श्रीहर्ष, (हर्षवर्द्धन) महाराज ने पूर्व से पश्चिम तक के देश विजय

---

(१) महाभारत; उद्योगपर्व, अध्याय १३३–३६।

कर लिये हैं, और दूर-दूर के देशों पर चढ़ाइयां की हैं, परंतु केवल इस देश (महाराष्ट्र) वाले ही उसके अधीन नहीं हुए। यहांवालों को दण्ड देने और अधीन करने के लिए उसने अपने राज्य के पांचों विभागों का सैन्य एकत्र किया, सब राज्यों के बहादुर सेनापतियों को बुलाया और वह स्वयं लश्कर की हरावल में रहा, तो भी यहां के सैन्य को जीत न सका। यहां के लोग सादे, प्रामाणिक, शरीर के ऊंचे, स्वभाव के कठोर बदला लेनेवाले, उपकार करनेवालों का अहसान माननेवाले और शत्रु के लिए निर्दयी हैं। वे अपना अपमान करनेवाले से बदला लेने में अपनी जान तक झोंक देते हैं, परंतु यदि तकलीफ़ के समय उनसे कोई मदद मांगे, तो उसको मदद देने की त्वरा में वे अपने शरीर की कुछ पर्वाह नहीं करते। यदि वे बदला लेना चाहें तो शत्रु को पहिले से सावधान कर देते हैं, फिर दोनों शस्त्र धारण कर एक दूसरे पर भाले से हमला करते हैं। जब एक भाग जाता है तो दूसरा उसका पीछा करता है, परंतु शरण में आ जाने पर मारता नहीं। यदि कोई सेनापति युद्ध में हार जाय तो उसको दंड नहीं देते, किन्तु उसको स्त्री की पोशाक भेट करते हैं, जिसपर उसको स्वयं मरना पड़ता है। देश (राज्य) की ओर से कई सौ वीर योद्धा नियत हैं, जो युद्ध समय प्रथम नशा पीकर मत्त हो जाते हैं, फिर उनमें से एक-एक पुरुष हाथ में भाला लेकर ललकारता हुआ १०००० आदमियों का सामना करता है। यदि उनमें से कोई योद्धा मार्ग में चलता हुआ किसी आदमी को मार डाले तो उसको सज़ा नहीं होती। जब वे बाहिर (लड़ने को) जाते हैं, तब अपने आगे ढोल बजाते जाते हैं, सैंकड़ों हाथियों को नशे से मतवाला कर उनको भी लड़ने के लिए ले जाते हैं। वे लोग पहिले नशा कर लेते हैं, फिर एक साथ आगे बढ़कर हर एक चीज़ को बर्बाद कर देते हैं, जिससे कोई शत्रु उनके आगे नहीं ठहर सकता[१]।"

मुग़ल बादशाहों की अधीनता में राजपूतों ने बलख़, बुख़ारा, काबुल, क़ंदहार आदि दूर-दूर के देशों में जाकर फतह के डंके बजाये और बड़े-बड़े

(१) सोलंकियों का प्राचीन इतिहास; प्रथम भाग, पृ० ३४-३५।

वीरता के काम किये हैं। सच कहा जावे तो मुग़लिया राज्य का प्रताप बढ़ानेवाले राजपूत राजा ही थे। शाहजहां बादशाह ने ईरानियों से क़ंदहार खाली कराने के वास्ते बड़ी सेना हिन्दुस्तान से भेजी, जिसमें दस्तूर के मुवाफ़िक़ राजपूत हरावल में थे। 'बादशाहनामे' में लिखा है—'हरावल में बहादुर राजपूत रक्खे गये हैं, जो घोर संग्राम में, जहां बड़े-बड़े वीरों के चहरे का रंग फक हो जाता है, लड़ाई का रंग जमा ही देते हैं[1]।'

यह तो निर्विवाद है कि प्राचीन काल से ही भारत में अनेक छोटे बड़े राज्य विद्यमान थे और उनमें परस्पर लड़ाई झगड़े चला करते थे, परंतु इतना अवश्य था कि यदि कोई राजा अपना बल बढ़ाकर अन्य राजाओं को विजय कर लेता तो भी उनके राज्य नहीं छीनता और न उनकी आभ्यंतरिक स्वतंत्रता में बाधा डालता था, केवल ख़िराज या भेट रूप में विजेता को नियत कर दे देना ही उनकी आधीनता का सूचक था। इसके अतिरिक्त आपस का वैर विरोध मिटाकर मेल करने के लिए यह रीति भी प्राचीन काल से क्षत्रियों में चली आती थी कि वे एक दूसरे के साथ विवाह संबंध जोड़कर वैरभाव को तोड़ देते थे। यूनानी राजा सेल्युकस ने मौर्यवंशी महाराजा चंद्रगुप्त को अपनी कन्या ब्याहकर वैर मिटाया। जब सिकंदर ने भारतवर्ष पर चढ़ाई की तो उत्तरी भारत की मल्लोई और क्षुद्रक नाम की स्वतंत्र क्षत्रिय जातियों में पहले से विरोध चला आता था, परंतु विदेशी शत्रु का सामना करने के लिए ये जातियां परस्पर विवाह संबंध जोड़कर एकता के सूत्र में बंध गईं, अर्थात् हरएक ने दस-दस हज़ार कन्याएं एक दूसरे को ब्याह दीं[2]। परस्पर की घरेलू लड़ाइयां निरन्तर लगी रहने पर भी जब कोई बाहर का शत्रु देश पर या किसी राज्यविशेष पर

(१) बादशाहनामा; और मुन्शी देवीप्रसाद का 'शाहजहांनामा'; भाग २, पृ० १२।

(२) मैक्क्रिंडल; दी इन्वेज़न ऑव् इंडिया बाई अलेग्ज़ैंडर दी ग्रेट; पृ० २८७। राजपूतों में प्राचीन काल से अब तक यह रीति चली आती है कि भिन्न वंश के साथ का वैर लड़कियां ब्याहने से मिटाया जाता है और एक ही वंशवालों का परस्पर अफ़ीम पिलाने से।

आक्रमण करता तो छोटे-बड़े प्रायः सभी राजा मिलकर उसका सामना करते थे। जब सुलतान महमूद ग़ज़नवी ने लाहोर के राजा अनंदपाल पर चढ़ाई की तो उस वक्त दूर-दूर से कई दूसरे राजा भी सेना सहित अनंदपाल की सहायता को आये; इतना ही नहीं, किन्तु देशान्तरों की प्रजा और हिन्दू महिलाओं ने भी हिन्दू राज्य की रक्षा के निमित्त अपने वस्त्रालंकार तक वेच धन एकत्र कर सहायतार्थ भेजा था[1]। ऐसे ही सुलतान शहाबुद्दीन ग़ोरी और पृथ्वीराज चौहान के युद्ध में पृथ्वीराज की सहायता पर कई हिन्दू राजा महाराजाओं ने मिलकर विधर्मी शत्रु से युद्ध किया था। पठानों की बादशाहत में तो यह प्रथा न्यूनाधिक प्रमाण में बनी रही, परंतु अंत में मुग़ल बादशाह अकबर की भेदनीति ने परस्पर के मेल मिलाप के इस बंधन को तोड़ दिया और शाही दरबार के प्रलोभनों में फंसकर राजपूत मुग़लों की आधीनता में उलटा अपने भाइयों के साथ शत्रुता का वर्ताव कर उन्हीं को नष्ट करने लगे। फिर तो उस संगठन का मूलोच्छेदन ही हो गया।

राजपूतों में स्त्रियों का बड़ा आदर होता रहा और वे वीरपत्नी और वीरमाता कहलाने में अपना गौरव मानती थीं। उन वीरांगनाओं का पातिव्रत धर्म, शूरवीरता और साहस भी जगद्विख्यात है। इनके अनेक उदाहरण इतिहास में पाये जाते हैं, उनमें से थोड़े से यहां उद्धृत करते हैं—वीरवर दाहिर देशपति की राणी लाडी की वीरता का वर्णन करते हुए फिरिश्ता लिखता है—'जब अरब सेनापति मुहम्मद बिन क़ासिम ने युद्ध में सिंध के राजा दाहिर को मारकर उसकी राजधानी पर अधिकार कर लिया और दाहिर का एक पुत्र बिना युद्ध किये भाग निकला, उस समय उस (पुत्र) की वीरमाता लाडी कई हज़ार राजपूत सेना साथ ले पहले तो मुहम्मद क़ासिम से खरे मैदान लड़ी, फिर गढ़ सजकर वह वीरांगना शस्त्र पकड़े शत्रु से युद्ध करती हुई स्वर्गलोक को सिधारी[2]।'

(१) ब्रिग; फिरिश्ता; जि० १, पृ० ४६।

(२) वही; जि० ४, पृ० ४०३।

चौहान राजा पृथ्वीराज ने जब महोबा के चंदेल राजा परमार्दिदेव पर चढ़ाई की तो उसके संबंध में यह प्रसिद्ध है कि उस समय उक्त राजा के सामंत आल्हा व ऊदल वहां उपस्थित नहीं थे: वे पहले किसी बात पर स्वामी की अप्रसन्नता हो जाने के कारण कन्नौज के राजा जयचंद के पास जा रहे थे। पृथ्वीराज की सेना से अपनी प्रजा का अनिष्ट होता देख चंदेल राजा की राणी ने आल्हा ऊदल को बुलाने के लिए दूत भेजे। उन्होंने अपने साथ किये हुए पूर्व के अपमान का स्मरण कर महोवे जाना स्वीकार नहीं किया। उस समय उनकी वीर माता ने जो वचन अपने पुत्रों को सुनाये उनसे स्पष्ट है कि क्षत्रिय कुलांगना किस प्रकार स्वामी के कार्य और स्वदेशरक्षा के निमित्त अपने प्राणों से प्यारे पति और पुत्रों को भी सहर्ष रणांगण में भेजती थी। आल्हा ऊदल की माता अपने पुत्रों का हठ छुड़ाने के हेतु बोली—"हा विधाता! तूने मुझको बांझ ही क्यों न रक्खी। क्षत्रिय धर्म का उल्लंघन करनेवाले इन कुपूतों से तो मेरा बांझ रहना ही अच्छा था। धिक्कार है उन क्षत्रिय पुत्रों को, जिनका स्वामी संकट में पड़ा हो और आप सुख की नींद सोवें। जो क्षत्रिय मरने-मारने से डर कर संकट के समय स्वामी की सहायता के लिए सिर देने को प्रस्तुत न हो जाय वह असल का बीज नहीं कहलाता है। हा! तुमने बनाफर वंश की सब कीर्ति डुबो दी[1]।"

महाराणा रायमल के पाटवी पुत्र पृथ्वीराज की पत्नी तारादेवी का अपने पति के साथ टोडे जाकर पठानों के साथ युद्ध में पति की सहायता करना प्रसिद्ध ही है।

रायसेन का राजा सलहदी पूरबिया (तंवर) जब सुलतान बहादुरशाह गुजराती से परास्त हो मुसलमान हो गया और सुलतान सुरंगें लगाकर उसके गढ़ को तोड़ने लगा, तोपों की मार से दो बुर्जें भी उड़ गईं, तब सलहदी ने सुलतान से कहा कि आप मेरे बालबच्चों और स्त्रियों को न सताइये, मैं गढ़ पर जाकर लड़ाई बन्द करवा दूंगा। सुलतान ने मलिकअली शेर नामक अफ़सर के साथ उसको गढ़ पर भेजा। उसकी राणी

(१) नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'रासोसार'; पृ० ४६१।

दुर्गावती ने, जो राणा सांगा की पुत्री थी, अपने पति को देखते ही धिक्कारना शुरू किया और कहा—'ऐसी निर्लज्जता से तो मरजाना ही अच्छा है, मैं अपने प्राण तजती हूं, यदि तुमको राजपूती का दावा हो तो हमारा बैर शत्रुओं से लेना।' राणी के इन वचनबाणों ने सलहदी के चित्त पर इतना गहरा घाव लगाया कि वह तुरन्त अपने भाई लोकमन (लोकमणि) और १०० संबंधियों समेत खड्ग खोलकर शत्रुओं से जूझ मरा। राणी ने भी सात सौ राजपूत रमणियों और अपने दो बच्चों सहित प्रचण्ड अग्निज्वाला में प्रवेश कर तन त्याग दिया[1]।

मारवाड़ के महाराजा जसवन्तसिंह जब औरंगज़ेब से युद्ध में हारकर फतिहाबाद के रणखेत से अपनी राजधानी जोधपुर को लौटा तब उसकी पटराणी ने गढ़ के द्वार बंद कर पति को भीतर पैठने से रोका था[2]।

इसी प्रकार शत्रु से अपने सतीत्व की रक्षा के निमित्त हज़ारों राजपूत महिलाएं निर्भयता के साथ जौहर की धधकती हुई आग में जलकर भस्मीभूत हो गईं, जिनके ज्वलंत उदाहरण चित्तोड़ की राणी पद्मिनी और कर्मवती, चांपानेर के पताई रावल (जयसिंह) की राणियां[3], जेसलमेर के रावल दूदा की रमणियां[4] आदि अनेक हैं, जो आगे इस इतिहास में प्रसंग-प्रसंग पर बतलाये जायेंगे।

परदे की रीति भी राजपूतों में पहले इतनी कड़ी नहीं थी जैसी कि आज है। धर्मोत्सव, युद्ध और शिकार के समय में भी राणियां राजा के साथ रहती थीं और राज्याभिषेक आदि अवसरों पर पति के साथ आम दरबार में बैठती थीं। पीछे से मुसलमानों की देखा-देखी परदे का कड़ा प्रबन्ध राजपूतों में होने लगा, और उन्हीं का अनुकरण पीछे से राजकीय पुरुषों तथा धनाढ्य वैश्य आदि जातियों में भी होने लगा।

---

(१) ब्रिग; फिरिश्ता; जि० ४, पृ० १२२।

(२) टॉड; राजस्थान; जि० २, पृ० ७२४; ६८२।

(३) मुंहणोत नेणसी की ख्यात; जि० १, पृ० १६७।

(४) वही; जि० २, पृ० ३०३—३०५।

राजपूतों में स्वदेशभक्ति और स्वामिधर्म ये दो उत्कृष्ट गुण प्राचीन काल से चले आते हैं। राजपूताने के इतिहास में ऐसे सैकड़ों उदाहरण पाये जाते हैं कि तन, मन और धन से अपने स्वामी का साथ देने और अपने देश की रक्षा करने में हज़ारों राजपूत सरदारों ने अपने प्राण न्यौछावर कर दिये हैं। स्वामी का सामना करने या उसके साथ छल करनेवाले के मस्तक पर हरामखोरी के अटल कलंक का टीका लग जाता, जिसको राजपूत मात्र बड़ी गाली और भारी ऐब समझते हैं। स्वामी की आज्ञा का पालन करते हुए मेवाड़ में प्रसिद्ध चूंडावत वंश के सलूंबर के रावत जोधसिंह ने विष मिला हुआ पान अपने मालिक के हाथ से बिना किसी आपत्ति के खाकर प्राण त्याग दिया। स्वामिधर्म में बंधे हुए सुप्रसिद्ध राठोड़ सरदार दुर्गादास आदि ने अनेक आपत्तियां सहकर भी अपने स्वामी महाराजा अजीतसिंह की रक्षा की। शेरशाह सूर के भय से मारवाड़ के राव मालदेव के रणभूमि से हटजाने पर भी उनके सामंत जैता व कूंपा आदि राठोड़ सरदारों ने सहस्रों राजपूतों सहित समरांगण में वीरगति पाई।

इसके साथ यह भी अवश्य था कि स्वामी का प्रेम, एवं मानमर्यादा आदि का सम्बन्ध भी अपने सामंतों के प्रति अद्वितीय रहता था। अतः परस्पर के प्रीतिपूर्ण बर्ताव और सेवा से यह बंधन दृढ़ बना रहा, परन्तु अकबर बादशाह की भेदनीति ने उसको ढीला कर दिया, फिर तो शनैः शनैः वह प्रथा शिथिल होती गई, जिससे प्रेम, श्रद्धा, भक्ति और विश्वास का पुल टूट गया। राजा लोग समयानुकूल अपना स्वार्थ साधने लगे और सामंतगण खुल्लम् खुल्ला राज्य की छत्रछाया से निकलकर स्वतन्त्र होने की चेष्टा करने लगे। नीतिशास्त्रों ने राज्य को एक शरीर कल्पित करके राजा, प्रजा, अमात्य और सामंतगण आदि को इसका अंग बतलाया है। यदि इनमें से एक भी अंग रोगी, निर्बल या कर्त्तव्यहीन हो जाय तो वह राज्यरूपी सारे शरीर को निर्बल बना देता है। निःसंदेह राज्य ही की ठंडी छाया में उसके सामंत दूसरे प्रबल विपत्तियों के उत्ताप, आतंक और आपत्तियों से बचे रहते हैं। जब राज्य ही की जड़ हिल जाय तो क्या उससे पृथक् पड़े

हुए अंगोपांग अपनी कुशलता की आशा रख सकते हैं ? उदाहरण के लिए मुसलमानों के भारतीय महाराज्य ही को लीजियेः अवध, अरकाट, बंगाल और सिंध आदि के नवाब अब कहां हैं, जो दिल्ली के साम्राज्य से स्वतंत्र बन बैठे थे ? शिवाजी के वंशधर, एवं पेशवा की संतान और नागपुर के भोंसले आदि का क्या हुआ, जिन्होंने आपस के द्वेष से मरहटों के महाराज्य को ढीला किया था ? प्राचीन और अर्वाचीन अनेक उदाहरणों को सामने रखकर इतिहास इसकी साक्षी दे रहा है कि बल परस्पर के समुदाय में हैं न कि पृथक्ता में।

भारत में जब तक प्राचीन आचार विचार, रीति रिवाज, राज्यपद्धति और शिक्षाप्रचार का क्रम बना रहा तब तक क्षत्रिय वर्ण ने भारतवर्ष ही का नहीं वरन् दूर दूर के बाहरी देशों का राज्य भी अपने हस्तगत किया। उनकी सभ्यता, शिष्टता और प्रताप के सामने अन्यान्य जातियों ने सिर झुकाया और वे महाराज्य का आनंद लूटते रहे, परंतु पीछे से ज्यों-ज्यों इस वर्ण में शिक्षा का अभाव होकर स्वार्थपरायणता का मूल घुसा, देश में नाना धर्म और नाना जातियां बन गईं, एक सूत्र में बंधी हुई प्रजा जात-पांत और मत-मतांतरों के झगड़ों के कारण पृथक् होकर एक दूसरे को वैरविरोध की दृष्टि से देखने लगी; राजा भी स्वधर्म का पक्ष लेकर कभी-कभी अन्यधर्मावलंबियों पर अत्याचार करने और अपनी प्रजा को तुच्छ दृष्टि से देखने लगे एवं नीति और धर्म की मर्यादा का उल्लंघन कर उनके स्वेच्छाचारी बनने से आपस की फूट फैलकर रात-दिन के लड़ाई-झगड़ों से उनका बल पराक्रम क्षीण होता गया।

इसी तरह बहुविवाह की रीति भी क्षत्रिय वर्ण की क्षति का एक मुख्य कारण हुई। इस इतिहास में बहुविवाह से होनेवाली हानियों का उल्लेख अनेक स्थलों में मिलेगा। यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि अनेक पत्नियां होने से ही रामचन्द्र को बनवास हुआ और दशरथ के प्राण गये। महाराज अशोक के अधिक राणियां होने से मौर्य वंश के प्रतापी साम्राज्य की अवनति की जड़ जमी, कन्नौज के प्रबल गाहडवाल (गहरवार) राज्य

के विनाश का कारण भी महाराज जयचंद की अनेक पत्नियां होना माना जाता है। मारवाड़ के राव चूंडा के राज्य में अनेक राणियों के कारण ही झगड़ा फैला। मेवाड़ के प्रतापी राणा सांगा के महाराज्य की क्षति का कारण भी बहुविवाह ही हुआ। कहां तक गिनावें राजपूत जाति का इतिहास ऐसी घटनाओं से रंगा पड़ा है। इसी के कारण कई राजाओं के प्राण गये, कई निरपराधी बालक सौतिया डाह के शिकार बने और कई राज्य नष्ट-भ्रष्ट हुए। एकपत्नीव्रत के धारण करने से ही रामचन्द्र 'मर्यादा पुरुषोत्तम' कहलाये थे। गृहस्थाश्रम का सच्चा सुख एक ही पत्नी से मिलता है, चाहे राजा हो या रंक। अनेक पत्नियां होने पर प्राकृतिक नियम के अनुसार सौतिया डाह का कुठार चला, चलता है और चलता रहेगा, जब तक कि राजपूत जाति इस कुरीति का मूलोच्छेदन न कर देगी।

राजपूतों में दूसरी बड़ी हानिकारक प्रथा मद्यपान की अधिकता है। प्राचीनकाल के धर्मनिष्ठ क्षत्रिय मद्यपान केवल ख़ास-ख़ास प्रसंगों पर[1] या युद्ध के समय ही करते थे, परंतु इस बला में वे इतने फंसे हुए नहीं थे जैसे कि आजकल के। इस वारुणी देवी की कृपा से ही यादवस्थली में यादवों का संहार हुआ; अनेक राजा, महाराजा, सामंत एवं अन्य राजपूत अकाल कालकवलित हो गये, और अब तक होते जाते हैं। बल, वीर्य, शौर्य और साहस का भक्षण करनेवाली इस राक्षसी का क्रूर कर्म और भयानक परिणाम देखते हुए भी इसको छोड़ने के बदले वे इसपर अधिक आसक्त होते जाते हैं। पहले उनके पीने के भिन्न-भिन्न प्रकार के मद्य जैसे कि गौड़ी, माध्वी, माक्षिक, द्राक्ष, आसव आदि यहीं बनते थे, परन्तु अब तो उनका स्थान बहुधा शेरी, शांपीन्, पोर्ट, ओल्ड टॉम्, विस्की और ब्रांडी आदि विदेशी मद्यों ने बहुधा ले लिया है।

सारांश कि स्वार्थपरायणता, अविद्या, आलस्य, बहुविवाह, मद्यपान और परस्पर की फूट तथा द्वेष के कारण जातिमात्र का लक्ष्य एक न होने

---

(१) मैगास्थिनस लिखता है कि भारत के लोग यज्ञयागादि के सिवा मद्यपान कभी नहीं करते (इं. ऐं; जि० ६, पृ० १३१)।

[illegible]म निर्बल होते गये. जिससे मुसलमानों ने आकर उनको पददलित कर कई एक के राज्य तो छीन लिये और शेष से अपनी अधीनता स्वीकार कराई, तब से उनकी दशा और भी गिरती गई।

तीसरा अध्याय

राजपूताने से संबंध रखनेवाले

प्राचीन राजवंश

प्राचीन काल से ही राजपूताना भारतवर्ष के इतिहास में केंद्र रूप रहा है। समय-समय पर अनेक राजवंशों ने इस देश पर अपना आधिपत्य जमाया, जिनका लिखित इतिहास नहीं मिलता और प्राचीन शोध का काम भी यहां अब तक नाममात्र को ही हुआ है, जिससे सैकड़ों नहीं, किन्तु हज़ारों ऐसे प्राचीन स्थल इस देश में विद्यमान हैं, जहां कभी किसी पुरातत्त्ववेत्ता का पदार्पण नहीं हुआ। ऐसी दशा में भी अनेक विद्वानों के श्रम से जो कुछ प्राचीन इतिवृत्त आज तक ज्ञात हुए वे भी हमारे लिए तो बड़े महत्व के हैं। यदि उन्हीं के आधार पर मुसलमानों के समय से पूर्व इस देश अथवा इसके किसी विभाग पर राज्य करनेवाले प्राचीन राजवंशों का इतिहास लिखने का यत्न किया जाय तो कुछ सफलता अवश्य हो सकती है, परंतु जब तक यहां प्राचीन शोध का कार्य पूर्ण रूप से न हो तब तक उसको अपूर्ण ही समझना चाहिये। राजपूताने का प्राचीन इतिहास लिखना असाधारण योग्यता और भगीरथ प्रयत्न का काम है, जो किसी भावी विद्वान् को ही श्रेयस्कर होगा, तथापि यदि यहां के प्राचीन राजवंशों का कुछ परिचय न दिया जाय तो पाठक कैसे जान सकते हैं कि वर्तमान हिन्दू राजवंशों[1] अर्थात् गुहिल (गुहिलोत, सीसोदिया), राठोड़, चौहान, कछवाहा, यादव, झाला और जाटवंशों के अतिरिक्त किन-किन राजवंशों का संबंध इस विस्तीर्ण देश के किस-किस विभाग के साथ पहिले कब-कब

---

(१) इस अध्याय में यहां के वर्तमान हिन्दू राजवंशों अर्थात् गुहिल, राठोड़, कछवाहा, चौहान, यादव, झालों और जाटों का इतिहास छोड़ दिया गया है। गुहिल-(गुहिलोत, सीसोदिया) वंशियों का प्राचीन इतिहास उदयपुर (मेवाड़) राज्य के

रहा। इस त्रुटि को मिटाने के विचार से ही इस प्रकरण में केवल उक्त वंशों के राजाओं के नाम तथा किसी-किसी के कुछ काम एवं निश्चित संवत्, जो अब तक के शोध से ज्ञात हुए, बहुत ही संक्षेप रूप में देने का यत्न किया जाता है।

रामायण और राजपूताना

राजपूताने में जहां अब रेगिस्तान है वहां पहले समुद्र लहराता था, परंतु भूकंप आदि प्राकृतिक कारणों से उस भूमि के ऊंची होजाने पर समुद्र का जल दक्षिण में हटकर रेते का पुंजमात्र रह गया, जिसको पहले मरुकांतार भी कहते थे। अब भी वहां सीप, शंख, कौड़ी आदि का परिवर्तित पाषाणरूप (Fossils) में मिलना इस कल्पना को पुष्ट करता है। रामायण से पाया जाता है कि दक्षिण सागर ने अपने ऊपर जब सेतु बंधवाना स्वीकार किया तब रामचंद्र ने उसको भयभीत करने के लिए खींचा हुआ अपना अमोघ बाण इधर फेंका, जिससे समुद्र के स्थान में मरुकांतार होगया[1]। इससे अधिक रामायण में राजपूताने के संबंध का और कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

महाभारत और राजपूताना

महाभारत से पाया जाता है कि राजपूताने का जांगल देश कुरु (पांडवों के) राज्य के अंतर्गत[2] था और मत्स्यदेश उनके अधीन या उनका मित्र-

---

इतिहास के प्रारंभ में, राठोड़ों का जोधपुर राज्य के, कछवाहों का जयपुर राज्य के, यादवों का करौली राज्य के, झालों का झालावाड़ राज्य के और जाटों का भरतपुर राज्य के इतिहास के प्रारम्भ में लिखा जायगा।

(१) तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सगरस्य महात्मनः।
मुमोच तं शरं दीप्तं परं सागरदर्शनात् ॥ ३२ ॥
तेन तन्मरुकांतारं पृथिव्यां किल विश्रुतम्।
निपातितः शरो यत्र वज्राशनिसमप्रभः ॥ ३३ ॥

वाल्मीकीय 'रामायण'; युद्धकांड, सर्ग २२।

(२) पैत्र्यं राज्यं महाराज कुरवस्ते सजांगलाः ॥

'महाभारत' उद्योगपर्व, अध्याय ५४, श्लो० ७।

राज्य था। पांडव बारह वर्ष के बनवास के पीछे एक वर्ष के अज्ञातवास में भेष बदल और कृत्रिम नाम धारण किये मत्स्यदेश के राजा विराट के यहां रहे थे। जब विराट के सेनापति और साले कीचक ने द्रौपदी का अपमान किया, जो मालिनी (सैरंध्री) के नाम से विराट की राणी सुदेष्णा की सेवा में रहती थी, तो भीम ने, जो वलल नाम से रसोइया और पहलवान बनकर वहां रहता था, कीचक और उसके भाई बन्धुओं को मार डाला[1]।

जब पांडवों के अज्ञातवास की अवधि समाप्त होने लगी, उस समय उनके संबंध में विचार होने लगा। तब त्रिगर्त (कांगड़ा) देश के राजा सुशर्म्मा ने, जिसको कीचक ने कई वार परास्त किया था, अपना बदला लेने के विचार से कहा कि मत्स्यराज पर चढ़ाई कर वहां का गोधन आदि छीन उसे अधीन कर लेने से अपना बल बढ़ जायगा। कर्ण ने इस कथन का अनुमोदन किया और दुर्योधन ने त्रिगर्त्तराजा को राजा विराट पर सैन्य-सहित भेज दिया, जिसने वहां पहुंचकर बहुतसी गायें हरण कर लीं। विराट-राज अपने दलबल सहित उनको छुड़ाने चला, परंतु शत्रु के हाथ क़ैद हो गया। उस समय गुप्त वेशधारी भीमसेन युद्ध कर छुड़ा लाया और सुशर्मा को भी उसने पकड़ लिया, परन्तु पीछा छोड़ दिया। सुशर्म्मा तो लज्जित होकर लौटा ही था[2] और राजा विराट पीछे आने भी नहीं पाया था कि इतने में दुर्योधन, भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि ने विराट की नगरी घेर ली और वे साठ हज़ार गौ हरण कर ले चले। यह समाचार पाते ही विराट का कुमार उत्तर उनको छुड़ाने के लिए चढ़ा। अपने को नपुंसक बतला कर बृहन्नला के नाम से रणवास में रहनेवाला अर्जुन, कुमार उत्तर का सारथी बना। कौरव सेना को देखते ही उत्तर के तो प्राण सूख गये और उसने घबरा कर भागने का विचार किया, परंतु स्त्रीवेशधारी अर्जुन (बृहन्नला) ने उसे धैर्य्य बंधाया और उसे अपना सारथी बना कर स्वयं लड़ने को उद्यत हुआ। शमीवृक्ष पर धरे हुए अपने आयुध लेकर उसने

(१) 'महाभारत' विराटपर्व, अध्याय १६–२८।

(२) वही; विराटपर्व, अध्याय ३४–३५।

स्त्रीवेश को त्याग वीरवेश धारण किया और अपने धनुष गांडीव की टंकार की, जिसको सुनते ही कौरव पक्ष के योद्धा ताड़ गये कि यह अर्जुन है। गणना करने से उन्हें ज्ञात हुआ कि बनवास के समय से लगाकर अब तक तेरह वर्ष के ऊपर कुछ मास व्यतीत हो चुके हैं इसी से अब पांडव प्रकट हुए हैं।

फिर भीष्म की सम्मति से यह स्थिर हुआ कि ग्रहण की हुई गौओं और दुर्योधन को तो (कौरवों की) राजधानी की ओर भेज दिया जाय और शेष योद्धा लड़ने की तय्यारी करें। अर्जुन ने अपना रथ दुर्योधन के पीछे दौड़ाया, परन्तु कौरवपक्ष के योद्धा उसको रोकने के लिए आ पहुंचे, तब उसने अपने बल से उन सब को परास्त कर गौओं को छुड़ा लिया। लौटते समय उसने कुमार उत्तर से कहा कि यह बात केवल तुम ही जानते हो कि हम पांडव तुम्हारे पिता के आश्रय में रहते हैं, अतः इस गुप्तभेद को उचित समय आने तक किसी पर प्रकट मत करना। फिर अर्जुन ने अपना स्त्रीवेश धारण कर उत्तर का रथ हांकते हुए विजय के साथ विराट की राजधानी में प्रवेश किया। कौरवों को हराने के समाचार जब राजा विराट के पास पहुंचे उस समय वह कंक नामधारी युधिष्ठिर के साथ पासा खेल रहा था। अपने पुत्र की विजय के समाचार सुनकर राजा विराट को बड़ा हर्ष हुआ और वह उसकी प्रशंसा करने लगा, जिसको सुनकर कंकरूपी युधिष्ठिर ने कहा कि बृहन्नला जिसकी सहायता करे उसके विजय में संदेह ही क्या है? इसपर राजा ने क्रुद्ध होकर हाथ में धरा हुआ पासा युधिष्ठिर के नाक पर मार दिया, जिससे उसके नाक से रुधिर बहने लगा। इतने में कुमार उत्तर वहां आ पहुंचा और युधिष्ठिर की ऐसी दशा देखकर पूछने लगा कि यह क्या बात है? कारण जानने पर उसको बड़ा खेद हुआ और उसने पिता से निवेदन किया कि महाराज आपने यह अनुचित किया, क्योंकि मुझे जो विजय प्राप्त हुई है वह मेरे बाहुबल से नहीं, किन्तु एक दिव्य पुरुष के पराक्रम का फल है, उक्त पुरुष के दर्शन आप शीघ्र ही करेंगे। फिर पांडवों और द्रौपदी ने अपने नाम प्रकट कर अपना परिचय दिया तब तो राजा

विराट को अपनी चेष्टा पर बड़ा शोक हुआ और साथ ही उनको पाण्डव जानकर हर्ष भी मनाया। राजा ताड़ गया कि वह दिव्य पुरुष और कोई नहीं किन्तु अर्जुन ही था, जिसके बाहुबल से उत्तर को विजय मिली है। तत्पश्चात् विराट ने अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन के साथ करने की इच्छा प्रकट की, परन्तु जब अर्जुन ने इसे स्वीकार नहीं किया तब राजा ने उसका विवाह अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु के साथ कर दिया[१]। उत्तरा ही से परीक्षित का जन्म हुआ।

पांडवों के प्रकट होने के पीछे उनका राज्य-विभाग उनको देने से दुर्योधन ने इनकार किया इसीसे महाभारत के घोर संग्राम का बीजारोपण हुआ। भिन्न-भिन्न प्रदेश के राजाओं में से कोई कौरव-पक्ष और कोई पाण्डव-पक्ष में सम्मिलित हुए, राजा विराट एक अक्षौहिणी सेना सहित युधिष्ठिर के पक्ष में लड़ने को गया। वह युधिष्ठिर के महारथियों में से एक था और शिखंडी की सहायता पर बड़ी वीरता से युद्ध कर द्रोणाचार्य के हाथ से ५०० वीरों सहित वीरगति को प्राप्त हुआ[२]। द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने मत्स्यराज के बचे हुए सैन्य का संहार किया। विराट के ग्यारह भाई शतानीक, मदिराक्ष (मदिराश्व), सूर्यदत्त, श्रुतानीक, श्रुतध्वज, बलानीक, जयानीक, जयाश्व, रथवाहन, चंद्रोदय और समरथ[३], तथा दो राणियां सुरथा और सुदेष्णा और तीन पुत्र उत्तर, शंख और श्वेत नाम के थे, जिनमें से शंख और श्वेत सुरथा से और उत्तर कीचक की बहन सुदेष्णा से उत्पन्न हुआ था[४]। शंख भारत-युद्ध में लड़कर द्रोणाचार्य के हाथ से मारा गया था[५]। श्वेत भी उसी युद्ध में भीष्मपितामह के हाथ से मारा गया[६] और उत्तर ने भी

(१) महाभारत; विराटपर्व, अ० ७८। ४३।

(२) वही; द्रोणपर्व, अध्याय १८७। ४२।

(३) वही; विराटपर्व, अध्याय, ३३। १९–२१।

(४) वही; विराटपर्व, अध्याय २१। १७–१८।

(५) वही; भीष्मपर्व, अध्याय ८२। २३।

(६) वही; भीष्मपर्व, अध्याय ४८। ११।

शल्य के हाथ से वीरगति प्राप्त[1] की।

यहां तक राजपूताने के मत्स्यदेश के राजा विराट[2] तथा उसके पुत्रों का वृत्तांत महाभारत से बहुत ही संक्षिप्तरूप से उद्धृत किया है।

जैसे मत्स्यदेशवालों का वृत्तांत महाभारत में मिलता है वैसे ही शूर-सेन देश के यादवों का वर्णन भी मिलता है, परंतु हम ऊपर लिख आये हैं कि यादववंश का वर्णन करौली के इतिहास में करेंगे इसीलिए यहां उसका उल्लेख नहीं किया है।

महाभारत के युद्ध से लगाकर वि० सं० पूर्व २६४ (ई० स० पूर्व ३२१) में चंद्रगुप्त द्वारा मौर्य साम्राज्य की स्थापना होने तक का राजपूताने का प्राचीन इतिहास अब तक बिलकुल अंधकार में ही है, अतएव उसको छोड़कर मौर्य वंश से ही प्राचीन राजवंशों का वर्णन किया जाता है।

मौर्य वंश

मौर्य (मोरी) वंश की उत्पत्ति के विषय में हम ऊपर (पृ० ६५–६६) विस्तार के साथ लिख चुके हैं कि वे सूर्यवंशी क्षत्रिय हैं। भाटों की ख्यातों में कहीं उनको परमार और कहीं चौहान बतलाया है, जो विश्वास के योग्य नहीं है, क्योंकि मौर्य राज्य की स्थापना के समय तक न तो परमार और न चौहानों का उक्त नामों से प्रसिद्ध होने का कहीं उल्लेख मिलता है। मौर्य वंश का प्रताप बहुत बढ़ा और उस वंश के राजा चंद्रगुप्त और अशोक के नाम द्वीपान्तर में भी प्रसिद्ध हुए। वायु, मत्स्य, ब्रह्मांड, विष्णु तथा भागवत पुराणों में इस वंश के राजाओं की नामावली मिलती है।

(१) चंद्रगुप्त—मौर्य वंश के प्रतापी राज्य का संस्थापक हुआ और नंद वंश का राज्य छीनकर विक्रम संवत् से २६४ वर्ष पूर्व (ई० स० से

(१) महाभारत; भीष्मपर्व, अध्याय ४७। ३५।

(२) जयपुर राज्य का विराट (वैराट) नगर, राजा विराट का बसाया हुआ और मत्स्यदेश की राजधानी माना जाता है। विराट या वैराट नाम के कई स्थान भारतवर्ष में हैं, जैसे कि बदनोर (मेवाड़ में) का पुराना नाम वैराट, बंबई अहाते के हांगल तालुक़े में वैराट नगर आदि। भिन्न-भिन्न स्थानों के लोग पांडवों का अज्ञातवास में उक्त स्थानों में रहना प्रकट करते हैं, परंतु मत्स्यराज का विराट या वैराट नगर जयपुर राज्य का ही वैराट है।

३२१ वर्ष पूर्व) पाटलीपुत्र (पटना, बिहार में) के राज्य सिंहासन पर बैठा। उसने क्रमशः सिंधु से गंगा के मुख तक और हिमालय से विंध्याचल के दक्षिण तक के देश अर्थात् सारा उत्तरी हिन्दुस्तान अपने अधीन किया, जिससे राजपूताना भी उसके राज्य के अन्तर्गत रहा[1]। जिस समय यूनान (ग्रीस) का बादशाह सिकंदर हिन्दुस्तान (पंजाब और सिंध) में था, उस समय से ही चंद्रगुप्त अपने राज्य की नींव डाल रहा था और सिकंदर के यहां से लौटते ही उसने पंजाब से यूनानियों को निकाल कर उधर के प्रदेश भी अपने अधीन किये। उसका मुख्य सहायक प्रसिद्ध नीतिज्ञ विद्वान् चाणक्य (कौटिल्य, विष्णुगुप्त) ब्राह्मण था। सिकंदर का देहान्त होने पीछे वि० सं० से २४८ वर्ष पूर्व (ई० स० से ३०५ वर्ष पूर्व) सीरिया का यूनानी बादशाह सेल्युकस निकेटार सिकंदर का विजय किया हुआ हिन्दुस्तान का प्रदेश छुड़ा लेने की इच्छा से सिंधु को पारकर चढ़ आया; परन्तु चंद्रगुप्त से हार जाने पर काबुल, हिरात, कंदहार और बलूचिस्तान (पूर्वी अंश) के प्रदेश उसको देकर अपनी पुत्री[2] का विवाह भी उस(चंद्रगुप्त)के साथ कर

(१) राजपूताने में जयपुर राज्य के वैराट नामक प्राचीन नगर में चंद्रगुप्त के पौत्र अशोक के लेख मिले हैं। जूनागढ़ (काठियावाड़ में) के निकट अशोक के लेख-वाले चट्टान पर खुदे हुए महाक्षत्रप रुद्रदामा के समय के शक संवत् ७२ (वि० सं० २०७=ई० स० १५०) से कुछ पीछे के लेख से पाया जाता है कि वहां का सुदर्शन नामक तालाब मौर्य चंद्रगुप्त के राज्य में बना था।

(२) पहले भारत में विवाह-संबंध प्राचीन प्रणाली के अनुसार होता था अर्थात् प्रत्येक वर्णवाले अपने तथा अपनेसे नीचे के वर्णों में विवाह कर सकते थे। राजा शांतनु ने धीवर की पुत्री योजनगंधा से और भीम ने दानव कुल की हिडिंबा से विवाह किया था। ऐसे और भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। चंद्रगुप्त ने यूनानी राजा सेल्युकस की पुत्री के साथ विवाह किया इस बात के सुनने से कदाचित् हमारे पाठक चौंक जायेंगे, परंतु वास्तव में चौंकने की कोई बात नहीं है, क्योंकि उस समय तक तो ईसाई या मुसलमान धर्म का प्रादुर्भाव भी नहीं हुआ था और आर्य जाति सारे पश्चिमी एशिया से आगे बढ़कर यूनान या उससे भी परे तक फैल गई थी और उस समय वहां भी भारतवासियों के समान सूर्य तथा अनेक देवी-देवताओं की मूर्त्तियां पूजी जाती थीं। चंद्रगुप्त ने एक वैश्य कन्या से भी विवाह किया था और उसका साला वैश्य पुष्यमित्र

दिया। इस प्रकार संधि हो जाने पर चंद्रगुप्त ने अपने श्वसुर को ५०० हाथी देकर उसका सम्मान किया। फिर सेल्युकस ने मैगास्थिनीज़ नामक पुरुष को अपना राजदूत बनाकर चंद्रगुप्त के दरबार में भेजा, जिसने 'इंडिका' नामकी पुस्तक में उस समय का इस देश का बहुतसा हाल लिखा था, परन्तु खेद की बात है कि वह अमूल्य ग्रंथ नष्ट हो गया। अब तो केवल उसमें से जो अंश स्ट्रैबो, आर्यन, प्लीनी आदि ग्रंथकारों ने प्रसंग-वशात् अपनी पुस्तकों में उद्धृत किये वे ही मिलते हैं। उनमें से कुछ बातें पाठकों को उक्त महाराजा का बल, वैभव, नीति, रीति आदि का अनुभव कराने के लिए नीचे लिखी जाती हैं—

चंद्रगुप्त की राजधानी पाटलीपुत्र (पटना) बड़ा सुन्दर, अनुमानतः ६ मील लंबा और डेढ़ मील चौड़ा नगर है, जिसके चारों ओर लकड़ी का विशाल प्राकार (परकोटा) बना है। उसमें ६४ दरवाज़े और ५७० बुर्ज हैं। प्राकार के चारों ओर २०० गज चौड़ी और ३० हाथ गहरी खाई सदा जल से भरी रहती है। चंद्रगुप्त की सेना में ६००००० पैदल, ३०००० सवार, ६००० हाथी और हज़ारों रथ हैं। राजमहल सुंदरता में संसार में सब से बढ़कर है, जहां रमणीय और चित्त को मोहित करनेवाले नाना प्रकार के वृक्ष, लता आदि लगे हैं। राजा प्रतिदिन राजसभा में उपस्थित होकर प्रजा की फ़रियाद सुनता और उनका न्याय करता है। राज्यशासन का सब कार्य भिन्न-भिन्न समितियों के द्वारा होता है। कारीगरों का पूरा सम्मान है। यदि कोई किसी कारीगर का हाथ या पांव तोड़ डाले या आंख फोड़ डाले

सुराष्ट्र (सोरठ) देश का शासक था, जिसने गिरनार के निकट का प्रसिद्ध सुदर्शन तालाब बनवाया था (इं० ऐं; जि० ७, पृ० २६०; २६२)। क्षत्रियों का वैश्यों के साथ विवाह-संबंध बहुत पीछे तक भी होता रहा। वि० सं० की ८ वीं शताब्दी के आस-पास होनेवाले प्रसिद्ध कवि दंडी के 'दशकुमारचरित' से पाया जाता है कि पाटलीपुत्र (पटना) के वैश्य वैश्रवण की पुत्री सागरदत्ता का विवाह कोसल के राजा कुसुमधन्वा के साथ हुआ था। सागरदत्ता से वसुंधरा नाम की पुत्री का जन्म हुआ जो विदर्भ के भोजवंशी राजा अनंतवर्मा को ब्याही गई, जिसका पुत्र भास्करवर्मा था ('दशकुमार-चरित' में विश्रुत का वृत्तान्त)।

तो उसको प्राणदंड दिया जाता है। मुसाफ़िरों के आराम पर ध्यान दिया जाता है और बीमारों की सेवा-शुश्रूषा के लिए औषधालय बने हुए हैं। प्रवासियों के अंतिम-संस्कार का अच्छा प्रबंध है। इतना ही नहीं किंतु उनकी संपत्ति भी उनके वारिसों के पास पहुंचा दी जाती है। नये वर्ष के प्रारंभ के दिन विद्वानों की सभा राजा के सन्मुख होती है वहां जो लोग कृषि, पशु और प्रजा की उन्नति के विषयों पर अपनी उत्तम सम्मति प्रकट करें उनको पुरस्कार मिलता है। कृषि के लाभ के लिए जगह-जगह नहरें बनी हुई हैं और कृषक सुख-शांति के साथ खेती-बारी का काम करते हैं। सड़कों पर कोस-कोस के अंतर पर स्तंभ खड़े हुए हैं, जिनसे स्थानों की दूरी और मार्गों का पता लगता है। चोरी बहुत कम होती है। ४००००० सेना के पड़ाव में २०० द्रम्म (५० रुपये) से अधिक की चोरी कभी सुनी नहीं गई। लोग विश्वास पर ही कारबार करते और आपस में मेलजोल के साथ आनंद से रहते हैं[१]।

चंद्रगुप्त के मंत्री कौटिल्य (चाणक्य) के लिखे हुए 'अर्थशास्त्र' से उस समय की थोड़ी सी बातों का उल्लेख यहां इसलिए किया जाता है कि पाठकों को उस समय एवं उसके पूर्व की राजनीति का कुछ ज्ञान हो जावे—

राजा का विद्वान्, प्रजापालक पुरुषार्थी, परिश्रमी और न्यायशील होना आवश्यक था। योग्य पुरुषों को ही राज्य के अधिकार दिये जाते और उनपर भी गुप्तचरों द्वारा पूरा निरीक्षण रक्खा जाता था। गुप्तचर स्त्री और पुरुष दोनों प्रकार के होते, जो, भेष बदले विद्यार्थी, गृहस्थी, किसान, संन्यासी, जटाधारी, व्यापारी, तपस्वी आदि अनेक रूप में जहां-तहां विचर कर सब प्रकार की ठीक-ठीक ख़बरें राजा के पास पहुंचाया करते थे। वे लोग भिन्न-भिन्न देशों की भाषा, पोशाक, रीति-रिवाज और रहन-सहन को जाननेवाले होते थे। राजकुमारों पर पूरी दृष्टि रक्खी जाती थी। यदि वे पितृद्वेषी होते तो किसी दूर के सुरक्षित स्थान में क़ैद कर दिये जाते या कभी-कभी मार भी डाले जाते थे। राजसेवकों को वेतन रोकड़रूप में दिया

(१) इं० एं; जि० ६, पृ० २३६–५० ।

जाता और भूमि भी दी जाती थी, जिसको न तो वे बेच सकते और न गिरवी रख सकते थे। किसानों को भूमि पक्की नहीं, किंतु खेती के लिए दी जाती थी। कृषि की उन्नति का पूरा प्रबंध था। उसके लिए एक विभाग बना हुआ था, जिसका प्रबंधकर्ता 'सीताध्यक्ष' कहलाता था। भूमि की उपज का छठा भाग राजा लेता था। भूमि की सिंचाई के लिए नहरें, तालाब, कुएं आदि बनवाये जाते, खानों से धातुएं आदि निकाली जातीं, कारखाने चलते, जंगल सुरक्षित रक्खे जाते और लकड़ी तथा सब प्रकार की जंगल की पैदाइश से व्यवसायिक द्रव्य तय्यार किये जाते थे। स्थल और जल के व्यापार के मार्ग सुरक्षित रहते, अनाथ बालक, वृद्ध, बीमार, आपद्ग्रस्त तथा अपाहिजों का भरण-पोषण राज की तरफ से किया जाता था। राज्य की सीमा पर के जंगलों से हाथी पकड़े जाते थे। कोष्ठागार (कोठार) मे एक अरत्नि (२४ अंगुल) के मुखवाला वृष्टि नापने का पात्र रक्खा जाता था। व्यापारी आदि को सदा शुद्ध पदार्थ बेचना पड़ता था। राज्य की आय-व्यय का हिसाब ब्यौरेवार उत्तम रीति से रखने की व्यवस्था थी। हिसाब के काम का अधिकारी 'गणनिक्य' और उस विभाग का नाम 'अक्षपटल' था। रत्नपरीक्षा का ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था; लोहा, तांबा, सोना, चांदी आदि सभी प्रकार के खनिज द्रव्य खानों से निकाले जाते; सिक्के सोने, चांदी और तांबे के बनते थे। सुनारों के बनाये हुए आभूषणों की जांच राज की कसौटी द्वारा की जाती और उनमें खाद डालने के नियम भी बंधे हुए थे। बाट और नाप राज की ओर से दिये जाते थे। कृत्रिम सुवर्ण बनाने की विद्या भी ज्ञात थी। आयात (प्रवेश) और निर्यात (निकास) माल पर बंधा हुआ दाण (चुंगी) लिया जाता था। नाना प्रकार की मदिरा बनती और आबकारी के विभाग का भी योग्य प्रबंध था। पशु-विद्या (शालिहोत्र) का—अर्थात् गाय, बैल, भैंस, घोड़े, हाथी, ऊंट आदि जानवरों की जातियों, लक्षण, खानपान, एवं स्थान आदि जानने और उनके रोगों की चिकित्सा करने का—पूर्ण ज्ञान था और उनपर सवारी करने या बोझा लादने आदि के नियम भी बंधे हुए थे। पशु चुरानेवाले को प्राणदंड

तक दिया जाता था। न्याय के लिए दीवानी और फौजदारी अदालतें खुली हुई थीं और उनके क़ानून भी बने हुए थे। दुर्भिक्ष-निवारण के लिए स्थल-स्थल पर अन्न के भण्डार सुरक्षित रहते थे। चर्म, वल्कल, ऊन, सूत आदि के वस्त्र स्थान-स्थान पर बनते और वृद्ध, विधवा, लूली, लंगड़ी आदि स्त्रियां भी सूत काता करती थीं। मरे हुए पशुओं के चर्म, हड्डी, दांत, सींग, खुर, पूंछ आदि काम में लाये जाते थे। नाना प्रकार के अस्त्र, जैसे कि स्थितियंत्र, सर्वतोभद्र (सब तरफ मार करनेवाला), जामदग्न्य, बहुमुख, विश्वासघाती, संघाटी, आग लगाने और बुझाने आदि के यंत्र बनाने की विद्या उन्नत दशा में थी। उपदंश (गर्मी) और सुज़ाक के रोगियों की चिकित्सा करनेवाले वैद्यों को पुलिस में उनकी इत्तिला करनी पड़ती थी, यदि वे ऐसी सूचना न देते तो दंड के भागी होते थे। मज़दूर और कारीगरों की रक्षा की जाती और इस विषय के भिन्न-भिन्न कामों के लिए भिन्न-भिन्न नियम बने हुए थे। ज़िले व परगनेवार ग्रामों की संख्या रहती और मनुष्यगणना तथा पशुगणना भी समय-समय पर हुआ करती थी। सारांश कि सभ्य और सुरक्षित राज्य और प्रजा के हित के लिए जितनी उत्तम बातों का प्रबंध होना चाहिये वह सब उस समय बराबर होता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में जो-जो बातें लिखी हैं उनका विशेष वर्णन करने के लिए यहां स्थान नहीं है। जिनको विशेष जिज्ञासा हो वे उस पुस्तक का हिंदी अनुवाद देख लेवें।

चंद्रगुप्त का २४ वर्ष राज्य करना पुराणों से पाया जाता है। उसने अपने राज्याभिषेक के वर्ष से 'मौर्य संवत्' चलाया, परन्तु उसका विशेष प्रचार न हुआ। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र बिंदुसार हुआ।

(२) बिंदुसार का नाम पुराणों में भद्रसार (वारिसार) भी लिखा मिलता है। ग्रीक (यूनानी) लेखकों ने उसका नाम 'अमिट्रोचेटि' लिखा है जो संस्कृत 'अमित्रघाती' (शत्रुओं को नष्ट करनेवाला) से मिलता हुआ है। शायद यह उसका विरुद (ख़िताब) हो। उसने अपने पिता के स्थापित किये हुए महाराज्य को यथावत् बना रक्खा और यूनानियों के साथ भी

उसका संबंध पूर्ववत् बना रहा। सीरिया के बादशाह ऐंटिऑकस् सोटर ने अपने राजदूत डिमैकस् को, और मिसर के बादशाह टालमी फिलाडेल्फस् ने अपने राजदूत डायोनिसिअस् को उसके दरबार में भेजा था। बिंदुसार ने २५ वर्ष राज्य किया। उसके कई राणियां और कुंवर थे, जिनमें से अशोक उसका उत्तराधिकारी हुआ।

(३) अशोक मौर्यों में सब से अधिक प्रतापी और लगभग सारे हिंदुस्तान का स्वामी हुआ। वि० सं० २१५ वर्ष पूर्व (ई० स० से २७२ वर्ष पूर्व) वह सिंहासन पर बैठा और वि० सं० से २१२ वर्ष पूर्व (ई० स० से २६९ वर्ष पूर्व) उसके राज्याभिषेक का उत्सव मनाया गया। उसने अपने राज्याभिषेक के आठ वर्ष पीछे कलिंग (उड़ीसा) देश विजय किया, जिसमें लाखों मनुष्यों का संहार हुआ देखकर उसकी रुचि बौद्ध धर्म की ओर झुकी हो ऐसा प्रतीत होता है। बौद्ध धर्म ग्रहण कर उसके प्रचार के लिए उसने तन, मन और धन से पूरा प्रयत्न किया, अपनी धर्माज्ञा प्रजा की जानकारी के निमित्त पहाड़ी चट्टानों तथा पाषाण के विशाल स्तंभों पर कई स्थानों में खुदवाई, जो शाहबाज़गढ़ी (पेशावर ज़िले में), कालसी (संयुक्त प्रदेश के देहरादून ज़िले में), रुम्मिनदेई और निग्लिवा (दोनों नेपाल की तराई में), देहली, इलाहाबाद, सारनाथ (बनारस के पास), वैराट (राजपूताना के जयपुर राज्य में), लोरिया अरराज अथवा रधिया, लोरिया नवंदगढ़ अथवा मथिया, रामपुरवा (तीनों बिहार के चंपारन ज़िले में), सहसराम (बिहार के शाहाबाद ज़िले में), बराबर (बिहार में गया के निकट), रूपनाथ (मध्यप्रदेश के जबलपुर ज़िले में), सांची (भोपाल राज्य में), गिरनार (काठियावाड़ में), सोपारा (बंबई से ३७ मील उत्तर में), धौली (उड़ीसे के पुरी ज़िले में), जौगड़ (मदरास अहाते के गंजाम ज़िले में), ब्रह्मगिरि, सिद्धापुर और जतिंग-रामेश्वर (तीनों माइसोर राज्य के चितलदुर्ग ज़िले में) और मास्की (निज़ाम राज्य के रायचूर ज़िले में) में मिल चुकी हैं। इन स्थानों से उसके राज्य के विस्तार का अनुमान हो सकता है। उन आज्ञाओं से पाया

जाता है कि अशोक ने अपने रसोईघर में, जहां प्रतिदिन हज़ारों जीव भोजनार्थ मारे जाते थे उनको जीवदान देकर केवल दो मोर और एक हिरन प्रतिदिन मारने की आज्ञा दी, इतना ही नहीं, किंतु पीछे से उन्हें भी जीवदान देने की इच्छा प्रकट की। अपने राज्य में मनुष्य और पशुओं के लिए औषधालय स्थापित किये। सड़कों पर जगह जगह कुएं खुदवाये, वृक्ष लगवाये और धर्मशालाएं बनवाईं। अपनी प्रजा में माता-पिता की सेवा करने; मित्र, परिचित, संबंधी, ब्राह्मण तथा श्रमणों (बौद्ध साधुओं) का सम्मान करने; जीवहिंसा, व्यर्थव्यय, एवं परनिंदा को रोकने; दया, सत्यता, पवित्रता, आध्यात्मिक ज्ञान तथा धर्म का उपदेश करने का प्रबंध किया तथा धर्ममहामात्र नामक अधिकारी नियत किये, जो प्रजा के हित तथा सुख का यत्न करते; शहर गांव, राजमहल, अंतःपुर आदि सब स्थानों में जाकर धर्मोपदेश करते तथा धर्मसंबंधी सब कामों को देखते रहते थे। कई एक दूत (प्रतिवेदिक) भी नियत किये, जो प्रजासंबंधी खबरें राजा के पास पहुंचाया करते थे, जिनको सुनकर प्रजा के सुख के लिए योग्य प्रबंध किया जाता था। पशुओं को मारकर यज्ञ करने की राज्य भर में मनाई करदी गई थी; चौपाये, पक्षी तथा जलचरों एवं बच्चेवाली भेड़ बकरी तथा शूकरी को, ऐसे ही छः मास से कम अवस्थावाले उनके बच्चों को मारने की रोक की गई। अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या, पूर्णिमा तथा अन्य नियत दिनों में सब प्रकार की जीवहिंसा रोक दी गई। बैलों को दागने तथा बैल, बकरे, मेंढे या सूअरों को अख्ता करने, जंगलों में आग लगाने तथा जीवहिंसा से संबंध रखनेवाले बहुधा सब काम बंद कर दिये गये थे। वह सब धर्मवालों का सम्मान करता; मनुष्य के लिए सृष्टि का उपकार करने से बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है ऐसा मानता हुआ उसी के लिए यत्न करता; क्रोध, निर्दयता, अभिमान तथा ईर्षा को पाप मानता; ब्राह्मणों तथा श्रमणों के दर्शनों को लाभदायक समझता; प्रजा की भलाई में दत्तचित्त रहता और दंड देने में दया करता था।

वह अपने दादा चंद्रगुप्त से भी अधिक प्रतापी हुआ। उसकी मैत्री

भारतवर्ष से बाहर दूर दूर के विदेशी राजाओं से थी, जिनमें से ऐंटिओकस दूसरा (सीरिआ का), टॉलमी फिलाडेल्फस (मिसर का), ऐंटिगोनस (मक़दूनिया का), मेगस (सीरीन का) और अलेग्ज़ैंडर (इपीरस का) के नाम उसके मुख्य पहाड़ी चटानों की धर्माज्ञाओं में मिलते हैं। जीवहिंसा को रोकने तथा बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए दूर देशान्तरों में उसने उपदेशक भेजे थे और असंख्य बौद्ध-स्तूप भी बनवाये, जिनका उल्लेख चीनी यात्री फाहियान और हुएन्त्संग की यात्रा की पुस्तकों में मिलता है। पुराणों में अशोक का ३६ वर्ष राज्य करना लिखा है। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र कुनाल हुआ और दूसरे पुत्र जलौक को कश्मीर का राज्य मिला[१]।

(४) कुनाल के स्थान में सुयशा नाम भी पुराणों में मिलता है, जो उसका विरुद होना चाहिये। उसका पुराणों में आठ वर्ष राज्य करना लिखा है। उसके पीछे उसके पुत्र दशरथ ने राज्य पाया।

(५) दशरथ के शिलालेख नागार्जुनी गुफा (गया के निकट) में मिले हैं उनसे मालूम होता है कि वे गुफाएं आजीवकों को दी गई थीं[२]। बौद्धों के दिव्यावदान नामक पुस्तक में तथा जैनों के परिशिष्टपर्व, विचारश्रेणी तथा तीर्थकल्प से पाया जाता है कि कुनाल का पुत्र संप्रति[३] था।

---

(१) इं. ऐं; जि० १८, पृ० ६८।

(२) आजीवक भगवान् बुद्ध और जैनों के २४ वें तीर्थंकर महावीर स्वामी के समकालीन मक्खलीपुत्र गोशाल के मतावलम्बियों को कहते थे। कई विद्वान् उनको वैष्णव (भागवत) सम्प्रदाय के और कई दिगंबर जैन सम्प्रदाय के साधु बतलाते हैं, यद्यपि गोशाल के पूर्व भी इस सम्प्रदाय के दो और गुरुओं के नाम मिलते हैं। जैन कल्पसूत्र के अनुसार गोशाल पहले महावीरस्वामी का शिष्य था, परंतु फिर उनसे पृथक् होकर उसने अपना अलग पंथ चलाया। वही आजीवक सम्प्रदाय का आचार्य भी बना। इस सम्प्रदाय के साधु नग्न रहते और बस्ती के बाहर निवास करते थे।

(३) पुराणों की हस्तलिखित पुस्तकों में बहुधा संप्रति का नाम नहीं मिलता, तो भी वायुपुराण की एक हस्तलिखित प्रति में दशरथ के पुत्र का नाम संप्रति दिया है और मत्स्यपुराण में 'सप्तति' पाठ मिलता है, जो संप्रति का ही अशुद्ध रूप है (पार्जिटर; दी पुरान टेक्स्ट ऑव दी डाइनेस्टीज़ ऑव दी कलि एज; पृ० २८ और टिप्पण १)।

इससे अनुमान होता है कि मौर्य राज्य कुनाल के दो पुत्रों (दशरथ और संप्रति) में बंटकर पूर्वी विभाग दशरथ के और पश्चिमी संप्रति के अधिकार में रहा हो। संप्रति की राजधानी कहीं पाटलीपुत्र और कहीं उज्जैन लिखी मिलती है। राजपूताना, मालवा, गुजरात तथा काठियावाड़ के कई प्राचीन मंदिरों को, जिनके बनानेवालों का पता नहीं चलता, जैन लोग राजा संप्रति के बनवाये हुए मान लेते हैं। यद्यपि वे मंदिर इतने प्राचीन नहीं कि उनको संप्रति के समय के बने हुए कह सकें, तो भी इतना माना जा सकता है कि इन देशों पर संप्रति का राज्य रहा हो और कितने एक जैन मंदिर उसने अपने समय में बनवाये हों। तीर्थकल्प में यह भी लिखा है कि परमार्हत संप्रति ने अनार्य देशों में भी विहार (मंदिर) बनवाये थे[1]।

पुराणों के अनुसार दशरथ के पीछे पाटलीपुत्र की गद्दी पर संगत (इंद्रपालित), सोमशर्मा (देववर्मा), शतधन्वा (शतधर) और बृहद्रथ राजा हुए। बृहद्रथ के सेनापति सुंगवंशी पुष्यमित्र ने उसे मारकर उसका राज्य छीन लिया।

संप्रति के वंश का राजपूताने से संबंध रखनेवाला शृंखलाबद्ध कुछ भी इतिहास नहीं मिलता, तो भी राजपूताने में विक्रम की आठवीं शताब्दी तक मौर्यों का कुछ कुछ अधिकार रहने का पता लगता है।

चित्तोड़ का क़िला मौर्य राजा चित्रांग (चित्रांगद) का बनवाया हुआ है ऐसा प्रसिद्ध है और जैन ग्रंथों में भी लिखा मिलता है[2]। चित्तोड़ पर

राजपूताने के पिछले मौर्यवंशी राजा

का एक तालाव चित्रांग (चित्रांगद) मोरी का बनवाया हुआ माना जाता है और उसको 'चत्रंग' कहते हैं। मेवाड़ के राजा समरसिंह के समय के वि० सं० १३४४ (ई० स० १२८७) के चित्तोड़ के शिलालेख में 'चित्रंग तड़ाग' नाम

---

(१) 'बंबई गैज़ेटियर; जि० १, भाग १, पृ० १५ और टिप्पण २।

(२) तत्र चित्राङ्गदश्चक्रे दुर्गं चित्रनगोपरि ॥ १० ॥
नगरं चित्रकूटाख्यं देवेनतदधिष्ठितम्··· ॥ ११ ॥

से उसका उल्लेख हुआ है। चित्तोड़गढ़ से कुछ दूर मानसरोवर नामक तालाव पर राजा मान का, जो मौर्यवंशी माना जाता है, एक शिलालेख वि० सं० ७७० (ई० स० ७१३) का कर्नल् टॉड को मिला, जिसमें माहेश्वर, भीम, भोज और मान ये चार नाम क्रमशः दिये हैं। राजा मान वि० सं० ७७० (ई० स० ७१३) में विद्यमान था और उसी ने वह तालाव बनवाया था। राजपूताने में ऐसी प्रसिद्धि है कि मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा बापा (कालभोज) ने मान मोरी से चित्तोड़गढ़ लिया था।

कोटा के निकट कणसवा (कण्वाश्रम) के शिवालय में एक शिलालेख मालव (विक्रम) सं० ७९५ (ई० स० ७३८) का[२] लगा हुआ है, जिसमें मौर्यवंशी राजा धवल का नाम है। उसके पीछे राजपूताना के मौर्यों का कुछ भी वृत्तांत नहीं मिलता। अब तो राजपूताने में कोई मौर्यवंशी (मोरी) रहा ही नहीं है। पिछले समय में राजपूताने के समान बंबई इहाते के खानदेश पर भी मौर्यों का अधिकार रहा। वाघली गांव से मिले हुए शक संवत् ९९१ (वि० सं० ११२६=ई० स० १०६९) के शिलालेख में वहां के २० मौर्य राजाओं के नाम मिलते हैं, जिनके वंशज अब तक दक्षिण में पाये जाते और मोरे कहलाते हैं।

मालव

जैसे यौधेय, अर्जुनायन आदि प्राचीन जातियां थीं वैसे ही मालव नाम की भी एक प्राचीन जाति थी, जिसका अधिकार अवंती (पश्चिमी मालवा) और आकर (पूर्वी मालवा) पर रहने से उन देशों का नाम मालव (मालवा) हुआ। मालवों का अधिकार राजपूताने में जयपुर राज्य के दक्षिणी अंश, कोटा तथा झालावाड़ राज्यों पर, जो मालवे से मिले हुए हैं, रहा हो ऐसा अनुमान होता है। वि० सं० पूर्व की तीसरी शताब्दी के आस पास की लिपि के कितने एक तांबे के सिक्के जयपुर राज्य के उणियारा ठिकाने के अन्तर्गत प्राचीन 'नगर' (कर्कोटक नगर) के खंडहर से मिले हैं, जिनपर

(१) टॉ; रा; जि० २, पृ० ९१९-२२।

(२) इं० ऐं०; जि० १९, पृ० ५५-५७।

'मालवानां जय' (मालव जाति की विजय) लेख है[1]। कितने एक बहुत छोटे छोटे उनके तांबे के सिक्के भी मिले हैं, जिनमें से कई एक को पास पास रखने से उनपर का पूरा लेख 'जय मालवगणस्य[2]' (मालवगण की विजय) पढ़ा जाता है। ये सिक्के मालवगण या मालव जाति की विजय के स्मारक हैं। ऐसे ही कितने एक छोटे छोटे सिक्कों पर उक्त गण या जाति के राजाओं के नाम भी अंकित किये गये हों ऐसा अनुमान होता है, परंतु ऐसे छोटे सिक्कों पर उनके नाम और बिरुद का अंशमात्र ही आने से उन नामों का स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। कुछ विद्वानों ने उनके नाम पढ़ने का यत्न किया है और २० नाम प्रगट भी किये हैं[3], जो विलक्षण एवं अस्पष्ट हैं। उन्हीं अस्पष्ट पढ़े हुए नामों पर से कुछ विद्वानों ने यह भी कल्पना कर डाली है कि मालव एक विदेशी जाति थी, परंतु हम उसे स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि ऐसा मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं है और अब तो मालव जाति का नाम निशान भी नहीं रहा।

यूनानी या यवन (ग्रीक) राजा

अशोक के लेखों में यूनानी (ग्रीक) राजाओं को 'योनराज' कहा है। 'योन' संस्कृत के 'यवन[4]' शब्द का प्राकृत रूप ही है। पाणिनि की अष्टाध्यायी

(१) स्मि; कै० कॉ० इं० म्यू०; जि० १, पृ० १७०-७३।

(२) वही; पृ० १७३-७४।

(३) ये नाम इस तरह पढ़े गये हैं—भपंयन, यम (या मय), मजुप, मपोजय, मपय, मगजश, मगज, मगोजव, गोजर, माशप, मपक, यम, पछ, मगच्छ, गजव, जामक, जमपय, पय, महाराय और मरज, (वही, पृ० १७४-१७८)। इनमें से महाराय तो ख़िताब है और बाकी के नाम सिक्कों पर लेख के दो या चार अक्षर चाहे जहां के पाये उनको असंबद्ध जोड़कर ये नाम अटकलपच्चू धर दिये गये हैं। जब तक ख़िताब और पूरे नाम सहित स्पष्ट सिक्के न मिल जावें तब तक हम इन नामों में से एक को भी शुद्ध नहीं कह सकते।

(४) मत्स्यपुराण में लिखा है कि यदु के वंशज यादव, तुर्वसु के यवन, द्रुह्यु के भोजवंशी और अनु के वंशज म्लेच्छ हुए—

यदोस्तु यादवा जाता तुर्वसोर्यवनाः सुताः।

में 'यवनानी, शब्द मिलता है, जिसका आशय 'यवनों की लिपि' है। पीछे से यवन शब्द भारतवर्ष के बाहर की ईरानी, मुसलमान आदि सब जातियों के लिए व्यवहार में आने लगा। यूनान के बादशाह सिकंदर ने पंजाब तथा सिंध के, जो अंश अपने अधीन किये थे वे तो पांच वर्ष भी यूनानियों के अधिकार में रहने न पाये, परंतु हिन्दुकुश पर्वत के उत्तर में बाक्ट्रिया (बलख) में उनका राज्य जम गया था। वहां के राजा डेमिट्रियस ने, जो युथीडिमस का पुत्र था, हिंदुकुश को पारकर अफ़ग़ानिस्तान और पंजाब पर वि० सं० पूर्व १३३=ई० स० पूर्व १९० के आसपास अपना अधिकार जमाया। उन प्रदेशों पर यूनानियों के एक से अधिक स्वतंत्र राज्य स्थापित हुए, जहां २५ से अधिक राजाओं ने[1] राज किया, परंतु उनका शृंखलाबद्ध इतिहास नहीं मिलता है। उनके अधिकतर सिक्के ही मिले हैं, जिनकी एक ओर प्राचीन ग्रीक लिपि और ग्रीक भाषा का लेख तथा दूसरी तरफ़ उसी आशय का खरोष्ठी लिपि और प्राकृत भाषा का लेख है, जिसमें राजा का नाम और ख़िताब-मात्र दिये हैं; जिनसे न तो उनका क्रम, न परस्पर का संबंध और न ठीक समय नियत हो सकता है। उनमें मिनेंडर नामक राजा अधिक प्रतापी हुआ और उसने दूर-दूर तक अपना राज्य जमाया। मिनेंडर और ऍपोलोडॉटस के सिवाय किसी यूनानी राजा का संबंध राजपूताने के साथ नहीं था। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में अपने समय की भूतकालिक घटनाओं के उदाहरणों में 'यवन' (यवन राजा) का मध्यमिका पर आक्रमण करना लिखा है[2]। मध्यमिका नामक प्राचीन नगर मेवाड़ में चित्तोड़ के प्रसिद्ध क़िले से ७ मील उत्तर में था, जिसको अब 'नगरी' कहते हैं और

द्रुह्योश्चैव सुता भोजा अनोस्तु म्लेच्छजातयः ॥ ३ ॥

मत्स्यपुराण, अध्याय ३४।

ऐसा ही महाभारत और पद्मपुराण में लिखा मिलता है। यदु, तुर्वसु आदि राजा ययाति के पुत्र थे (देखो ऊपर पृ० ५१)।

(१) इन राजाओं की नामावली आदि के लिए देखो हिं० टा० रा०; पृ० ५१२-६८।

(२) मा० प्र० प; भाग ५, पृ० २०३, टिप्पण †।

जिसके खंडहर दूर दूर तक विद्यमान हैं। महाकवि कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक से पाया जाता है कि 'सुंग वंश' के संस्थापक पुष्यमित्र के अश्वमेध के घोड़े का सिंधु के दक्षिणी तटपर यवनों के रिसाले ने पकड़ लिया था, जिसको कुमार वसुमित्र लड़कर छुड़ालाया[1]। यह सिंधु नदी राजपूताने की सिंध (कालीसिंध) प्रतीत होती है। ऊपर लिखी हुई राजपूताने की दोनों घटनाएं किस यूनानी राजा के साथ हुई इसका कोई लिखित प्रमाण तो अब तक नहीं मिला, परंतु संभव यही है कि वे मिनेंडर के समय की हों। मिनेंडर के दो चांदी के सिक्के मुझे नगरी (मध्यमिका) से मिले, जो इस अनुमान की पुष्टि करते हैं। ऐसे ही काठियावाड़ और गुजरात से मिलनेवाले उसके सिक्के भी इसकी पुष्टि करते हैं। मिनेंडर के विषय में स्ट्रेबो ने लिखा है कि 'उसने पातालन् (सिंध), सुरास्ट्रस् (सोरठ, दक्षिणी काठियावाड़) तथा सागरडिस् (सागरद्वीप, यह कच्छ हो) को विजय किया था[2]।' वह राजा स्थविर नागसेन के उपदेश से बौद्ध हो गया था। मिलिंदपन्हो (मिलिंद-प्रश्न) नामक पाली भाषा के ग्रंथ में मिनेंडर और नागसेन के निर्वाण संबंधी प्रश्नोत्तर हैं। उक्त ग्रंथ से पाया जाता है कि मिलिंद (मिनेंडर) यवन (यूनानी) था, उसका जन्म अलसंद (अलेग्ज़ैंड्रिया, हिन्दुकुश के निकट का) में हुआ था, उसकी राजधानी साकल (पंजाब) में बड़ी समृद्धिवाला नगर था[3]। प्लुटार्क लिखता है—'वह ऐसा न्यायी और लोकप्रिय राजा था कि उसका देहान्त होने पर अनेक शहरों के लोगों ने उसकी राख आपस में बांट ली और अपने अपने स्थानों में ले जाकर उसपर स्तूप बनवाये[4]।' इससे भी उसका बौद्ध होना स्थिर होता है। मिनेंडर का नाम उसके सिक्कों पर 'मेनंद्र' लिखा मिलता है, जो मिनेंडर से बहुत मिलता जुलता है। उसका समय ई० स० पू० १५० (वि० सं० पूर्व ९३) के आसपास होना अनुमान

---

(१) ना० प्र० प०; भाग ५, पृ० २०३।

(२) बंबई गैज़ेटियर; जिल्द १, भाग १, पृ० १६।

(३) सेक्रेड बुक्स ऑव दी ईस्ट; जि० ३५-३६।

(४) न्युमिस्मैटिक क्रॉनिकल; ई० स० १८६९, पृ० २२९।

किया जाता है। ग्रीक राजाओं में इसी का संबंध राजपूताने से रहना पाया जाता है। पैरिप्लस का कर्त्ता यह भी लिखता है—'ऍपोलोडॉटस और मिनेंडर के सिक्के अब तक (ई० स० २४०=वि० सं० २९७ के आसपास तक) बरुगज़ (भृगुकच्छ, भड़ौच) में चलते हैं[1]।' इससे संभव है कि मिनेंडर के पीछे ऍपोलोडॉटस का संबंध गुजरात, राजपूताना आदि के साथ रहा हो।

अर्जुनायन

अर्जुनायन जाति के थोड़े से सिक्के मथुरा से मिले हैं, जिनपर वि० सं० के प्रारंभ काल के आसपास की लिपि में "अर्जुनायनानां जय" (अर्जुनायनों की विजय) लेख है[2]। इस जाति का अधिकार आगरा तथा मथुरा से पश्चिम के प्रदेश अर्थात् भरतपुर और अलवर राज्यों अथवा उनके कितने एक अंश पर कुछ समय तक रहना अनुमान किया जा सकता है[3]। प्रयाग के क़िले में राजा अशोक के विशाल स्तंभ पर गुप्तवंशी राजा समुद्रगुप्त का बड़ा लेख खुदा हुआ है, जिसमें उक्त राजा का कई अन्य जातियों के साथ अर्जुनायनों को भी अपने अधीन करना लिखा है[4]। इसके सिवाय इस जाति का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

क्षत्रप

क्षत्रप शब्द हिन्दुस्तान के क्षत्रप राजाओं के संस्कृत शिलालेखों में और उसका प्राकृत रूप खतप, छत्रप अथवा छत्रव उनके प्राकृत लेखों में मिलता है। क्षत्रपों के शिलालेखों तथा सिक्कों के अतिरिक्त क्षत्रप शब्द संस्कृत साहित्य में कहीं नहीं पाया जाता। संस्कृत शब्दरचना के अनुसार उक्त शब्द का अर्थ 'क्षत्रिय जाति का रक्षण करनेवाला (क्षत्रं पातीति क्षत्रपः)

---

(१) 'बंबई गैजेटियर'; जि० १, भाग १, पृ० १७-१८।

(२) स्मि; कै० कॉ० इं० म्यु; जि० १, पृ० १६१, १६६ और प्लेट २०, संख्या १०।

(३) वही पृ० १६१।

(४) नेपालकर्तृपुरादिप्रत्यन्तनृपतिभिर्म्मालवार्जुनायनयौधेयमाद्रकाभीरप्रार्जुनसनकानिककाकखरपरिकादिभिश्च सर्व्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोषितप्रचण्डशासनस्य (फ्ली; गु. इं; पृ. ८)।

होता है, परंतु वास्तव में यह शब्द संस्कृत भाषा का नहीं, किंतु प्राचीन ईरानी भाषा का है, जिसमें क्षत्रप (क्षत्रपावन) शब्द का अर्थ देश का स्वामी या ज़िले का हाकिम है।

हिंदुस्तान में प्रथम शक राजाओं की तरफ से रहनेवाले ज़िलों के हाकिम 'क्षत्रप' कहलाये। उस समय तो उक्त शब्द का अर्थ राजा का प्रतिनिधि या ज़िले का हाकिम ही था, परंतु पीछे से जब वे लोग स्वतंत्र बन बैठे तब वह शब्द उनके वंश का सूचक हो गया। उनका राज्य प्रथम पंजाब तथा मथुरा आदि में, और पीछे से राजपूताना, गुजरात, काठियावाड़, कच्छ तथा दक्षिण के कितने एक अंश पर रहा। इनमें से पहले दो का 'उत्तरी क्षत्रप' और पिछले का 'पश्चिमी क्षत्रप' नाम से विद्वानों ने परिचय दिया है। उत्तरी क्षत्रपों में से पंजाब के क्षत्रपों का राजपूताने से कोई संबंध नहीं रहा। मथुरावालों का अधिकार राजपूताने के उधर के थोड़े से अंश पर थोड़े समय तक ही रहा, परंतु पश्चिमी क्षत्रपों का राज्य राजपूताने के अधिक अंश पर बहुत समय तक बना रहा। मथुरा के क्षत्रपों का वृत्तान्त नीचे लिखे अनुसार मिलता है—

(१) मथुरा के क्षत्रपों में से सब से प्रथम नाम राजुल का मिलता है, और कहीं कहीं उसके स्थान में रजुबुल, राजुबुल और राजुवुल भी लिखा है। वह प्रारंभ में किसी शक महाराजा के अधीनस्थ मथुरा के आसपास के प्रदेश का क्षत्रप होना चाहिये, परंतु उसके कितने एक सिक्कों पर महाक्षत्रप की पदवी लिखी रहने से यह अनुमान हो सकता है कि पीछे से वह स्वतंत्र हो गया हो। उसकी अग्रमहिषी (पटराणी) 'नदसी अकसा' ने मथुरा में एक बौद्ध स्तूप और मठ बनवाया, जिससे संबंध रखनेवाले प्राकृत लेखों से ज्ञात हुआ कि उस(राणी)के पिता का नाम 'अयसिअ कुमुसअ' और माता का नाम 'अबुहोला' था। उसका पुत्र खरोस्ट उस समय युवराज था। स्तूप के उत्सव में राजा और राणी के संबंधी आदि कई लोग उपस्थित थे, जिनके नाम वहां के स्तंभ के सिंहाकृतिवाले सिरे पर के खरोष्ठी लिपि के लेखों में खुदे हुए हैं। उनमें से एक छोटासा लेख, "सारे शकस्तान के सम्मान

के लिए" इस आशय का होने से अनुमान होता है कि ये शक जाति के क्षत्रप हों। पुराणों से पाया जाता है कि शक भी क्षत्रिय (आर्य) जाति के लोग थे, परंतु ब्राह्मणों का संबंध छूट जाने से उनकी गणना वृषलों (पतितों) में हुई (देखो ऊपर पृ० ४९-५०)। युवराज खरोस्ट का न तो कोई शिलालेख और न कोई सिक्का ही अबतक मिला। इससे संभव है कि वह राजुल की जीवित दशा में ही मर गया हो, जिससे राजुल का उत्तराधिकारी उस(राजुल)का दूसरा पुत्र सोडास हुआ।

(२) महाक्षत्रप सोडास का एक शिलालेख संवत् ७२ का मथुरा में मिला है, परंतु वह कौनसा संवत् है यह अनिश्चित है; संभवतः वह विक्रम संवत् हो। उक्त दो महाक्षत्रपों के अतिरिक्त मथुरा से कुछ ऐसे सिक्के भी मिले हैं, जिनमें एक ही सिक्के पर 'हगान' और 'हगामाश' दोनों नाम हैं, और कुछ सिक्कों पर केवल 'हगामाश' का ही नाम है, इसलिए ये दोनों क्षत्रप भी एक दूसरे के बाद होने चाहिये (शायद भाई हों)। ऐसे ही कुछ सिक्कों पर क्षत्रप 'शकमित्र' के पुत्र क्षत्रप 'मेवक' का नाम मिलता है। वे सिक्के महाक्षत्रप सोडास के सिक्कों की शैली के हैं।

मथुरा के उपर्युक्त महाक्षत्रपों और क्षत्रपों के समयानुक्रम, तथा पारस्परिक सम्बन्ध के ठीक निश्चय करने के लिए अब तक साधन उपस्थित नहीं हुए। अनुमान होता है कि वे विक्रम संवत् के पूर्व की पहली शताब्दी और वि० सं० की पहली शताब्दी के बीच में हुए हों और उनका राज्य कुशनवंशियों ने छीना हो।

पश्चिमी क्षत्रप भी जाति के शक होने चाहिये क्योंकि महाक्षत्रप नहपान की पुत्री दक्षमित्रा का विवाह शक 'दीनीक' के पुत्र उषवदात के साथ हुआ था। इनके वंशवृक्ष से इन पश्चिमी क्षत्रपों में एक

पश्चिमी क्षत्रप

ऐसी रीति का होना पाया जाता है कि एक राजा के जितने पुत्र हों वे अपने पिता के पीछे क्रमशः राज्य के मालिक होते थे। उनके पीछे यदि ज्येष्ठ पुत्र का बेटा विद्यमान होता तो उसको राज्य मिलता था। राजपूतों की तरह सदा ज्येष्ठ पुत्र के वंश में ही राज्य नहीं रहने

पाता था। स्वतन्त्र राज्य करनेवाला 'महाक्षत्रप' की पदवी धारण करता और जो ज़िलों का शासक होता वह 'क्षत्रप' कहलाता था, परन्तु अपने नाम के सिक्के महाक्षत्रप और क्षत्रप दोनों चलाते थे। उन्होंने महाराजाधिराज, परमभट्टारक, परमेश्वर आदि ख़िताब कभी धारण नहीं किये, परंतु क्षत्रप शब्द के पूर्व 'राजा' पद सब लिखते रहे (राज्ञो महाक्षत्रपस्य। राज्ञः क्षत्रपस्य)। उनके शिलालेख थोड़े ही मिले हैं, परंतु सिक्के हज़ारों मिलते हैं, जिनपर बहुधा संवत् और महाक्षत्रप या क्षत्रप के नाम के साथ उसके पिता का नाम रहता है, जिससे उनका वंशक्रम स्थिर हो जाता है[1]। राजपूताने में उनके सिक्के पुष्कर, चित्तोड़, नगरी (मध्यमिका) आदि प्राचीन स्थानों में कभी कभी मिल जाते हैं, परंतु अधिक संख्या में नहीं। उनके चांदी के सिक्कों का बड़ा संग्रह बांसवाड़ा राज्य के सिरवाणिया गांव से वि० सं० १९६८ (ई० स० १९११) में मिला, जिसमें २३९३ सिक्के केवल उसी वंश के २१ महाक्षत्रपों या क्षत्रपों के थे, जिनपर शक संवत् १०३ से २७५ (वि० सं० २३८ से ४१०=ई० स० १८१ से ३५३) तक के अंक स्पष्ट थे। उन सिक्कों से इस बात की पुष्टि होती है कि राजपूताने के बड़े विभाग पर उनका राज्य था। इस वंश के राजाओं का परिचय नीचे दिया जाता है—

भूमक के तांबे के ही सिक्के पुष्कर आदि में मिले हैं, जिनपर के लेखों में उसको क्षहरात क्षत्रप कहा है। क्षहरात (छहरात, खहरात, खखरात) उसके वंश का नाम होना चाहिये। उसके सिक्कों पर कोई संवत् नहीं है और यह भी अब तक नहीं पाया गया कि उसने महाक्षत्रप पद धारण किया या नहीं। इसीसे हमने उसको महाक्षत्रपों में स्थान नहीं दिया है।

---

(१) लंडन नगर के ब्रिटिश म्यूज़ियम् में क्षत्रपों के सिक्कों का बड़ा संग्रह है, जिसकी विस्तृत सूची प्रसिद्ध विद्वान् प्रॉफेसर ई० जे० राप्सन ने प्रकाशित की है। सिरवाणिया से मिले हुए २३९३ सिक्कों का विवेचन मैंने राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९१२-१३ की रिपोर्ट में किया है।

(१) नहपान[1] के राज्य-समय के शक सं० ४१ से ४५ (वि० सं० १७६-१८०=ई० स० ११६-१२३) तक के शिलालेखों[2] में उसको क्षत्रप लिखा है, परंतु उसके मंत्री अयम (अर्यमन्) के शक सं० ४६ (वि० सं० १८१=ई० स० १२४) के लेख में उसके नाम के साथ 'महाक्षत्रप[3]' शब्द लगा है। नहपाल का राज्य दक्षिण में नासिक और पूना के ज़िलों से लगाकर गुजरात, काठियावाड़, मालवा और राजपूताने में पुष्कर से उत्तर तक था। उसका जामाता शक उषवदात उसका सेनापति रहा हो ऐसा प्रतीत होता है। वह उसके राज्य में दौरा करता और जगह जगह दान दिया करता था। उसके लेख से पाया जाता है कि राजपूताने में उसने बार्णासा (बनास) नदी पर तीर्थ (घाट) बनवाया और सुवर्ण का दान किया। वह भट्टारक (नहपान) की आज्ञा से चौमासे में ही मालयों (मालवों) से घिरे हुए उत्तमभाद्र क्षत्रियों को छुड़ाने के वास्ते गया। मालव उसके आने की आहट पाते ही भाग निकले, परंतु वे उत्तमभाद्र क्षत्रियों के बंधुए बनाये गये। फिर उसने पुष्कर जाकर स्नान किया और वहां ३००० गौ और एक गांव दान में दिया[4]। अन्त में आंध्र (सातवाहन) वंश के राजा गौतमीपुत्र शातकर्णी ने क्षहरात वंश को नष्ट कर नहपान के राज्य का बड़ा हिस्सा अपने राज्य में मिला लिया[5]।

(२) चष्टन—घ्सामोतिक[6] (ज़ामोतिक) का पुत्र था। उसके कुछ

---

(१) नहपान का भूमक के साथ क्या संबंध था यह अब तक ज्ञात नहीं हुआ तो भी यह निश्चित है कि नहपान भी क्षहरातवंशी था।

(२) ए० इं०; जि० १० का परिशिष्ट; लेखसंख्या ११३३-३५।

(३) वही; लेखसंख्या ११७४।

(४) ए. इं; जि० ८, पृ० ७८।

(५) वही; जि० ८; पृ० ६०।

(६) कोई कोई विद्वान् घ्सामोतिक को 'य्सामोतिक' पढ़ते हैं। क्षत्रपों के समय की ब्राह्मी लिपि में 'घ' और 'य' अक्षर कभी कभी मिलते जुलते होते हैं, परंतु यहां य्सामोतिक पढ़ना असंगत है। ज़ामोतिक को ब्राह्मी लिपि में घ्सामोतिक लिखा है और वैसा ही पढ़ना ठीक प्रतीत होता है।

सिक्के क्षत्रप और कुछ महाक्षत्रप पदवीवाले मिले हैं। नहपान के वंश से उसका क्या संबंध था यह मालूम नहीं। उसने नहपान का खोया हुआ बहुतसा राज्य अपने अधीन किया। उसका पुत्र जयदामा उसकी विद्यमानता ही में मर गया, जिससे जयदामा का पुत्र रुद्रदामा उसका उत्तराधिकारी हुआ।

(३) रुद्रदामा—पश्चिमी क्षत्रपों में सब से प्रतापी राजा हुआ। कच्छ राज्य के अंधौ गांव से उसके ४ शिलालेख शक संवत् ५२ (वि० सं० १८७= ई० स० १३०) के मिले हैं[1], जिनमें 'क्षत्रप' शब्द के स्थान पर 'राज्ञः' शब्द का प्रयोग चष्टन और रुद्रदामा के नामों के साथ किया गया है, परंतु घ्सामोतिक तथा जयदामा के नामों के साथ उस शब्द का प्रयोग नहीं है। ऐसी दशा में यह मानना युक्तिसंगत है कि उक्त संवत् से पूर्व वह स्वतंत्र राजा हो गया हो। गिरनार के पास अशोक के १४ प्रज्ञापनवाले चटान पर रुद्रदामा के समय का एक शिलालेख है, जिससे पाया जाता है कि उसने युद्ध के सिवा मनुष्य वध न करने की प्रतिज्ञा की थी। वह पूर्वी और पश्चिमी आकरावंती[2], अनूप[3], आनर्त[4], सुराष्ट्र[5], श्वभ्र[6], मरु[7], कच्छ[8], सिंधुसौवीर[9], कुकुर[10],

(१) ए. इं; जि० १६, पृ० २३-२५।

(२) आकरावंती (आकर और अवंती) अर्थात् पूर्वी और पश्चिमी मालवा (सारा मालवा)।

(३) जल की बहुतायतवाला देश, शायद यह मालवे से दक्षिण के प्रदेश का सूचक हो।

(४) उत्तरी काठियावाड़।

(५) दक्षिणी काठियावाड़ (सोरठ)।

(६) साबरमती के तटों पर का देश अर्थात् उत्तरी गुजरात।

(७) मारवाड़।

(८) कच्छ देश प्रसिद्ध है।

(९) सिंधु और सौवीर। सौवीर सिंध से मिला हुआ देश होना चाहिये। चाहे वह सिंध के उत्तरी हिस्से का सूचक हो चाहे सिंध से मिले हुए जोधपुर राज्य के पश्चिमी हिस्से का।

(१०) कुकुर का स्थान अनिश्चित है। शायद वह इंदोर राज्य का कुकरेश्वर नामक ज़िला हो, जो मंदसौर से उत्तर पूर्व में है और जहां पान अधिकता से होते हैं।

अपरांत[1], निषाद[2] आदि देशों का राजा था। उसके राज्य में चोर आदि का भय न था, सारी प्रजा उसमें अनुरक्त थी, क्षत्रियों में 'वीर' का ख़िताब धारण करनेवाले यौधेयों को उसने नष्ट किया था, दक्षिणापथ (दक्षिण) के स्वामी सातकर्णी को दो बार परास्त किया, परंतु निकट का संबंधी होने से उसको मारा नहीं, और पदच्युत किये हुए राजाओं को फिर अपने राज्यों पर स्थापित किया। धर्म में उसे रुचि थी। वह व्याकरण, संगीत, तर्क आदि शास्त्रों का प्रसिद्ध ज्ञाता; अश्व, रथ और हाथी का चढ़ैया, तलवार और ढाल से लड़ने में कुशल और शत्रुसैन्य को सहज में जीतनेवाला था। उसका कोष सोना, चांदी और हीरे आदि रत्नों से भरा हुआ था, वह गद्य और पद्य का लेखक था। महाक्षत्रप पद उसने स्वयं धारण किया था और अनेक स्वयंवरों में राजकन्याओं ने उसे वरमालाएं पहिनाई थीं। उसके समय में शक संवत् ७२ (वि० सं० २०७=ई० स० १५०) मार्गशीर्ष कृष्णा १ को अतिवृष्टि के कारण ऊर्जयंत (गिरनार) पर्वत से निकलनेवाली सुवर्णसिकता, पलाशिनी आदि नदियों की बाढ़ से सुदर्शन तालाब का बंद ४२० हाथ लंबा, उतना ही चौड़ा और ७५ हाथ गहरा बह गया था। इतना बड़ा बंद फिर बनवाना कठिन काम था, परंतु प्रजा के आराम के लिए उस(रुद्रदामा)की आज्ञा से आनर्त और सुराष्ट्र के शासक सुविशाख ने, जो पल्हव कुलेप का पुत्र था, उस(बंद)को पहले से तिगुना मज़बूत बनवा दिया, जिसका कुल खर्च राजा के खज़ाने से दिया गया। उसके निमित्त न तो प्रजा पर कोई कर लगाया और न बेगार में काम कराया गया[3]। इस लेख से पाया जाता है कि रुद्रदामा की राजधानी काठियावाड़ में न होकर उज्जैन होनी चाहिये, जो उसके दादा की राजधानी थी। उसके दो पुत्र दामघ्सद (दामजदश्री) और रुद्रसिंह थे, जिनमें से ज्येष्ठ पुत्र दामघ्सद उसके राज्य का स्वामी हुआ।

---

(१) उत्तरी कोंकण।

(२) निषाद का स्थान भी अनिश्चित है। शायद यह निषाद अर्थात् भील आदि जंगली जातियों से बसे हुए किसी प्रदेश का सूचक हो।

(३) ए. इं; जि० ८, पृ० ४२-४५। इं ऐं; जि० ७, पृ० २५६-६१।

(४) दामघ्सद के दो पुत्र सत्यदामा और जीवदामा थे, जिनमें से जीवदामा अपने चाचा रुद्रसिंह का उत्तराधिकारी हुआ। सत्यदामा अपने छोटे भाई के महाक्षत्रप होने के पूर्व ही मर गया हो ऐसा अनुमान किया जाता है, क्योंकि उसको महाक्षत्रप नहीं लिखा है।

(५) रुद्रसिंह (संख्या ४ का छोटा भाई)-उसके समय के चांदी के सिक्के शक सं० १०३ से ११० (वि० सं० २३८ से २४५=ई० स० १८१ से १८८) तक के मिले हैं। फिर शक सं ११० से ११२ (वि० सं० २४५ से २४७=ई० स० १८८ से १९०) तक के सिक्कों में उसको क्षत्रप ही लिखा है, जिससे अनुमान होता है कि दो वर्ष तक वह किसी के अधीन रहा हो। संभव है कि उसको दो वर्ष तक अपने अधीन रखनेवाला महाक्षत्रप ईश्वरदत्त हो, जिसके सिक्के केवल पहले और दूसरे राज्यवर्ष के ही मिलते हैं। शक सं० ११३ से ११८ (वि० सं० २४८ से २५३=ई० स० १९१ से १९६) तक के सिक्कों में उसकी पदवी फिर महाक्षत्रप होने से अनुमान होता है कि दो वर्ष पीछे वह पुनः स्वतन्त्र हो गया था। उसके समय का एक शिलालेख गुंदा गांव (जामनगर राज्य) से शक सं० १०३ (वि० सं० २३८=ई० स० १८१) वैशाख सुदी ५ का मिला, जिसमें आभीर (अहीर) जाति के सेनापति बाहक के पुत्र सेनापति रुद्रभूति के एक ह्रद (तालाब) बनाने का उल्लेख है[1]। रुद्रसिंह के तीन पुत्र रुद्रसेन, संघदामा और दामसेन थे, जो जीवदामा के पीछे क्रमशः राजा हुए।

(६) ईश्वरदत्त के पहले और दूसरे राज्यवर्ष के सिक्के मिलते हैं, जिनपर न तो उसके पिता का नाम है और न संवत्, जिससे उसका पूर्व के राजाओं के साथ का संबंध निश्चय नहीं हो सकता। उसने रुद्रसिंह को दो वर्ष तक अपने अधीन रक्खा हो ऐसा अनुमान होता है।

(७) जीवदामा (संख्या ४ वाले दामजदश्री का दूसरा पुत्र)-उसके समय के सिक्के शक सं० ११९ और १२० (वि० सं० २५४ और २५५=ई० स० १९७ और १९८) के मिले हैं। उसके पीछे उसके चाचा रुद्रसिंह का

(१) भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स; पृ० २२।

ज्येष्ठ पुत्र रुद्रसेन राजा हुआ।

(८) रुद्रसेन के समय के चांदी के सिक्के शक सं० १२२ से १४४ (वि० सं० २५७ से २७६=ई० सन् २०० से २२२) तक के मिले हैं। उसके राज्य-समय का एक शिलालेख गढ़ा गांव (काठियावाड़ के जसदण राज्य में) से मिला है, जो शक सं० १२७ (वि० सं० २६२=ई० स० २०५) भाद्रपद बहुल (कृष्ण) ५ का है[1] और उसमें मानस गोत्र के प्रधानक के पुत्रों और खर के पौत्रों का एक सत्र (अन्नक्षेत्र) बनाने का उल्लेख है। उस(रुद्रसेन) के दो पुत्र पृथ्वीसेन और दामजदश्री थे, जो क्षत्रप ही रहे। कुल-मर्यादा के अनुसार रुद्रसेन का उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई संघदामा हुआ।

(९) संघदामा के समय के चांदी के सिक्के शक सं १४४ और १४५ (वि० सं० २७९ और २८०=ई० स० २२२ और २२३) के मिले हैं। उसने दो वर्ष से कम ही राज्य किया। उसके उपरान्त उसका छोटा भाई दामसेन शासक हुआ।

(१०) दामसेन के चांदी के सिक्के शक सं० १४५ से १५८ (वि० सं० २८० से २९३=ई० स० २२३ से २३६) तक के मिले हैं। उसके ४ पुत्र वीरदामा, यशोदामा, विजयसेन, और दामजदश्री (दूसरा) थे, जिनमें से वीरदामा क्षत्रप ही रहा और संभवतः वह अपने पिता की विद्यमानता में ही मर गया हो, जिससे दामसेन का उत्तराधिकारी उसका दूसरा पुत्र यशोदामा हुआ।

(११) यशोदामा के समय के चांदी के सिक्के शक सं० १६१ (वि० सं० २९६=ई० स० २३९) के मिले हैं। उसके पीछे उसका छोटा भाई विजयसेन क्षत्रप राज्य का स्वामी हुआ।

(१२) विजयसेन के सिक्के शक सं० १६१ से १७२ (वि० सं० २९६ से ३०७=ई० स० २३९ से २५०) तक के मिले हैं। उसका उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई दामजदश्री (दूसरा) हुआ।

(१३) दामजदश्री (दूसरे) के सिक्के शक सं० १७२ से १७६ (वि० सं० ३०७ से ३११=ई० स० २५० से २५४) तक मिले हैं।

---

(१) भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स; पृ० २२-२३।

(१४) रुद्रसेन दूसरा (संख्या १० के ज्येष्ठ पुत्र क्षत्रप वीरदामा का बेटा)-उसके सिक्के शक सं० १७८ से १९६ (वि० सं० ३१३ से ३३१=ई० स० २५६ से २७४) तक के हैं। उसके दो पुत्र विश्वसिंह और भर्तृदामा थे, जो उसके पीछे क्रमशः राजा हुए।

(१५) विश्वसिंह के सिक्कों पर संवत् के अंक अस्पष्ट हैं।

(१६) भर्तृदामा (संख्या १५ का छोटा भाई)-उसके सिक्के शक सं० २०६ से २१७ (वि० सं० ३४१ से ३५२=ई० स० २८४ से २९५) तक के मिले हैं। उसके पुत्र विश्वसेन के सिक्के मिलते हैं, जिनमें उसको क्षत्रप लिखा है। संख्या ३ से १६ तक (संख्या ६ को छोड़कर) महाक्षत्रपों की वंशावली शृंखला-बद्ध मिलती है, फिर स्वामिरुद्रदामा (दूसरे) से वंशावली शुरू होती है।

(१७) स्वामिरुद्रदामा किसका पुत्र था यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसका कोई सिक्का अब तक नहीं मिला। उसका नाम और महा-क्षत्रप की पदवी उसके पुत्र स्वामिरुद्रसेन (दूसरे) के सिक्कों पर मिलती है। स्वामिजीवदामा का उसके समय के निकट ही होना अनुमान किया जाता है। जीवदामा के पुत्र रुद्रसिंह और पौत्र यशोदामा के सिक्के मिलते हैं, जिनमें उनको क्षत्रप कहा है। संभव है कि स्वामिरुद्रदामा, स्वामिजीवदामा का पुत्र या उसका निकट का संबंधी हो।

(१८) स्वामिरुद्रसेन (संख्या १७ का पुत्र)-के सिक्के शक सं० २७० से ३०० (वि० सं० ४०५ से ४३५=ई० स० ३४८ से ३७८) तक के मिलते हैं।

(१९) स्वामिसिंहसेन (संख्या १८ का भानजा)—उसके सिक्के शक सं० ३०४ (वि० सं० ४३९=ई० स० ३८२) के मिले हैं।

(२०) स्वामि[रुद्र]सेन दूसरा (संख्या १९ का पुत्र)-उसके सिक्के बहुत कम मिलते हैं और उनपर संवत् नहीं है।

(२१) स्वामिसत्यसिंह-का कोई सिक्का नहीं मिला, जिससे उसके पिता के नाम का पता नहीं चलता। उसके नाम और महाक्षत्रप के ख़िताब का पता उसके पुत्र महाक्षत्रप स्वामिरुद्रसिंह के सिक्कों से लगता है।

(२२) स्वामिरुद्रसिंह (सं० २१ का पुत्र)-उसके सिक्के शक सं०

३१० (वि० सं० ४४५=ई० स० ३८८) और कुछ उसके बाद के भी मिले हैं, परंतु उन पिछले सिक्कों पर संवत् का तीसरा अंक अस्पष्ट है। गुप्त वंश के महाप्रतापी राजा चंद्रगुप्त (दूसरे) ने, जिसका बिरुद विक्रमादित्य था, स्वामिरुद्रसिंह का सारा राज्य छीनकर क्षत्रपों के राज्य की समाप्ति कर दी, जिससे राजपूताने पर से उनका अधिकार उठ गया।
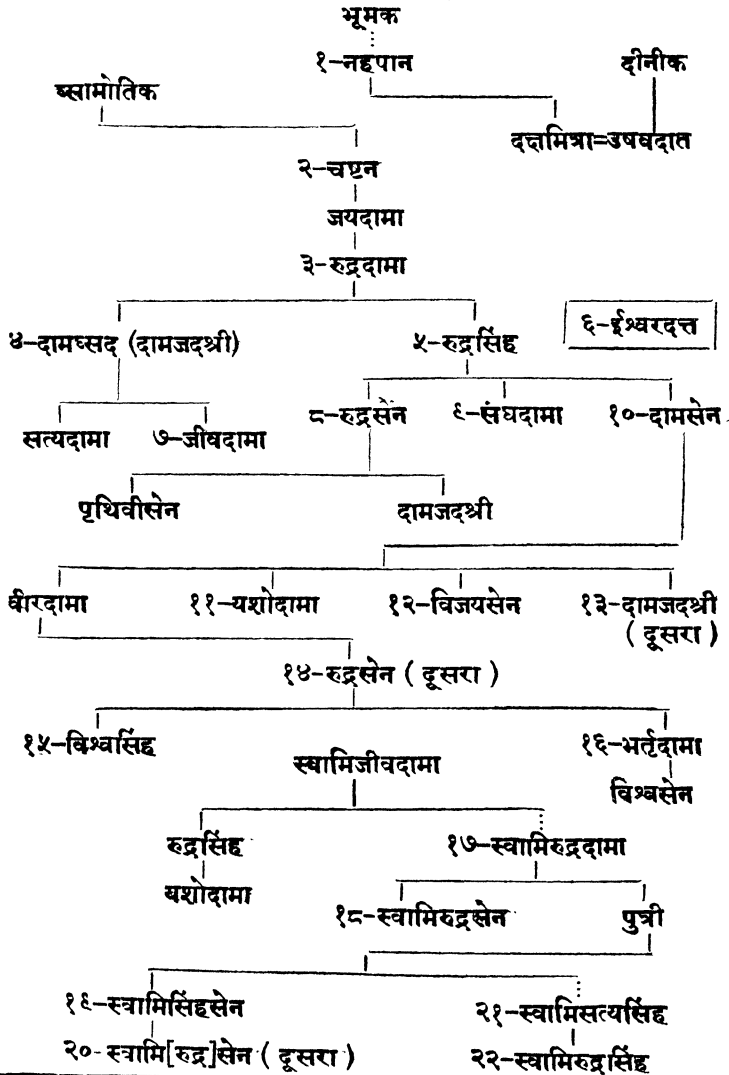
(१) इस वंशवृक्ष में महाक्षत्रपों के नाम और उनका क्रम अंकों से बतलाया गया है। जिन नामों के पूर्व अंक नहीं हैं वे केवल क्षत्रप थे।

पश्चिमी क्षत्रपों और महाक्षत्रपों की नामावली संवत् सहित।

संख्या	नाम क्षत्रप	ज्ञात समय		संख्या	नाम महाक्षत्रप	ज्ञात समय	
		शक सं०	घि० सं०			शक सं०	वि० सं०
१	भूमक						
२	नहपान	४१-४५	१७६-१८०	१	नहपान	४६	१८१
३	चष्टन			२	चष्टन		
४	जयदामा			३	रुद्रदामा	५२-७२	१८७-२०७
५	दामघ्सद दामजदश्री			४	दामघ्सद दामजदश्री		
				५	रुद्रसिंह	१०३-११०	२३८-२४५
६	सत्यदामा			६	ईश्वरदत्त	दो वर्ष	दो वर्ष
७	रुद्रसिंह	१०२-१०३	२३७-२३८		रुद्रसिंह दूसरीवार	११३-११८	२४८-२५३
	रुद्रसिंह दूसरीवार	११०-११२	२४५-२४७	७	जीवदामा	११९-१२०	२५४-२५५
८	रुद्रसेन	१२१	२५६	८	रुद्रसेन	१२२-१४४	२५७-२७९
९	पृथिवीसेन	१४४	२७९	९	संघदामा	१४४-१४५	२७९-२८०
१०	दामजदश्री	१५४-१५५	२८९-२९०	१०	दामसेन	१४५-१५८	२८०-२९३
११	वीरदामा	१५६-१६०	२९१-२९५				
१२	यशोदामा	१६०	२९५	११	यशोदामा	१६१	२९६
१३	विजयसेन	१६०	२९५	१२	विजयसेन	१६१-१७२	२९६-३०७
				१३	दामजदश्री	१७२-१७६	३०७-३११
				१४	रुद्रसेन	१७८-१९६	३१३-३३१
१४	विश्वसिंह	१९८-२००	३३३-३३५	१५	विश्वसिंह		
१५	भर्तृदामा	२००-२०४	३३५-३३९	१६	भर्तृदामा	२०६-२१७	३४१-३५२
१६	विश्वसेन	२१५-२२६	३५०-३६१				
१७	रुद्रसिंह	२२६-२३६	३६१-३७१	१७	स्वा. रुद्रदामा		
१८	यशोदामा	२३९-२५४	३७४-३८९	१८	,, रुद्रसेन	२७०-३००	४०५-४३५
				१९	,, सिंहसेन	३०४	४३९
				२०	,, रुद्रसेन		
				२१	,, सत्यसिंह		
				२२	,, रुद्रसिंह	३१०	४४५

कुशनवंश

कुशनवंश का परिचय हम ऊपर (पृ० ५६–६० में) दे चुके हैं। मथुरा के निकटवर्ती राजपूताने के प्रदेश पर इस वंश का अधिकार कनिष्क के पिता वाझेष्क के समय से हुआ हो ऐसा अनुमान होता है। इन राजाओं के समय के कई शिलालेख मथुरा तथा उसके आसपास के प्रदेशों से मिले हैं। उन शिलालेखों के संवतों के विषय में विद्वानों में मतभेद है; कोई उनको विक्रम संवत्, कोई शक संवत् और कोई शताब्दी के अंक छोड़कर ऊपर के ही वर्ष मानते हैं। हमारा अनुमान है कि उनके संवत् शक संवत् हैं। कनिष्क तथा उसके पीछे के तीनों राजाओं के सिक्कों पर दोनों ओर प्राचीन ग्रीक लिपि के लेख हैं[1]।

(१) वाझेष्क के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ। आरा से मिले हुए खरोष्ठी लिपि के कनिष्क के समय के शक सं० ४१ (वि० सं० १७६= ई० स० ११९) के लेख में कनिष्क को वाझेष्क का पुत्र कहा है।

(२) कनिष्क के समय के शिलालेख शक सं० ५ से ४१ (वि० सं० १४० से १७६=ई० स० ८३ से ११९) तक के मिले हैं[2]। हिन्दुस्तान में उसका राज्य पंजाब और कश्मीर से लगाकर पूर्व में काशी से परे तक; दक्षिण में सिंध, और राजपूताने में मथुरा से दक्षिण के प्रदेशों पर होना पाया जाता है। उसने हिन्दुकुश पर्वत से उत्तर में बढ़कर खोतान, यारकन्द तथा काशगर तक के प्रदेशों पर भी अपना अधिकार जमाया था। बौद्ध

(१) कनिष्क के पहले कुशनवंशी राजा 'कुजुलकडफिसेस' (कुजुल कस) और 'वेमकडफिसेस' (विम कटफिस) के सिक्के मिले हैं, जिनकी एक तरफ प्राचीन ग्रीक भाषा एवं लिपि के और दूसरी ओर खरोष्ठी लिपि में भारतीय प्राकृत भाषा के लेख हैं। कनिष्क और उसके पिछले राजाओं के सिक्कों पर दोनों ओर ग्रीक लिपि के ही लेख हैं। 'कुजुलकडफिसेस' और 'वेमकडफिसेस' के साथ कनिष्क का क्या संबंध था यह अनिश्चित है। संभव है कि वे दोनों राजा कनिष्क से बहुत पहले हुए हों और कुशनवंश की अन्य शाखा से संबद्ध रहे हों।

(२) कनिष्क के समय के शिलालेखों के लिए देखो ए. इं; जि० १० का परिशिष्ट; लेखसंख्या १८, २१, २२ और २३। ज० रॉ. ए. सो; ई. स. १९२४, पृ० ४००; और आरा के लेख के लिए देखो ए. इं; जि० १४, पृ० १४३।

धर्म की ओर उसका झुकाव अधिक होने पर भी वह हिन्दुओं के शिव आदि देवताओं का पूजक था और होम करता था, ऐसा उसके सिक्कों पर मिलनेवाली शिव की मूर्ति आदि से पाया जाता है। उसके बनवाये हुए पेशावर के बौद्ध स्तूप का पता लग गया है। बौद्ध ग्रंथों में उल्लेख है कि उसने अपनी कश्मीर की राजधानी में बौद्ध धर्म के पुराने सिद्धान्तों का निर्णय करने के लिए बौद्ध संघ एकत्र किया था उसमें जो त्रिपिटिक माना गया उसको उसने तांबे के पत्रों पर खुदवाकर पत्थर की संदूक में रखवाया और उसपर एक स्तूप बनवाया था[1]। उस स्तूप तथा उन पत्रों का अब तक पता नहीं लगा है। वास्तव में वह संघ बौद्धों के हीनयान पंथ (प्राचीन मतावलंबियों) का था, जिनकी संख्या इस देश में बहुत थोड़ी थी। दूसरा पंथ महायान कहलाता था, जिसके अनुयायी विशेष थे। कनिष्क के समय में शिल्प और विद्या की बड़ी उन्नति रही, प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् नागार्जुन, अश्वघोष और वसुमित्र तथा सुप्रसिद्ध चरक उस राजा के सम्मानपात्र थे।

(३) वासिष्क के शिलालेख शक सं० २४ और २८ (वि० सं० १५६ और १६३=ई० स० १०२ और १०६) के मिले हैं[2]। कनिष्क के साथ उसका क्या सम्बन्ध था इसका कुछ पता नहीं चलता (शायद वह कनिष्क का पुत्र हो)। अनुमान है कि जिस समय कनिष्क मध्य एशिया की लड़ाइयों में लगा था उस समय वह (वासिष्क) मथुरा आदि के इलाक़ों का शासक रहा हो (स्वतन्त्र राजा न हो)।

(४) हुविष्क—राजतरंगिणी में उसका नाम हुष्क मिलता है। उसके समय के शिलालेख शक सं० ३३ से ६० (वि० सं० १६८ से १९५=ई० स० १११ से १३८) तक के मिले हैं[3]। कनिष्क या वासिष्क के साथ उसका

---

(१) 'भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ० १५४, टिप्पणी १। बी; बु० रे० वे० व; जि० १, पृ० १५५।

(२) आर्कियालॉजिकल सर्वे की रिपोर्ट; ई० स० १९१०-११, पृ० ४१-४२।

(३) ए० इं०; जि० १० का परिशिष्ट; लेखसंख्या ३५, ३८, ४१, ४६, ५१, ५२, ५६, ६२ और ८०।

क्या संबंध था यह निश्चयरूप से ज्ञात नहीं है, शायद वह भी कनिष्क का पुत्र हो और प्रारम्भ में अपने पिता की ओर से इधर का शासक रहा और उसकी मृत्यु के पीछे स्वतन्त्र राजा हुआ हो।

(५) वासुदेव के समय के शिलालेख शक सं० ७४ से ६८ (वि० सं० २०६ से २३३=ई० स० १५२ से १७६) तक के मिले हैं[1]। उसका हुविष्क के साथ क्या संबंध था यह भी अब तक ज्ञात नहीं हुआ।

वासुदेव के पीछे भी कुशनवंशियों का राज्य मथुरा आदि प्रदेशों पर रहा हो, परंतु उसका कुछ भी पता नहीं चलता।

गुप्तवंश

गुप्तवंशी राजा किस वंश के थे इसका कुछ भी उल्लेख उनके पहले के शिलालेखादि में तो नहीं मिलता, परंतु उक्त वंश के पिछले समय के राजाओं के लेखों में उनका चद्रवंशी होना लिखा है[2]। उनके नामों के अन्त में गुप्त पद देखकर कोई कोई यह अनुमान कर बैठते हैं कि वे राजा वैश्य हों, परंतु ऐसा मानना भ्रम ही है। पुराणों में सूर्य वंश के भी एक राजा का नाम उपगुप्त मिलता है[3]। ऐसे ही प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर के पिता

---

(१) ए० इं० जि० १० का परिशिष्ट, लेखसंख्या ६०, ६६, ६८, ७२ और ७६।

(२) गुप्तों का महाराज्य नष्ट होने के बाद भी उनके वंशजों का राज्य मगध, मध्यप्रदेश और गुत्तल (बंबई इहाते के धारवाड़ ज़िले में) आदि पर था। गुत्तल के गुप्तवंशी अपने को उजैन के महाप्रतापी राजा चंद्रगुप्त (विक्रमादित्य) के वंशज और सोमवंशी मानते थे (बंबई गैज़ेटियर; जि० १, भाग २, पृ० ५७८; टिप्पण ३। 'पाली, संस्कृत ऐंड ओल्ड कैनेरीज़ इन्स्क्रिपशन्स'; संख्या १०८)। सिरपुर (मध्यप्रदेश की रायपुर तहसील में) से मिले हुए महाशिवगुप्त के शिलालेख में वहां के गुप्तवंशी राजाओं को चंद्रवंशी बतलाया है—

[आसीच्छशी]व भुवनाद्भुतभूतभूतिरुद्भूतभूतपति[भक्तिसम]प्रभावः।
चन्द्रान्वयैकतिलकः खलु चन्द्रगुप्तराजाख्यया पृथुगुणः प्रथितः पृथिव्याम्॥

ए० इं०; जि० ११, पृ० १९०।

(३) उपगुप्त सूर्यवंशी इक्ष्वाकु के पुत्र निमि (विदेह) का वंशधर था—

का नाम आदित्यदास था[1], तो क्या अन्त में केवल 'गुप्त' और 'दास' पदों[2] के आने से ही यह कहा जा सकता है कि सूर्यवंशी उपगुप्त वैश्य, और वराहमिहिर का पिता आदित्यदास शूद्र था ? गुप्तवंशियों का विवाह-संबंध लिच्छिवि[3]

तस्मात्समरथस्तस्य सुतः सत्यरथस्ततः ।
आसीदुपगुरुस्तस्मादुपगुप्तोऽग्निसंभवः ॥ २४ ॥

'भागवत'; स्कंध ६, अध्याय १४ ।

(१) आदित्यदासतनयस्तपदवाप्तबोधः कापित्थकेसवितृलब्धवरप्रसादः ।
आवंतिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्घोरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार ॥६॥

'बृहज्जातक'; उपसंहाराध्याय ।

(२) ब्राह्मण के नाम के अंत में शर्मा, क्षत्रिय के वर्मा, वैश्य के गुप्त और शूद्र के नाम के अंत में दास पद लगाने की शैली प्राचीन नहीं है और न उसका कभी पालन हुआ है । रामायण, महाभारत और पुराणों में इसका अनुकरण पाया नहीं जाता ।

(३) आधुनिक प्राचीन शोधक अपनी मनमानी अनेक कल्पनाएं कर डालते हैं उनमें से एक लिच्छिवियों के संबंध की भी है । विन्सेंट स्मिथ का मानना है कि लिच्छिविवंशी तिब्बती थे (इं. ऐं; जि० ३२, पृ० २३३–३६) । सतीशचंद्र विद्याभूषण का कथन है कि वे ईरानी थे (इं. ऐं; जि० ३७, पृ० ७८–८०) और मि० हॉगसन् ने उनको सीथियन् (शक) बतलाया है ('हॉगसन्स एसेज़'; पृ० १७) । इनमें से किसका कथन ठीक कहा जाय ? बॉथलिंग और रॉथ उनको क्षत्रिय मानते हैं (बाथलिंग और रॉथ के 'वार्टेबुख्' नामक महान् संस्कृत-जर्मन, कोष में 'लिच्छिवि' शब्द) । वही मत मोनियर विलियम का है (मोनियर विलियम का संस्कृत-अंग्रेज़ी कोश, दूसरा संस्करण, पृ० ९०२) । तिब्बती भाषा के प्राचीन ग्रंथ 'दुल्व' में उनको वसिष्ठगोत्री क्षत्रिय माना है (रॉकहिल; 'लाइफ़ ऑव् दी बुद्ध'; पृ० ९७ का टिप्पण) । बौद्धों के 'दीघनिकाय', (दीर्घनिकाय) के 'महापरिनिब्बाणसूत्र' में लिखा है कि लिच्छिविवंशियों ने भगवान् बुद्ध की अस्थि का विभाग यह कहकर मांगा था कि 'भगवान् भी क्षत्रिय थे और हम भी क्षत्रिय हैं' ('दीघनिकाय'; जि० २, पृ० १६४) । जैनों के 'कल्पसूत्र' से पाया जाता है कि 'महावीर स्वामी' लिच्छिवियों के मामा थे और उनके निर्वाण के स्मरणार्थ उन्हों(लिच्छिवियों)ने अपने नगर में रोशनी की थी ('सेक्रेड बुक्स ऑव दी ईस्ट'; जि० २२, पृ० २६६ । हर्मन जैकोबी का 'कल्पसूत्र' का अंग्रेज़ी अनुवाद) । विन्सेंट स्मिथ ने 'अर्ली हिस्टरी आफ़ इंडिया' (भारत के प्राचीन इतिहास) में लिखा है—'ई० स० की छठी और सातवीं शताब्दी के प्रारंभ काल में नेपाल में लिच्छिवि वंश का राज्य था । वैशाली

और वाकाटक आदि क्षत्रिय वंशों के साथ होने के प्रमाण मिलते हैं, जो उनका क्षत्रिय होना ही बतलाते हैं। गुप्तवंशी राजाओं का प्रताप बहुत ही बढ़ा, और एक समय ऐसा था कि द्वारिका से आसाम तक तथा पंजाब से नर्मदा तक का सारा देश उनके अधीन था एवं नर्मदा से दक्षिण के देशों में भी उन्होंने विजय का डंका बजाया था। उन्होंने वि० सं० ३७६=ई० स० ३१९ से अपना संवत् चलाया, जो गुप्त संवत् के नाम से अनुमानतः ६५० वर्ष तक चलता रहा। पीछे से वही संवत् वलभी संवत् के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ[1]। मौर्यवंशी राजा अशोक के समय से ही वैदिक धर्म की अवनति और बौद्ध धर्म की उन्नति होने लगी, परंतु गुप्तवंशियों ने वैदिक धर्म की जड़ पीछी जमा दी जिससे बौद्ध धर्म अवनत होता गया। चिरकाल से न होनेवाला अश्वमेध यज्ञ भी उनके समय में फिर से आरम्भ हुआ। उनके कई शिलालेख, ताम्रपत्र और सोने, चांदी तथा तांबे के जो सिक्के मिले उनके आधार पर उनका थोड़ासा सारभूत वृत्तान्त नीचे लिखा जाता है—

श्रीगुप्त या गुप्त इस वंश का संस्थापक था, जिसके नाम पर यह वंश गुप्त नाम से प्रसिद्ध हुआ। गुप्त का पुत्र घटोत्कच था। इन दोनों का खिताब 'महाराज' मिलने से अनुमान होता है कि ये दोनों (गुप्त और घटोत्कच) किसी बड़े राजा के सामंत रहे होंगे। घटोत्कच का पुत्र चंद्रगुप्त इस

के लिच्छिवियों के साथ उनका क्या संबंध था इसका पता नहीं चलता, नैपाल के लिच्छिवियों के विषय में हुएन्त्संग लिखता है कि वे बड़े विद्वान् थे और बौद्ध धर्मावलंबी तथा क्षत्रिय जाति के थे, (पृ० ३६६; और थामस् वॉटर्स; 'ऑन युवन् च्वांग'; जि० २, पृ० ८४)। इन प्रमाणों से निश्चित है कि लिच्छिविवंशी क्षत्रिय ही थे। लिच्छिवियों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था, जिससे ब्राह्मणों ने उन(लिच्छिवियों)की गणना व्रात्यों की संतति में की है (मनुस्मृति; १०।२२), किंतु यह कथन धर्म-द्वेष से खाली नहीं है। बौद्ध धर्म के ग्रहण करने से क्षत्रिय व्रात्य (धर्मभ्रष्ट; संस्कारहीन) नहीं माने जा सकते। गुजरात के सोलंकी राजा कुमारपाल ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था, परंतु उसके पुरोहितों ने, जो नागर ब्राह्मण थे, उसको व्रात्य मानकर उसकी पुरोहिताई छोड़ी नहीं थी, ऐसा गुर्जरेश्वरपुरोहित सोमेश्वरदेव के 'सुरथोत्सव' काव्य से पाया जाता है। कुमारपाल के साथ अन्य राजवंशों का संबंध भी पूर्ववत् बना रहा।

(१) गुप्त संवत् के लिए देखो 'भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ० १७४–७६।

वंश में पहला प्रतापी राजा हुआ, जिसने 'महाराजाधिराज' की पदवी धारण की और अपने नाम के सोने के सिक्के चलाये, जिससे उसका स्वतंत्र राजा होना अनुमान किया जा सकता है। गुप्त संवत् भी उसी के राज्याभिषेक के वर्ष से चला हुआ माना जाता है। चन्द्रगुप्त का विवाह लिच्छिवि वंश के किसी राजा की पुत्री कुमारदेवी के साथ हुआ था, जिससे महाप्रतापी समुद्रगुप्त का जन्म हुआ। चंद्रगुप्त के सिक्कों पर उसकी और उसकी राणी की मूर्तियां होने से अनेक विद्वानों का यह अनुमान है कि उसको अपने श्वसुर का राज्य मिला, परन्तु ऐसा मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं है। उसका राज्य बिहार, संयुक्त प्रान्त के पूर्वी विभाग और अवध के अधिकांश पर होना चाहिये। पुराणों में गुप्तवंशियों के अधीन गंगातट का प्रदेश, प्रयाग, अयोध्या तथा मगध का होना लिखा है[1], जो चंद्रगुप्त के समय का राज्य-विस्तार प्रकट करता है। उसकी राजधानी पाटलीपुत्र (पटना) थी। चंद्रगुप्त का उत्तराधिकारी उसका पुत्र समुद्रगुप्त हुआ। ऊपर लिखे हुए तीनों राजाओं का कुछ भी संबंध राजपूताने के साथ नहीं था।

(४) समुद्रगुप्त गुप्तवंशी राजाओं में बड़ा ही प्रतापी हुआ। प्रयाग के क़िले में अशोक के लेखवाले विशाल स्तंभ पर उसका भी एक लेख खुदा है, जिससे पाया जाता है—"वह विद्वान् और कवि था, तथा विद्वानों के साथ रहने में आनंद मानता था। उसने अपने बाहुबल से अच्युत और नागसेन नामक राजाओं को पराजित किया। सैंकड़ों युद्धों में विजय प्राप्त की और उसका शरीर सैंकड़ों घावों से सुशोभित था। कोसल[2] के राजा

---

(१) अनुगांगं प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥

'वायुपुराण'; अध्याय ९९, श्लो० ३८३। 'ब्रह्मांडपुराण'; ३।७४।१९५॥

(२) यहां कोसल नाम 'दक्षिण कोसल' का सूचक है, जिसमें मध्यप्रदेश की महानदी और गोदावरी की उत्तरी शाखाओं के बीच के प्रदेश का समावेश होता है (सिरपुर और संबलपुर के निकट का प्रदेश)।

महेंद्र, महाकांतार[1] के व्याघ्रराज, कौराळ[2] के मंत्रराज, पिष्ठपुर[3] के महेन्द्र, गिरिकोट्टूर[4] के स्वामिदत्त, एरंडपल्ल[5] के दमन, कांची[6] के विष्णुगोप, अवमुक्त[7] के नीलराज, वेंगी[8] के हस्तिवर्मा, पालक्क[9] के उग्रसेन, देवराष्ट्र[10] के कुबेर और कुस्थलपुर के धनंजय आदि दक्षिणापथ[11] के सब राजाओं

---

(१) दक्षिण कोसल के पश्चिम का मध्यप्रदेश का जंगलवाला हिस्सा, जो सोनपुर से दक्षिण में है।

(२) कौराळ राज्य उड़ीसे के समुद्रतट पर के कौराळ के आसपास के प्रदेश का सूचक होना चाहिये (न कि केरल का)।

(३) मद्रास इहाते के गोदावरी ज़िले में पिठापुर की ज़मींदारी के आसपास का प्रदेश, जहां पीछे से सोलंकियों का राज्य भी था (देखो मेरा 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास' प्रथम भाग में पिठापुर के सोलंकियों का वृत्तांत, पृ० १६७–६६)

(४) गिरिकोट्टूर अर्थात् पर्वती (क़िला) कोट्टूर। कोट्टूर का राज्य मद्रास इहाते के गंजाम ज़िले में था, जिसकी राजधानी कोट्टूर वर्तमान कोठूर होना चाहिये।

(५) एरंडपल्ल मद्रास इहाते के चिकाकोल ज़िले के मुख्य स्थान चिकाकोल के निकट एरंडपालि के आसपास का प्रदेश होना चाहिये।

(६) मद्रास इहाते का प्रसिद्ध नगर कांची (कांजीवरम्)। समुद्रगुप्त के समय कांची का पल्लववंशी राजा विष्णुगोप प्रबल राजा था। उसके साथ समुद्रगुप्त की लड़ाई कृष्णा नदी के निकट होनी चाहिये। संभव है कि अवमुक्त, वेंगी, पालक्क, देवराष्ट्र और कुस्थलपुर आदि के राजा समुद्रगुप्त को कृष्णा नदी से दक्षिण में आगे बढ़ने से रोकने के लिए विष्णुगोप से मिलकर लड़ने को आये हों और वहीं परास्त हुए हों।

(७) अवमुक्त राज्य का ठीक पता नहीं चलता।

(८) पूर्वी समुद्र-तट का गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच का प्रदेश वेंगि-राज्य कहलाता था, जहां पीछे से सोलंकियों का राज्य बरसों तक था (देखो मेरा 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास'; प्रथम भाग, पृ० १३५)।

(९) पालक्क राज्य कृष्णानदी के दक्षिण में पालक्क के आसपास के प्रदेश का सूचक है।

(१०) देवराष्ट्र राज्य मद्रास इहाते के विज़ागापट्टम् ज़िले के एक विभाग का नाम था।

(११) दक्षिणापथ—सारा दक्षिण देश। प्राचीन शिलालेखादि में उत्तरापथ और दक्षिणापथ नाम मिलते हैं। नर्मदा से उत्तर का सारा भारत उत्तरापथ और उक्त नदी से दक्षिण का दक्षिणापथ कहलाता था।

को उसने कैद किया, परन्तु फिर अनुग्रह के साथ उन्हें मुक्त कर अपनी कीर्त्ति बढ़ाई। रुद्रदेव[1], मतिल[2], नागदत्त[3], चंद्रवर्मा, गणपतिनाग[4], नागसेन, अच्युत, नंदी, बलवर्मा[5] आदि आर्यावर्त्त[6] के अनेक राजाओं को नष्ट कर अपना प्रभाव बढ़ाया, सब आटविक[7] (जंगल के स्वामी) राजाओं को अपना सेवक बनाया; समतट[8], डवाक, कामरूप[9], नेपाल, कर्तृपुर[10] आदि सीमांत प्रदेश के राजाओं को तथा मालव, अर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, अभीर, प्रार्जुन, सनकानिक, काक, खर्परिक आदि जातियों को अपने अधीन कर उनसे कर उगाहा और राज्यच्युत राजवंशियों को फिर राजा बनाया। देवपुत्र शाही शहानुशाही,[11] शक, मुरुंड तथा सिंहल आदि सब द्वीप-निवासी उसके पास उपस्थित होकर अपनी लड़कियां भेंट करते थे। राजा समुद्रगुप्त दयालु था, हज़ारों गोदान करता था और उसका समय कंगाल, दीन, अनाथ और दुःखियों की सहायता करने में व्यतीत होता था। वह गांधर्व (संगीत) विद्या में बड़ा निपुण[12] और काव्य रचने में 'कविराज'

---

(१) यह राजा संभवतः वाकाटक वंशी रुद्रसेन (प्रथम) हो।

(२-३) आधुनिक विद्वान् मतिल और नागदत्त को पूर्वी मालवे और राजपूताने के राजा अनुमान करते हैं, परंतु ऐसा मानने के लिए कोई निश्चित प्रमाण नहीं है।

(४) यह शायद पद्मावती (पेहोआ, ग्वालियर राज्य में) का उक्त नामवाला नागवंशी राजा हो।

(५) आसाम के राजा भास्करवर्मा का पूर्वज।

(६) विंध्याचल तथा हिमालय के बीच का देश।

(७) विंध्याचल के उत्तर का जंगलवाला देश।

(८) गंगा और ब्रह्मपुत्र की धाराओं के बीच का समुद्र से मिला हुआ प्रदेश, जिसमें ज़िला जस्सोर, कलकत्ता आदि हैं।

(९) आसाम का एक बड़ा हिस्सा।

(१०) इसमें गढ़वाल, कमाऊं और अलमोड़ा ज़िलों का समावेश होता है।

(११) देवपुत्र, शाही और शहानुशाही ये तीनों कुशनवंशी राजाओं के ख़िताब होने से उनके वंशजों के सूचक हों।

(१२) देखो ऊपर पृ० ३४ और टिप्पण ३।

कहलाता था[1]। दूसरे शिलालेखादि से पाया जाता है कि उसके अनेक पुत्र और पौत्र थे चिरकाल से न होनेवाला अश्वमेध यज्ञ भी उसने किया। उसके कई प्रकार के सोने के सिक्के मिलते हैं, जिनसे उसके अनेक कामों का पता लगता है[2]। उन सिक्कों की शैली में कुशनवंशी राजाओं के सिक्कों का कुछ अनुकरण पाया जाता है। उसकी राणी दत्तदेवी से चंद्रगुप्त(दूसरे) ने जन्म लिया, जो उसका उत्तराधिकारी हुआ था।

(५) चंद्रगुप्त (दूसरे) को देवगुरु और देवराज भी कहते थे। उसने कई ख़िताब धारण किये थे, जिनमें विक्रमांक, विक्रमादित्य, श्रीविक्रम, अजितविक्रम, सिंहविक्रम और महाराजाधिराज मुख्य थे। बंगाल से लगाकर बलूचिस्तान तक के देश उसने विजय किये[3] तथा गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, मालवा, राजपूताना आदि पर राज्य करनेवाले शक जाति के क्षत्रपों (पश्चिमी क्षत्रपों) का राज्य छीनकर वि० सं० ४५० (ई० स० ३६३) के आसपास उनके राज्य की समाप्ति कर दी। उसने अपने पिता से भी अधिक देश अपने राज्य में मिलाये और अपने राज्य के पश्चिमी विभाग की राजधानी उज्जैन स्थिर की। वह विद्वानों का आश्रयदाता और विष्णु का परमभक्त था। पुरानी दिल्ली की प्रसिद्ध लोह की लाट (कीली, जो मेहरोली गांव में कुतुब-मीनार के पास एक प्राचीन मन्दिर के बीच खड़ी हुई है) चंद्रगुप्त ने बनवा कर विष्णुपद नाम की पहाड़ी पर किसी विष्णु-मन्दिर के आगे ध्वजस्तंभ

---

(१) फ्ली; गु. इं; पृ० ६-१०।

(२) जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा; पृ० १-३७; और प्लेट १-५। समुद्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों के कई सिक्कों पर छंदोबद्ध लेख मिलते हैं। इतने प्राचीन काल के संसार की किसी अन्य जाति के सिक्कों पर छंदोबद्ध लेख नहीं मिलते।

(३) यस्योद्वर्त्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागता-
न्वङ्गेश्वाहववर्त्तिनोभिलिखिता खड्गेन कीर्त्तिर्भुजे।
तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिजता वाह्लिका
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्व्वीर्य्यानिलैर्द्दक्षिणः॥

दिल्ली की लोह की लाट पर का लेख (फ्ली; गु. इं; पृ० १४१)।

के रूप में खड़ी की थी। तंवर अनंगपाल ने उसे वहां से उखड़वाकर वर्तमान स्थान में स्थापन की ऐसी प्रसिद्धि है। चंद्रगुप्त के सोने, चांदी और तांबे के कई प्रकार के सिक्के मिलते हैं[1], जिनमें सोने के अधिक हैं। उसके समय के जो शिलालेख मिले उनमें संवत्वाले तीन लेख गुप्त संवत् ८२ से ९३ (वि० सं० ४५८ से ४६९=ई० स० ४०१ से ४१२) तक के हैं[2]। उसकी दो राणियों के नामों का पता लगता है। एक तो कुबेरनागा, जिससे एक पुत्री प्रभावती का जन्म हुआ और उसका विवाह वाकाटक वंश के राजा रुद्रसेन के साथ हुआ था। प्रभावती के उदर से युवराज दिवाकरसेन ने जन्म लिया[3]। दूसरी राणी ध्रुवदेवी (ध्रुवस्वामिनी ?) से दो पुत्र कुमारगुप्त और गोविंदगुप्त उत्पन्न हुए, जिनमें से कुमारगुप्त अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ।

चीनी यात्री फाहियान चंद्रगुप्त के राजत्व काल में मध्य एशिया के मार्ग से हिंदुस्तान में आया था। उसका उद्देश्य संस्कृत पढ़ना और महायान पंथ के विनयपिटक आदि के ग्रन्थों को संग्रह करना था। वह स्वात, गांधार, तक्षशिला, पेशावर, मथुरा, कन्नौज, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वैशाली आदि से होता हुआ पाटलीपुत्र में पहुंचा। वहां अशोक के बनाये हुए महलों की कारीगरी को देखकर उसने यही माना कि ऐसे महल मनुष्य नहीं बना सकते, वे असुरों के बनाये हुए होने चाहियें। तीन वर्ष

---

(१) जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा; पृ० २४-६०, प्लेट ६-११।

(२) गुप्त सं० ८२ का उदयगिरि (ग्वालियर राज्य के भेलसा से २ मील) की गुफा में (फ्ली; गु. इं; लेखसंख्या ३), गुप्त सं० ९३ का सांची (भोपाल राज्य में) से (वही; लेखसंख्या ५)।

(३) महाराजाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तस्तत्प(त्स)त्पुत्रः······महाराजाधिराजश्रीचंद्रगुप्तस्तस्य दुहिता धारणसगोत्रा नागकुलसम्भूतायां श्रीमहादेव्यां कुबेरनागायामुत्पन्नोभयकुलालंकारभूतात्यन्तभगवद्भक्ता वाकाटकानां महाराजश्रीरुद्रसेनस्याग्रमहिषी युवराजश्रीदिवाकरसेनजननी श्रीप्रभावतिगुप्ता (ए. इं; जि० १५, पृ० ४१)।

पाटलीपुत्र में रहकर उसने संस्कृत का अध्ययन किया। वहां से कई स्थानों में होता हुआ ताम्रलिप्ति (तमलुक, बंगाल के मेदिनीपुर जिले में) में पहुंचा और वहां दो वर्ष तक रहा। इस तरह अपनी यात्रा में कई पुस्तकों की नक़ल तथा चित्र आदि का संग्रह कर समुद्र-मार्ग से चीन पहुंचा। उसकी यात्रा की पुस्तक से पाया जाता है कि चंद्रगुप्त की प्रजा धनधान्यसंपन्न और सुखी थी। लोग स्वतन्त्र थे प्राणदंड किसी को नहीं दिया जाता था, अधिक बार अपराध करनेवाले का एक हाथ काट डाला जाता था, देश में मद्य और मांस का प्रचार न था। मांस चांडाल ही बेचते थे, जो शहरों से बाहर रहते थे। धर्मशालाओं तथा औषधालयों का प्रबंध उत्तम था और विद्या का अच्छा प्रचार था।

(६) कुमारगुप्त ने भी कई ख़िताब धारण किये थे, जिनमें मुख्य महाराजाधिराज, परमराजाधिराज, महेंद्र, अजितमहेंद्र, महेंद्रसिंह और महेंद्रादित्य हैं। उसने भी अश्वमेध यज्ञ किया, जिसके स्मारक सोने के सिक्के मिलते हैं। अपने पिता की नाईं वह भी परम भागवत (वैष्णव) था। उसके समय के संवत्वाले ६ शिलालेख मिले हैं, जिनमें से ५ गुप्त संवत् ९६ से १२९ (वि० सं० ४७२ से ५०५=ई० स० ४१५ से ४४८) तक के[1] और एक मालव (विक्रम) संवत् ४९३ (ई० स० ४३६) का है[2]। उसके कई प्रकार के सोने, चांदी और तांबे के सिक्के भी मिले[3], जिनमें चांदी के अनेक सिक्कों पर संवत् भी दिया है। ऐसे सिक्के गुप्त संवत् ११९ से १३६ (वि० सं० ४९५ से ५१२=ई० स० ४३८ से ४५५) तक[4] के हैं।

(१) गुप्त सं० ९६ का बिलसड या बिलसंड (पश्चिमोत्तर प्रदेश के एटा ज़िले में) के स्तंभ पर का (फ़्ली; गु; इं; लेखसंख्या १०) और गुप्त सं० १२९ का मनूकुवार गांव (पश्चिमोत्तर प्रदेश के इलाहाबाद ज़िले में) से मिली हुई बौद्ध मूर्त्ति के आसन पर खुदा है (वही; लेखसंख्या २१)।

(२) मालव सं० (वि० सं०) ४९३ का मंदसोर (वही; लेखसंख्या १८) से मिला है।

(३) जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा; पृ० ६१–११३; प्लेट १२–१८।

(४) जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा; सिक्का संख्या ३८४–८८; ३९४; ३९८; और ज. ए. सो बंगा; ई० स० १८९४. पृ० १७५।

वि० सं० ५१२ (ई० स० ४५५) में उसके राज्य पर शत्रुओं (हूणों) का हमला हुआ, जिनके साथ लड़ने में वह मारा गया। उसके तीन पुत्र घटोत्कच, स्कंदगुप्त और पुरगुप्त थे। घटोत्कच की माता का नाम मालूम नहीं, स्कंदगुप्त और पुरगुप्त अनंतदेवी से उत्पन्न हुए थे। घटोत्कच अपने पिता की विद्यमानता में गुप्त संवत् ११६ (वि० सं० ४६२=ई० स० ४३५) में मालव का शासन करता रहा ऐसा कुमारगुप्त के उक्त संवत् के तुमैन (तुंबवन) गांव (ग्वालियर राज्य) से मिले हुए शिलालेख से पाया जाता है[1]। वह (घटोत्कच) कुमारगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र था वा अन्य, यह ज्ञात नहीं हुआ। कुमारगुप्त का उत्तराधिकारी स्कंदगुप्त हुआ।

(७) स्कंदगुप्त ने अपने पिता के मारे जाने पर वीरता के साथ तीन मास तक लड़कर शत्रुओं (हूणों) को परास्त किया और अपनी कुलश्री को, जो कुमारगुप्त के मारे जाने के कारण विचलित हो रही थी, स्थिर किया[2]।

---

(१) इं. ऐं; जि० ४६, पृ० ११४–१५।

(२) जगति भुजबलाड्यो(ढ्यो) गुप्तवंशैकवीरः
प्रथितविपुलधामा नामतः स्कंदगुप्तः।...॥
विचलितकुललक्ष्मीस्तंभनायोद्यतेन
क्षितितलशयनीये येन नीतास्त्रिमासाः।
समुदितबलकोषान्युध्यमित्रांश्च जित्वा
क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः॥...॥
पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं
भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः।
जितमिति परितोषान्मातरं सास्रनेत्रां
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः॥...॥
हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कंपिता
भीमावर्त्तकरस्य शत्रुषु शरा...............।

भिटारी के स्तंभ पर स्कंदगुप्त का लेख (ज. बंब. ए. सो; जि० १६, पृ० ३४६–५० फ्ली; गु. इं; पृ० ५३–५४)।

उसके ख़िताब क्रमादित्य या विक्रमादित्य, राजाधिराज और महाराजाधिराज मिलते हैं। वह भी परम वैष्णव था, उसके समय के संवत्वाले दो शिलालेख गुप्त संवत् १३६ और १४१ (वि० सं० ५१२ और ५१७= ई० स० ४५५ और ४६०) के[1] और एक दानपत्र गुप्त सं० १४६ (वि० सं० ५२२=ई० स० ४६५) का[2] मिला है। गढ़वा (इलाहाबाद ज़िले में) के विष्णुमंदिर के संबंध का एक टूटा हुआ शिलालेख गुप्त सं० १४८ (वि०सं० ५२४=ई० स० ४६७) का[3] मिला, जिसमें राजा का नाम टूट गया है, परन्तु वह उसी राजा के समय का होना चाहिये, क्योंकि वहां पर चंद्रगुप्त (दूसरे) और कुमारगुप्त के शिलालेख विद्यमान हैं, और उसके चांदी के सिक्कों पर गुप्त सं० १४१ से १४८ (वि० सं० ५१७ से ५२४=ई० स० ४६० से ४६७) तक[4] के वर्ष अंकित हैं। उसके सोने और चांदी के कई प्रकार के सिक्के मिले हैं[5]।

(८) कुमारगुप्त (दूसरा)—संभव है कि वह स्कंदगुप्त का उत्तराधिकारी हो। उसके समय का एक शिलालेख सारनाथ (काशी के निकट) से मिली हुई एक मूर्ति के नीचे खुदा है, जो गुप्त सं० १५४ (वि० सं० ५३०= ई० स० ४७३) का है[6]।

(९) बुधगुप्त-कुमारगुप्त (दूसरे) का उत्तराधिकारी हुआ। उसके

---

(१) गुप्त सं० १३६ (और १३७, १३८) का जूनागढ़ का लेख (फ्ली; गु. इं; लेखसंख्या १४) और गुप्त सं० १४१ का काहाऊं (संयुक्त प्रदेश के गोरखपुर ज़िले में) का लेख (वही; लेखसंख्या १५)।

(२) वही; लेखसंख्या १६।

(३) वही; लेखसंख्या ६६।

(४) जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा; सिक्का संख्या ५२३-३०; और ज. ए. सो. बंगा; ई० स० १८८९, पृ० १३४।

(५) जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा; पृ० ११४-३४; प्लेट; १९-२१।

(६) वर्षशते गुप्तानां सचतुःपंचाशदुत्तरे भूमिम्।
शासति कुमारगुप्ते मासे ज्येष्ठे द्वितीयायाम्॥

'भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ० १७४, टिप्पण ६।

समय का एक लेख सारनाथ से मिली हुई एक मूर्त्ति के आसन पर खुदा है, जो गुप्त सं० १५७ (वि० सं० ५३३=ई० स० ४७६) का है[1], और दूसरा एरण (मध्य प्रदेश के सागर ज़िले में) गांव से गुप्त सं० १६५ (वि० सं० ५४१=ई० स० ४८४) का मिला है। उसका आशय यह है—"बुधगुप्त के राज्य-समय, जब कि महाराज सुरश्मिचंद्र कालिंदी (यमुना) और नर्मदा नदियों के बीच के प्रदेश का पालन कर रहा था, (गुप्त) सं० १६५ (वि० सं० ५४१=ई० स० ४८४) आषाढ़ सुदि १२ के दिन महाराज मातृ-विष्णु और उसके छोटे भाई धन्यविष्णु ने विष्णु का यह ध्वजस्तंभ बन-वाया[2]।" उक्त राजा के चांदी के सिक्के मिले हैं, जिनपर गुप्त सं० १७४, १७५[3] और १८० (वि० सं० ५५०, ५५१ और ५५६=ई० स० ४९३, ४९४ और ४९९) के अंक हैं। उसके अन्तिम समय में गुप्त राज्य के पश्चिमी भाग पर हूणों का अधिकार हो गया और केवल पूर्वी भाग गुप्तों के अधि-कार में रह गया, क्योंकि एरण गांव से एक और लेख मिला है, जिससे पाया जाता है—"महाराजाधिराज तोरमाण के राज्य के पहले वर्ष फाल्गुन मास के १० वें दिन मृत महाराज मातृविष्णु के छोटे भाई धन्यविष्णु ने अपने राज्य के एरिकेण (एरण) स्थान में भगवान् वराह का मंदिर बनवाया।" हम ऊपर बतला चुके हैं कि गुप्त सं० १६५ (वि० सं० ५४१ ई० स० ४८४) में मातृविष्णु एवं धन्यविष्णु दोनों जीवित थे और बुधगुप्त के आश्रितों में से थे, और गुप्त सं० १८० (वि० सं० ५५६=ई० स० ४९९) तक बुधगुप्त भी राज्य कर रहा था ऐसा उसके सिक्कों से पाया जाता है। उसके उपरान्त हूणों के राजा तोरमाण ने गुप्त राज्य का पश्चिमी प्रदेश अपने अधीन किया और धन्यविष्णु को उसका सामंत बनना पड़ा। इस प्रकार वि० सं० ५५६

---

(१) गुप्तानां समतिक्रांते सप्तपंचाशदुत्तरे।
शते समानां पृथिवी बुधगुप्ते प्रशासति ॥

'भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ० १७४, टिप्पण ६।

(२) फ्ली; गु. इं; लेखसंख्या १९।

(३) जॉ. ऐ; कॉ. गु. डा; सिक्का संख्या ६१७।

और ५६७ (ई० स० ४९९ और ५१०) के बीच राजपूताना, गुजरात, मालवा तथा मध्य प्रदेश पर से गुप्तों का अधिकार उठकर वहां हूणों का राज्य स्थापित हो गया। बुधगुप्त के बचे हुए राज्य का उत्तराधिकारी भानुगुप्त हुआ।

(१०) भानुगुप्त ने हूणों के हाथ में गये हुए गुप्त राज्य के पश्चिमी विभाग को छीन लेने के लिए चढ़ाई की, परन्तु उसमें उसको सफलता प्राप्त हुई हो ऐसा निश्चय नहीं। एरण के एक शिलालेख से सूचित होता है कि गुप्त सं० १९१ (वि० सं० ५६७=ई० स० ५१०) में पार्थ (अर्जुन) के समान पराक्रमी वीर श्रीभानुगुप्त के साथ राजा गोपराज यहां (एरण में) आया और वीरता से लड़कर स्वर्ग सिधारा। उसकी पतिव्रता स्त्री उसके साथ सती हुई[1]। यह युद्ध तोरमाण के साथ होना चाहिये। तोरमाण तथा उसके पुत्र मिहिरकुल का राज्य उक्त प्रदेशों पर हो गया, जिससे बचे हुए गुप्त-राज्य की भी समाप्ति हो गई।

इन गुप्तवंशी राजाओं का कोई लेख अब तक राजपूताने में नहीं मिला, जिसका कारण यही है कि यहां पर प्राचीन शोध का काम विशेष रूप से नहीं हुआ, तो भी गुप्त संवत्वाले कुछ शिलालेख मिले हैं[2], जो उनका यहां राज्य होना प्रकट करते हैं। राजपूताने में गुप्तों के विशेषकर सोने के और कुछ चांदी के सिक्के मिलते हैं। अजमेर में ही मुझे उनके २० से अधिक सोने के और ५ चांदी के सिक्के मिले। गुप्त राजाओं के समय में विद्या और शिल्प की बहुत कुछ उन्नति हुई। प्रजा सुख चैन से रही, बौद्ध धर्म की अवनति और वैदिक (ब्राह्मण) धर्म की फिर उन्नति हुई।

---

(१) फ्ली; गु. इं; लेख-संख्या २६।

(२) गुप्त संवत् २८९ का शिलालेख जोधपुर राज्य में नागोर से २४ मील उत्तरपश्चिम के गोठ और मांगलोद गांवों की सीमा पर के दाधिमती माता के मंदिर से मिला है (ए. इं; जि० ११, पृ० ३०३-४)।

गुप्तों का वंशवृक्ष
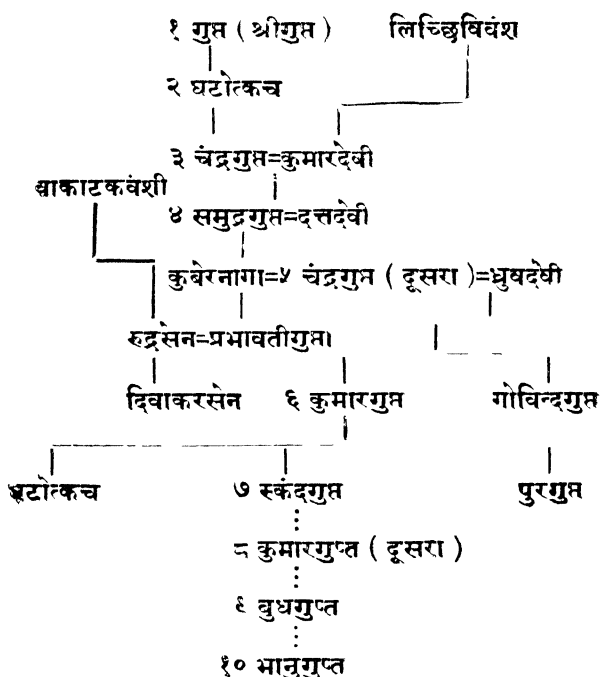
गुप्तवंशी राजाओं की नामावली (ज्ञात समय सहित)—

१–गुप्त (श्रीगुप्त)।

२–घटोत्कच।

३–चंद्रगुप्त।

४–समुद्रगुप्त।

५–चंद्रगुप्त (दूसरा)—गुप्त सं० ८२ से ९३ (वि० सं० ४५८ से ४६९) तक।

६–कुमारगुप्त—गुप्त सं० ९६ से १३६ (वि० सं० ४७२ से ५१२) तक।

७–स्कंदगुप्त—गुप्त सं० १३६ से १४८ (वि० सं० ५१२ से ५२४) तक।

८–कुमारगुप्त (दूसरा) गुप्त सं० १५४ (वि० सं० ५३०)।

९–बुधगुप्त—गुप्त सं० १५७ से १८० (वि० सं० ५३३ से ५५६) तक।

१०–भानुगुप्त—गुप्त सं० १९१ (वि० सं० ५६७)।

वरीक वंश

वरीकवंशियों का राज्य भरतपुर राज्य में बयाना के आसपास के प्रदेश पर था। बयाने के क़िले विजयगढ़ में इस वंश के राजा विष्णुवर्धन ने पुंडरीक नामक यज्ञ किया, जिसका यूप (यज्ञस्तंभ) वहां खड़ा है। उसपर के लेख से पाया जाता है कि व्याघ्ररात के प्रपौत्र, यशोरात के पौत्र और यशोवर्धन के पुत्र वरीक राजा विष्णुवर्धन ने पुंडरीक यज्ञ का यह यूप वि० सं० ४२८ (ई० स० ३७२) फाल्गुन बहुल (वदि) ५ को स्थापित किया। इस वंश का यही एक लेख[1] अब तक मिला है।

वर्मांत नामवाले राजा

मंदसोर (ग्वालियर राज्य) और गंगधार (झालावाड़ राज्य) से इन राजाओं के अब तक तीन शिलालेख मिले हैं, जिनसे उनके वंश का कुछ भी परिचय नहीं मिलता। उनके नामों के अन्त में वर्मन् (वर्मा) पद लगा रहने से हमने उनको 'वर्मांत नामवाले राजा' कहकर उनका परिचय दिया है। राजपूताने में गंगधार के आसपास का कुछ प्रदेश उनके अधीन अवश्य रहा, जहां से इस अज्ञात वंश के राजा विश्ववर्मा का मालव (विक्रम) सं० ४८० (ई० स० ४२३) का शिलालेख[2] मिला है। इस वंश के राजाओं की नामावली इस तरह मिलती है—

१—जयवर्मा—मालव (विक्रम) सं० ४६१ (ई० स० ४०४) के मंदसोर से मिले हुए नरवर्मा के शिलालेख में उसको नरेन्द्र (राजा) कहा है।

२—सिंहवर्मा (संख्या १ का पुत्र)—उसको उपर्युक्त लेख में क्षितीश (पृथ्वीपति) कहा है।

---

(१) फ़्ली; गु. इं; पृ० २५२–५३।

(२) फ़्ली; गु. इं; पृ० ७४–७६।

३—नरवर्मा (संख्या २ का पुत्र)—उसके समय के मालव (विक्रम) सं० ४६१ के शिलालेख[1] में उसको 'महाराज' लिखा है, जिससे अनुमान होता है कि वह किसी राजा का सामंत (सरदार) रहा होगा। उसका पौत्र बंधुवर्मा गुप्तवंशी राजा कुमारगुप्त (प्रथम) का सामंत था अतएव वह चंद्र-गुप्त (दूसरे) का सामंत रहा हो तो आश्चर्य नहीं।

४—विश्ववर्मा (संख्या ३ का पुत्र)—उसके समय का गंगधार का शिलालेख मालव (विक्रम) सं० ४८० (ई० स० ४२३) का[2] है। उसका पुत्र बंधुवर्मा कुमारगुप्त (प्रथम) का सामंत रहा होगा, क्योंकि वि० सं० ४८० में कुमारगुप्त ही उत्तरी भारत का सम्राट् था। गंगधार के शिलालेख से पाया जाता है कि विश्ववर्मा के मन्त्री मयूराक्ष ने विष्णु का मंदिर, तांत्रिक शैली का मातृकागृह और एक बावली बनवाई थी।

५—बंधुवर्मा (संख्या ४ का पुत्र)—उसके समय का मंदसौर का शिलालेख मालव (विक्रम) सं० ४९३ (ई० स० ४३६) का[3] है। उक्त लेख से स्पष्ट है कि वह कुमारगुप्त (प्रथम) का सामंत था। बंधुवर्मा के पीछे इस वंश के राजाओं का कोई लेख अब तक नहीं मिला।

हूण वंश

मध्य एशिया में रहनेवाली एक आर्यजाति का नाम हूण था। हूणों के विषय में हम ऊपर (पृ० ६१-६४) लिख चुके हैं और यह भी बतलाया जा चुका है कि हूण कुशनवंशियों की शाखा हो (पृ० ६३)। अल्बेरूनी अपनी पुस्तक 'तहक़ीक़े हिंद[4]' में काबुल (उदभांडपुर[5]) के शाहिवंशी हिंदू राजाओं

---

(१) ए. इं; जि० १२, पृ० ३२०-२१।

(२) फ्ली; गु. इं; पृ० ७४-७६।

(३) वही; पृ० ८१-८४।

(४) अल्बेरूनी ने ई० स० १०३० (वि० सं० १०८७) के आसपास अपनी अरबी पुस्तक लिखी, जिसका एक उत्तम संस्करण, और दो जिल्दों में उसका अंग्रेज़ी अनुवाद डॉ० एडवर्ड साचू ने प्रकाशित किया है।

(५) उदभांडपुर काबुल के हिंदू शाहिवंशी राजाओं की राजधानी थी। कल्हण पंडित ने अपनी 'राजतरंगिणी' में उक्त नगर का उल्लेख किया है (उदभाण्डपुरे तेन,

के वर्णन में लिखता है—'इस वंश का मूलपुरुष बर्हतकीन था। इसी वंश में कनिक (कनिष्क) राजा हुआ, जिसने पुरुषावर (पुरुषपुर, पेशावर) में एक विहार[1] (बौद्ध मठ) बनवाया, जो उसके नाम से कनिक-चैत्य (कनिष्क-चैत्य) कहलाया। उक्त वंश में ६० राजा हुए। अंतिम राजा लग-तूरमान (लघु तोरमाण[2]) को मारकर उसके वज़ीर (मंत्री) ब्राह्मण[3] (?) कल्लर

शाहिराज्यं व्यजीयत—५। २३२। उदभाण्डपुरे···भीमशाहिरभूत्पुरा—७। १०८१)। अलबेरूनी उसका नाम 'वेहंद' लिखता है और उसे क़ंदहार (गांधार) की राजधानी बतलाता है (एडवर्ड साचू; 'अलबेरूनीज़ इंडिया'; जि० १, पृ० २०६)। चीनी यात्री हुएन्त्संग उसका नाम उ-तो-किआ-हां-चा (उदभांड) देता है और उसके दक्षिण में सिंधु नदी बतलाता है (बील; बु. रे. वे. व; जि० १, पृ० ११४)। हुएन्त्संग के जीवनचरित में लिखा है कि कपिश (काबुल) का राजा पहले उ-तो किआ-हां-चा (उदभांड) में रहता था, (श्रमण हूली के चीनी पुस्तक का अंग्रेज़ी अनुवाद, सेम्युल बील कृत, पृ० १९२)। इस समय उदभांडपुर को उंद (हुंद, ओहिंद या उहंद) कहते हैं और सिन्धु और काबुल नदियों के संगम से कुछ दूर सिंधु के पश्चिम में है।

(१) हुएन्त्संग ने भी कुशनवंशी राजा कनिष्क के बनाये हुए इस विहार (संघाराम) का वर्णन किया है (बी; बु. रे. वे. व; जि० १; पृ० १०३)।

(२) एक ही राजवंश में एक ही नाम के दो राजा होते हैं तो दूसरे को 'लघु' (छोटा) कहते हैं, जैसे गुजरात के सोलंकियों में भीमदेव नाम के दो राजा हुए तो दूसरे को 'लघु भीमदेव' कहा है। ऐसे ही मेवाड़ में अमरसिंह नाम के दो राजा हुए, जिससे पहले को 'बड़ा अमरसिंह' और दूसरे को 'छोटा अमरसिंह' कहते हैं। इसी तरह हूण वंश में दो तोरमाण हुए हों, जिनमें से पहला तो मिहिरकुल का पिता और दूसरा उदभांडपुर का उक्त वंश का लघु तोरमाण। राजतरंगिणी में भी दो तोरमाणों के नाम मिलते हैं, जिनमें से एक तो कश्मीर का राजा (३। १०३। जो मिहिरकुल का पिता था) और दूसरा उदभांडपुर का शाहिवंशी (५। २३३), परंतु उक्त पुस्तक में दोनों का वृत्तांत असंबद्ध है।

(३) अलबेरूनी ने कल्लर के पीछे क्रमशः समंद (सामंत), कमलु, भीम, जेपाल, अनंदपाल, तरोजनपाल (त्रिलोचनपाल) और भीमपाल के नाम दिये हैं और त्रिलोचनपाल की मृत्यु हि० स० ४१२ (ई० स० १०२१=वि० सं० १०७८) में और भीमपाल की पांच बरस पीछे (ई० स० १०२६=वि० सं० १०८३) होना लिखा है (एडवर्ड साचू; 'अलबेरूनीज़ इंडिया;' जि० २, पृ० १३)। वह इन राजाओं को

(लल्लिय) ने उसका राज्य छीन लिया।' अल्बेरूनी शाहिवंशी राजाओं को तुर्क (तुर्किस्तान के मूल निवासी) बतलाता है और उनका उद्गम तिब्बत से मानता है। अल्बेरूनी का कनिक अवश्य कुशनवंशी राजा कनिष्क था और लगतूरमान हूणवंशी तोरमाण (दूसरा) होना चाहिये। अतएव हमारे अनुमान के अनुसार कुशन और हूण दोनों एक ही वंश की भिन्न भिन्न शाखाओं के नाम होने चाहियें। भूटान के लोग अब तक तिब्बतवालों को 'हूणिया' कहते हैं, जिससे अनुमान होता है कि कुशन और हूणवंशियों के पूर्वज तिब्बत से विजय करते हुए मध्य एशिया में पहुंचे और वहां उन्होंने अपना आधिपत्य जमाया। वहां से फिर उन्होंने भिन्न भिन्न समय में हिन्दुस्तान में आकर अपने राज्य स्थापित किये।

हूणों के पंजाब से दक्षिण में बढ़ने पर गुप्तवंशी राजा कुमारगुप्त से उनका युद्ध हुआ, जिसमें कुमारगुप्त मारा गया, परन्तु उसके पुत्र स्कंदगुप्त ने वीरता से लड़कर हूण राजा को परास्त किया। फिर राजा बुधगुप्त के समय वि० सं० ५५६ (ई० स० ४९९) से कुछ पीछे हूण राजा तोरमाण ने गुप्त साम्राज्य का पश्चिमी भाग, अर्थात् गुजरात, काठियावाड़ राजपूताना मालवा आदि छीन लिया और वहां पर अपना राज्य स्थिर किया। हूण वंश में दो ही राजा हुए हैं, जिनका संक्षिप्त वृत्तान्त नीचे लिखा जाता है—

१—तोरमाण हूणों में प्रतापी राजा हुआ। उसने गुप्तसाम्राज्य का पश्चिमी भाग ही अपने अधीन किया हो इतना ही नहीं, किंतु गांधार, पंजाब, कश्मीर आदि पर भी उसका राज्य था। राजपूताना आदि देशों को विजय करने के थोड़े ही समय पीछे उसका देहान्त हो गया और उसका पुत्र मिहिरकुल (मिहिरगुल) उसका उत्तराधिकारी हुआ।

ब्राह्मण बतलाता है, परंतु जैसलमेर की ख्यात से कर्नल टॉड ने सलभन (शालिवाहन) के पुत्र बालंद का विवाह दिल्ली के राजा जयपाल तंवर की पुत्री के साथ होना लिखा है (टॉ. रा; जि० २, पृ० ११८१)। यदि अल्बेरूनी का जयपाल और जैसलमेर की ख्यात का जयपाल एक ही हो तो यह अनुमान हो सकता है कि उदभांडपुर के राजा ब्राह्मण नहीं, किंतु तंवर राजपूत रहे होंगे। महमूद ग़ज़नवी से लड़नेवाले जयपाल का राज्य इधर दिल्ली तक और उधर काबुल तक होने का पता फ़ारसी तवारीख़ों से लगता है।

२—मिहिरकुल (मिहिरगुल) का वृत्तांत हुएन्त्संग की यात्रा की पुस्तक[1], कल्हण पंडित की 'राजतरंगिणी'[2] तथा कुछ शिलालेखों[3] में मिलता है, जिससे ज्ञात होता है कि उसकी राजधानी शाकलनगर (पंजाब में) थी। वह बड़ा वीर राजा था और सिंध आदि देश उसने विजय कर लिये थे। पहले तो उसकी रुचि बौद्ध धर्म पर थी, परंतु पीछे बौद्धों से अप्रसन्न होकर उनके उपदेशकों को सर्वत्र मारने तथा बौद्ध धर्म को नष्ट करने की आज्ञा उसने दी थी। गांधार देश में बौद्धों के १६०० स्तूप और मठ तुड़वाये और कई लाख मनुष्यों को मरवा डाला। उसमें दया का लेश भी न था। शिव का परम भक्त होने से वह शिव को छोड़कर और किसी के आगे सिर नहीं झुकाता था, परंतु राजा यशोधर्म ने वि० सं० ५८६ (ई० स० ५३२) के आसपास उसको अपने पैरों पर झुकाया अर्थात् जीत लिया। इधर तो उसे यशोधर्म ने हराया और उधर मगध के गुप्तवंशी राजा नरसिंहगुप्त ने पराजित किया[4], जिससे मिहिरकुल के अधिकार से राजपूताना, मालवा आदि देश निकल गये, परन्तु कश्मीर, गांधार आदि की ओर उसका अधिकार बना रहा। मिहिरकुल का एक शिलालेख ग्वालियर से मिला है, जो उसके १५ वें राज्य-वर्ष का है[5]। उसके सिक्कों में ईरानियों के ससानियन् शैली के सिक्कों का अनुकरण पाया जाता है। उनपर एक तरफ़ उसका नाम और दूसरी ओर बहुधा 'जयतु वृषध्वज' लेख है, जो उसका शिवभक्त होना प्रकट करता है[6]।

---

(१) बी; बु. रे. वे. व; जि० १, पृ० १६६—१७१।

(२) कल्हण; 'राजतरंगिणी'; तरंग १, श्लोक २८६—३२४।

(३) मंदसोर से मिला हुआ राजा यशोधर्म का शिलालेख; (फ़्ली; गु. इं; पृ० १४६—४७। देखो ऊपर पृ० ६१-६२ और पृ० ६२ का टिप्पण १।

(४) राजा यशोधर्म के मंदसोर के शिलालेख से पाया जाता है कि उसने लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से लगाकर महेंद्राचल तक और हिमालय से पश्चिमी समुद्र तक के देश विजय किये थे (देखो ऊपर पृ० ६२)। ऐसी दशा में नरसिंहगुप्त राजा यशोधर्म का सामंत होना चाहिये, और संभव है कि वह मिहिरकुल से यशोधर्म के पक्ष में रहकर लड़ा हो।

(५) फ़्ली; गु. इं; लेखसंख्या ३७।

(६) देखो ऊपर पृ० ६१—६२; और स्मि; कै. कॉ. इं. म्यू; जि० १, पृ० २३६।

यशोधर्म से हार खाने पर भी हूण लोग अपना अधिकार बना रखने के लिए लड़ते रहे हों ऐसा पिछले राजाओं के साथ उनकी जो लड़ाइयां हुई उनसे प्रकट होता है। थाणेश्वर और कन्नौज के बैसवंशी राजा प्रभाकरवर्द्धन[1] और राज्यवर्द्धन[2] हूणों से लड़े; ऐसे ही मालवे का परमार राजा हर्षदेव[3] (सीयक), हैहय(कलचुरि)वंशी राजा कर्ण[4], परमार राजा सिंधुराज[5] और राष्ट्रकूट (राठोड़) राजा कक्कल[6] (कर्कराज) आदि का हूणों से युद्ध करना उनके शिलालेखादि से प्रगट होता है। अब तो हूणों का कोई राज्य नहीं रहा। राजपूताना, गुजरात आदि के कुनबी लोग, जिनकी गिनती अच्छे कृषिकारों में है, हूण जाति के अनुमान किये जाते हैं।

हूणों ने हिंदुस्तान में आने के पूर्व ईरान का खज़ाना लूटा और उसे वे यहां ले आये। इसी से ईरान के ससानियन्‌वंशी राजाओं के सिक्के राजपूताना आदि देशों के अनेक स्थानों में गड़े हुए मिल जाते हैं। मिहिरकुल ने भी उनसे मिलती हुई शैली के अपने सिक्के बनवाये। हूणों का राज्य नष्ट होने पर भी गुजरात, मालवा, राजपूताना आदि में विक्रम संवत् की १२ वीं शताब्दी के आसपास तक बहुधा उसी शैली के चांदी और तांबे के सिक्के बनते और चलते रहे, परंतु क्रमशः उनका आकार घटने के साथ उनकी कारीगरी में भी यहां तक भद्दापन आ गया कि उनपर राजा के चेहरे का पहचानना भी कठिन हो गया। उसकी आकृति इतनी पलट गई कि लोगों ने उसको गधे का खुर मानकर उन सिक्कों को गधिया या गदिया[7] नाम से प्रसिद्ध किया, परंतु उनका गधे से कोई संबंध नहीं है।

---

(१) ए. इं; जि० १, पृ० ६६।

(२) वही; जि० १, पृ० ६६।

(३) वही; जि० १, पृ० २२५।

(४) वही; जि० २, पृ० ६।

(५) वही; जि० १, पृ० २२८।

(६) इं. ऐं; जि० १२, पृ० २६८।

(७) गधिया सिक्कों के लिए देखो स्मि; कै. कॉ. इं. म्यू; जि० १, प्लेट २५, संख्या ८, ११–१५।

गुर्जर (गूजर) वंश

इस समय गुर्जर अर्थात् गूजर जाति के लोग विशेषकर खेती या पशु-पालन से अपना निर्वाह करते हैं, परंतु पहले उनकी गणना राजवंशियों में थी। अब तो केवल उनका एक राज्य समथर (बुंदेलखंड में) और कुछ ज़मींदारियां संयुक्त प्रदेश आदि में रह गई हैं। पहले पंजाब, राजपूताने तथा गुजरात में उनके राज्य थे। चीनी यात्री हुएन्त्संग वि० सं० की सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दुस्तान में आया। उसने अपनी यात्रा की पुस्तक में गुर्जर देश का वर्णन किया है और उसकी राजधानी भीनमाल (भिल्लमाल, श्रीमाल, जोधपुर राज्य के दक्षिणी विभाग में) बतलाया है। हुएन्त्संग का बतलाया हुआ गुर्जर देश महाक्षत्रप रुद्रदामा के राज्य के अंतर्गत था तो भी उक्त राजा के गिरनार के शक सं० ७२ (वि० सं० २०७=ई० १५०) से कुछ ही पीछे के लेख में उसके अधीनस्थ देशों के जो नाम दिये हैं उनमें गुर्जर नाम नहीं, किंतु उसके स्थान में श्वभ्र और मरु नाम दिये हैं, जिससे अनुमान होता है कि उक्त लेख के खोदे जाने तक गुर्जर देश (गुजरात) नाम प्रसिद्धि में नहीं आया था। क्षत्रपों के राज्य के पीछे किसी समय गुर्जर (गूजर) जाति के आधीन जो देश रहा वह गुर्जर देश या 'गुर्जरत्रा' (गुजरात) कहलाया। हुएन्त्संग गुर्जर देश की परिधि ८३३ मील बतलाता है[1], इससे पाया जाता है कि वह देश बहुत बड़ा था, और उसकी लंबाई अनुमान ३०० मील या उससे भी अधिक होनी चाहिये। प्रतिहार (पड़िहार) राजा भोजदेव (प्रथम) के वि० सं० ९०० के दानपत्र में लिखा है—'उसने गुर्जरत्रा (गुजरात) भूमि (देश) के डेंडूवानक विषय (ज़िले) का सिवा गांव दान किया[2]।' वह दानपत्र जोधपुर राज्य में डीडवाना ज़िले के सिवा गांव के एक टूटे हुए मन्दिर से मिला था। उसमें लिखा हुआ डेंडूवानक ज़िला जोधपुर राज्य के उत्तर-पूर्वी हिस्से का डीडवाना ही है, और सिवा गांव

(१) ना० प्र० प०; भाग २, पृ० ३४२।

(२) गुर्ज्जरत्राभूमौ डेण्डूवानकविषयसम्ब(म्ब)द्धसिवाग्रामाग्रहारे
ए इं; जि० ५, पृ० २११।

डीडवाने से ७ मील पर का सेवा गांव है जहां से वह ताम्रपत्र मिला है। कालिंजर से मिले हुए वि० सं० की नवीं शताब्दी के आसपास के एक शिलालेख में[1] गुर्जरत्रा मंडल (देश) के मंगलानक गांव से आये हुए जेंदुक के बेटे देद्दुक की बनाई हुई मंडपिका के प्रसंग में उसकी स्त्री लच्मी के द्वारा उमामहेश्वर के पट्ट की प्रतिष्ठा किये जाने का उल्लेख है। मंगलानक जोधपुर राज्य के उत्तरी विभाग का मंगलाना गांव है, जो मारोठ से १६ मील पश्चिम और डीडवाने से थोड़े ही अन्तर पर है। हुएन्त्संग के कथन और इन दोनों लेखों से पाया जाता है कि वि० सं० की ७वीं से ६वीं शताब्दी तक जोधपुर राज्य का उत्तर से दक्षिण तक का सारा पूर्वी हिस्सा गुर्जर देश (गुर्जरत्रा, गुजरात) के अन्तर्गत था। इसी तरह दक्षिण और लाट के राठोड़ों तथा प्रतिहारों के बीच की लड़ाइयों के वृत्तान्त से जाना जाता है कि गुर्जर देश की दक्षिणी सीमा लाट देश[2] से जा मिलती थी। अतएव जोधपुर राज्य का सारा पूर्वी हिस्सा तथा उससे दक्षिण लाट देश तक का वर्तमान गुजरात देश भी उस समय गुर्जर देश के अन्तर्गत था। अब तो केवल राजपूताने से दक्षिण का हिस्सा ही गुजरात कहलाता है। देशों के नाम बहुधा उनपर अधिकार करनेवाली जातियों के नाम से प्रसिद्ध होते रहे हैं, जैसे कि मालवों से मालवा, शेखावतों से शेखावाटी, राजपूतों से राजपूताना आदि। ऐसे ही गुर्जरों (गूजरों) का अधिकार होने से गुर्जरत्रा (गुजरात) नाम प्रसिद्ध हुआ। गुर्जरदेश पर गुर्जरों (गूजरों) का अधिकार कब हुआ और कब तक रहा यह ठीक निश्चित नहीं, तो भी इतना तो निश्चित है कि रुद्रदामा के समय अर्थात् वि० सं० २०७ (ई० स० १५०) तक गुर्जरों का राज्य भीनमाल में नहीं हुआ था। संभव है कि क्षत्रपों का राज्य नष्ट होने पर गुर्जरों का अधिकार वहां हुआ हो। वि० सं० ६८५ (ई० स० ६२८) के पूर्व उनका राज्य वहां से उठ चुका था, क्योंकि उक्त संवत् में वहां चाप-

(१) श्रीमद्गुर्ज्जरत्त्रामण्डलान्तःपातिमंगलानकविनिर्ग्गत०

ए. इं; जि० ५; पृ० २१०, टिप्पण ३।

(२) लाटदेश की सीमा के लिए देखो ना० प्र० प; भाग २, पृ० ३४६, टिप्पण ३।

(चावड़ा)वंशी राजा व्याघ्रमुख का राज्य होना भीनमाल के ही रहनेवाले (भिल्लमालकाचार्य) प्रसिद्ध ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त के 'ब्राह्मस्फुटासिद्धांत' से पाया जाता है[1]। लाट देश के चालुक्य (सोलंकी) सामंत पुलकेशी (अवनिजनाश्रय) के कलचुरि संवत् ४९० (वि० सं० ७९६=ई० स० ७३९) के दानपात्र से जान पड़ता है कि चावोटक (चाप, चावड़ा) वंश गुर्जर वंश से भिन्न था[2]।

भीनमाल का गुर्जर-राज्य चावड़ों के हस्तगत होने के पीछे वि० सं० की ११ वीं शताब्दी के प्रारंभ में अलवर राज्य के पश्चिमी विभाग तथा उसके निकटवर्ती प्रदेशों पर गुर्जरों के एक और राज्य होने का भी पता चलता है। अलवर राज्य के राजोरगढ़ नामक प्राचीन क़िले से मिले हुए वि० सं० १०१६ (ई० स० ९६०) माघ सुदि १३ के शिलालेख से पाया जाता है कि उस समय राज्यपुर (राजोरगढ़) पर प्रतिहार गोत्र का गुर्जर महाराजाधिराज सावट का पुत्र, महाराजाधिराज परमेश्वर मथनदेव राज्य करता था और वह परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर क्षितिपालदेव (महीपाल) का सामंत था[3]। यह क्षितिपाल कन्नौज का रघुवंशी प्रतिहार राजा था। उस शिलालेख में मथनदेव को महाराजाधिराज परमेश्वर लिखा है, जिससे अनुमान होता है कि वह क्षितिपालदेव (महीपाल) के बड़े सामंतों में से रहा होगा। उसी लेख से यह भी जाना जाता है कि उस समय वहां गुर्जर (गूजर) जाति के किसान भी थे[4]।

वर्तमान गुजरात के भड़ौच नगर पर भी गुर्जरों का राज्य वि० सं० की सातवीं और आठवीं शताब्दी में रहने का पता उनके दानपत्रों से लगता है। संभव है कि उक्त संवतों के पहले और पीछे भी उनका राज्य वहां रहा

(१) देखो ऊपर पृ० ६४ और टिप्पण २।

(२) तरलतरतारतरवारिविदारितोदितसैन्धवकच्छेल्लसौराष्ट्रचावोटकमौर्यगुर्जरादिराज्ये (ना० प्र० प; भाग १, पृ० २१० और पृ० २११ का टिप्पण २३)।

(३) ए. इं; जि० ३, पृ० २६६।

(४) वही; जि० ३, पृ० २६६।

हो। आश्चर्य नहीं कि भीनमाल के गुर्जरों (गूजरों) का राज्य ही भड़ौच तक फैल गया हो और भीनमाल का राज्य उनके हाथ से निकल जाने पर भी भड़ौच के राज्य पर उनका या उनके कुटुंबियों का अधिकार बना रहा हो। भड़ौच के गुर्जर राजाओं के दानपत्रों से प्रकट होता है कि उस गुर्जर राज्य के अंतर्गत भड़ौच ज़िला, सूरत ज़िले के ओरपाड, चौरासी और बारडोली के परगने तथा उनके पासवाले बड़ौदा राज्य, रेवाकांठा और सचीन राज्य के इलाक़े भी रहे होंगे।

गुर्जर जाति की उत्पत्ति के विषय में आधुनिक प्राचीन शोधकों ने अनेक कल्पनाएं की हैं। जनरल कनिंगहाम ने उनका यूची अर्थात् कुशन-वंशी होना अनुमान किया है[1]। वी० ए० स्मिथ ने उनकी गणना हूणों में की है[2]। सर जैम्स कैंपबेल का कथन है कि ईसवी सन् की छठी शताब्दी में यूरोप और एशिया की सीमा पर ख़ज़र नाम की एक जाति रहती थी; उसी जाति के लोग गुर्जर या गूजर हैं[3] और मि० देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने[4]

(१) क; आ. स. रि; जि० २, पृ० ७० ।

(२) देखो ऊपर पृ० ४७।

(३) इं. एँ; जि० ४०, पृ० ३० ।

(४) श्रीयुत भंडारकर ने तो साथ में यह भी लिखा है—"बंबई इहाते में गूजर (गुर्जर) नहीं हैं; ज्ञात होता है कि वह जाति हिन्दुओं में मिल गई। वहां गूजर (गुर्जर) वाणिये (बनिये, महाजन), गूजर (गुर्जर) कुंभार और गूजर (गुर्जर) सिलावट हैं। खानदेश में देशी कुनबी और गूजर (गुर्जर) कुनबी हैं। एक मराठा कुटुंब गुर्जर कहलाता है, जो महाराष्ट्र के आधुनिक इतिहास में प्रसिद्ध रहा है। करहाडा ब्राह्मणों में भी गुर्जर नाम मिलता है। राजपूताने में गूजरगौड़ (गुर्जरगौड़) ब्राह्मण हैं। ये सब गूजर (गुर्जर) जाति के हैं (इं. एँ; जि० ४०, पृ० २२)।" भंडारकर महाशय को इन नामों की मामूली उत्पत्ति जानने में भी भारी भ्रम हुआ और उसी से इन सबको गूजर ठहरा दिया है, परंतु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। जैसे श्रीमाल नगर (भीनमाल, जोधपुर राज्य में) के ब्राह्मण, महाजन, जड़िये आदि बाहर जाने पर अपने मूल निवासस्थान के नाम से अन्य ब्राह्मणों आदि से अपने को भिन्न बतलाने के लिए श्रीमाली ब्राह्मण, श्रीमाली महाजन आदि कहलाये; इसी तरह मारवाड़ में दधिमती (दाहिम) क्षेत्र के रहनेवाले ब्राह्मण, राजपूत, जाट आदि दाहिमे ब्राह्मण, दाहिमे राज-

कैंपबेल का कथन स्वीकार किया है[1]; परन्तु ये कथन कल्पनामात्र हैं क्योंकि उनमें से कोई भी सप्रमाण यह नहीं बतला सका कि अमुक समय में अमुक कारण से यह जाति बाहर से यहां आई। ख़ज़र से गुर्जर या गूजर जाति की उत्पत्ति मानना वैसी ही कपोलकल्पना है जैसा कि कोई यह कहे कि सकसेने कायस्थ यूरोप की सैक्सन् जाति से निकले हैं। नवसारी से मिले हुए भड़ौच के गुर्जरवंशी राजा जयभट (तीसरे) के कलचुरि संवत् ४५६ (वि० सं० ७६२) के दानपत्र में गुर्जरों का महाराज कर्ण (भारतप्रसिद्ध) के वंश में होना लिखा है।

बड़गूजर

कर्नल टॉड ने लिखा है—"बड़गूजर सूर्यवंशी हैं और गुहिलोतों को छोड़कर केवल यही एक वंश ऐसा है, जो अपने को रामचंद्र के बड़े बेटे लव[2] से निकलना बतलाता है। बड़गूजर लोगों के बड़े-बड़े इलाक़े ढूंढाड़

पूत, दाहिमे जाट आदि कहलाये; और गौड़ देश के ब्राह्मण, राजपूत, कायस्थ आदि बाहर जाने पर गौड़ ब्राह्मण, गौड़ राजपूत, गौड़ कायस्थ आदि प्रसिद्ध हुए; वैसे ही प्राचीन गुर्जर देश के रहनवाले ब्राह्मण, महाजन, कुंभार, सिलावट आदि गुर्जर ब्राह्मण, गुर्जर (गूजर) बनिये, गुर्जर (गूजर) कुंभार तथा गुर्जर (गूजर) सिलावट कहलाये। अतएव गुर्जर ब्राह्मण आदि का अभिप्राय यह नहीं है कि गुर्जर (गूजर) जाति के ब्राह्मण आदि। उनके नाम के पूर्व लगनेवाला गुर्जर (गूजर) शब्द उनके आदि निवास का सूचक है, न कि जाति का। उक्त महाशय ने एक करहाड़ा ब्राह्मण कुटुंब के यहां के ई० स० ११९१ (वि० सं० १२४८) के दानपत्र से थोड़ासा अवतरण भी दिया है, जिसमें दान लेनेवाले गोविंद ब्राह्मण को काश्यप, अवत्सार और नैध्रुव, इन तीन प्रवरवाले नैध्रुव गोत्र का और गुर्जर उपनामवाला (गुर्जरसमुपाभिधान) कहा है। यदि गूजर जाति का एशिया की ख़ज़र जाति होना माना जाय तो क्या उनके यहां भी गोत्र और प्रवर का प्रचार था? उन्होंने गूजरगौड़ों की उत्पत्ति के विषय में भी लिखा है—'इस नाम का तात्पर्य गूजर जाति के गौड़ ब्राह्मण हैं', परंतु वास्तव में गुर्जरगौड़ का अर्थ यही है कि गुर्जर देश के रहनेवाले गौड़ ब्राह्मण, न कि गूजर जाति के गौड़ ब्राह्मण।

(१) इं. ऐं; जि० ४०, पृ० ३०।

(२) गुहिलोतवंशी राजा अपने को रामचंद्र के पुत्र लव के वंश में नहीं, किंतु कुश के वंश में मानते हैं। कर्नल टॉड ने यह भ्रम से लिखा है।

(जयपुर राज्य) में थे, और माचेड़ी (अलवर के राजाओं का मूलस्थान) के राज्य में राजोर (राजोरगढ़) का पहाड़ी क़िला उनकी राजधानी था। राजगढ़ और अलवर भी उनके अधिकार में थे। जब बड़गूजरों को कछवाहों ने उनके निवासस्थानों से निकाल दिया तो उस वंश के एक दल ने गंगा किनारे जाकर शरण ली और वहां पर नया निवासस्थान अनूपशहर बसाया[1]।" कर्नल टॉड ने बड़गूजरों की राजधानी राजोरगढ़ बतलाई है। हम ऊपर वि० सं० १०१६ के शिलालेख से बतला चुके हैं कि प्रतिहार गोत्र के गुर्जर राजा मथनदेव की राजधानी राजोरगढ़ ही थी। बड़गूजरों का राज्य उस प्रदेश पर बहलोल लोदी के समय तक रहना तो उनके शिलालेखों से निश्चित है, इसके पीछे कछवाहों ने उनकी जागीरें छीनी होंगी। लेखों में बड़गूजर नाम पहले पहल माचेड़ी की बावलीवाले वि० सं० १४३९ (ई० स० १३८२) के शिलालेख में देखने में आया। उस लेख से पाया जाता है कि उक्त संवत् में वैशाख सुदि ६ को सुरताण (सुल्तान) पेरोजसाहि (फ़ीरोज़शाह तुग़लक) के शासन-काल में, जब कि माचाड़ी (माचेड़ी) पर बड़गूजर वंश के राजा आसलदेव के पुत्र महाराजाधिराज गोगदेव का राज्य था, वह बावड़ी खंडेलवाल महाजन कुटुंब ने बनवाई[2]। उसी गोगदेव के समय के वि० सं० १४२१ और १४२६ (ई० स० १३६४ और १३६९) के शिलालेख भी देखने में आये हैं[3]। गोगदेव फ़ीरोज़शाह तुग़लक का सामंत था। वहीं दूसरी बावली में एक शिलालेख वि० सं० १५१५, शाके १३८० (ई० स० १४५८) का सुरताण (सुल्तान) बहलोलसाहि (बहलोल लोदी) के समय का बिगड़ी हुई दशा का है। उस समय माचेड़ी में बड़गूजरवंशी महाराज रामसिंह के पुत्र महाराज रजपालदेव (राज्यपालदेव) का राज्य

(१) टॉ; रा; जि० १, पृ० १४०–४१।

(२) राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९१८–१९ की रिपोर्ट, पृ० २, लेखसंख्या ८।

(३) वही; ई० स० १९१८–१९ (की रिपोर्ट); पृ० २, लेखसंख्या ६–७।

होना लिखा है[1]। उक्त लेख का महाराज रामसिंह गोगदेव का पुत्र या पौत्र होना चाहिये।

गुर्जरों (गूजरों) के साथ इस समय राजपूतों का शादी-व्यवहार नहीं है, किंतु बड़गूजरों के साथ है। जयपुर के राजाओं की अनेक राणियां इस वंश की थीं। जनरल कनिंगहाम का कथन है[2] कि ग्वालियर के तंवर राजा मानसिंह की गूजरी राणी के नाम पर उसने गूजरी, बहुलगूजरी, माल-गूजरी और मंगलगूजरी नाम की चार रागनियां बनाईं।

राजा यशोधर्म

यशोधर्म, जिसको विष्णुवर्धन भी कहते थे, बड़ा ही प्रतापी राजा हुआ, परंतु उसके वंश या पिता आदि का अब तक कुछ भी पता नहीं। उसके शिलालेख मंदसोर और वहां से दो मील पर के सौंदणी नामक स्थान में मिले हैं, जिनसे अनुमान होता है कि उस प्रतापी राजा की राजधानी मंद-सोर रही होगी। सौंदणी में ही उसने अपने दो विजयस्तंभ खड़े करवाये, जो बड़े विशाल हैं, परंतु अब तो धराशायी हो रहे हैं। इन दोनों विजयस्तंभों पर एक ही लेख खुदवाया गया था, जो इस समय एक पर तो पूर्णतया सुरक्षित है, परंतु दूसरे पर का आधा अंश नष्ट हो गया है। उक्त पूरे लेख का आशय यह है—"जो देश गुप्त राजाओं तथा हूणों के अधिकार में नहीं आये थे उनको भी उसने अपने अधीन किया; लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी से महेंद्र पर्वत (हिन्दुस्तान के पूर्वी भाग का पूर्वी घाट) और हिमालय से पश्चिमी समुद्र तट तक के स्वामियों को अपना सामंत बनाया[3]। राजा मिहिरकुल ने भी, जिसने शंभु (शिव) के सिवा किसी के आगे सिर नहीं

(१) राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९१८-१९ की रिपोर्ट; पृ० ३, लेखसंख्या ११।

(२) देखो ऊपर पृ० ३६ और टिप्पण २।

(३) ये भुक्ता गुप्तनाथैर्न्न सकलवसुधाक्रान्तिदृष्टप्रतापै-
र्न्नाज्ञा हूणाधिपानां क्षितिपतिमुकुटाध्यासिनी यान्प्रविष्टा।
देशांस्तान्धन्वशैलद्रुमश(ग)हनसरिद्वीरबाहूपगूढा-
न्वीर्य्यावस्कन्नराज्ञः स्वगृहपरिसरावज्ञया यो भुनक्ति॥

झुकाया था, उसके चरणों में अपना मस्तक नमाया अर्थात् उससे हारा'[१]।" विजयस्तंभ पर के दोनों लेखों में संवत् नहीं है, परंतु मंदसोरवाला उसका शिलालेख मालव (विक्रम) संवत् ५८९ (ई० स० ५३२) का है[२]। उसमें पूर्व और उत्तर के बहुतसे राजाओं को वश करने का कथन तो है, परंतु मिहिरकुल को हराने का उल्लेख नहीं है, जिससे अनुमान होता है कि विजय-स्तंभ वि० सं० ५८९ के पीछे खड़े किये गये होंगे।

बैस वंश

बैसवंशी राजपूत सूर्यवंशी माने जाते हैं। बाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' में बैसवंशी राजा प्रभाकरवर्द्धन की पुत्री राज्यश्री का विवाह कन्नौज के मुखर (मौखरी) वंशी राजा अवंतिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा के साथ होने को सूर्य और चंद्रवंशों का मिलाप बतलाया है[३]। इस वंश का इतिहास बाणभट्ट के 'हर्षचरित', राजा हर्ष के दानपत्र, चीनी यात्री हुएन्त्संग की यात्रा की पुस्तक तथा दक्षिण के सोलंकियों के शिलालेखादि से मिलता है, जिसका सारांशमात्र नीचे लिखा जाता है—

पुष्यभूति श्रीकंठ प्रदेश (थाणेश्वर) का[४] स्वामी और परम शिवभक्त

आलौहित्योपकण्ठात्तलवनगहनोपत्यकादामहेन्द्रा-
दागङ्गाश्लिष्टसानोस्तुहिनशिखरिणः पश्चिमादापयोधेः।
सामन्तैर्यस्य बाहुद्रविणहृतमदैः पादयोरानमद्भि-
श्चूडारत्नांशुराजिव्यतिकरशबला भूमिभागाः क्रियन्ते॥

मंदसोर का शिलालेख, फ़्लीट; गु. इं; पृ० १४६।

(१) देखो ऊपर पृ० ६२, टिप्पण १।

(२) फ़्लीट; गु. इं; पृ० १४२-४४।

(३) तात त्वां प्राप्य चिरात्खलु राज(ज्य)श्रिया घटितौ तेजोमयौ सकलजगद्गीयमानबुधकर्णानंदकारिगुणगणौ सोमसूर्यवंशाविव पुष्प(ष्य)भूतिमुखरवंशौ (हर्षचरित, उच्छ्वास ४, पृ० १४६; निर्णयसागर-संस्करण)।

(४) अस्ति पुण्यकृतामधिवासो वासवावास इव वसुधामवतीर्णः··· ···श्रीकण्ठो नाम जनपदः (वही; पृ० ९४-९६)।

था। उसके पुत्र नरवर्द्धन की राणी वज्रिणीदेवी से राज्यवर्द्धन उत्पन्न हुआ, जो सूर्य का परम उपासक था। राज्यवर्द्धन की राणी अप्सरादेवी से आदित्यवर्द्धन का जन्म हुआ। वह भी सूर्य का भक्त था। उसकी राणी महासेनगुप्ता से प्रभाकरवर्द्धन ने जन्म लिया, जिसको प्रतापशील भी कहते थे। आदित्यवर्द्धन तक के नामों के साथ केवल 'महाराज'[1] पद मिलता है, अतएव वे स्वतंत्र राजा नहीं, किंतु दूसरों (गुप्तों) के सामंत रहे होंगे। उनका राजपूताने के साथ कुछ भी संबंध नहीं था।

प्रभाकरवर्द्धन की पदवियां 'परमभट्टारक' और 'महाराजाधिराज' मिलती हैं, जो उसका स्वतंत्र राजा होना प्रकट करती हैं[2]। हर्ष के ताम्रपत्रों में उसको अनेक राजाओं को नमानेवाला तथा 'हर्षचरित' में हूणों एवं गांधार, सिंधु, गुर्जर (गुर्जर देश ऊपर बतलाया हुआ प्राचीन गुर्जर देश होना चाहिये) और लाट देशों को विजय करनेवाला लिखा है[3]। वह भी सूर्य का परम भक्त था और प्रतिदिन 'आदित्यहृदय' का पाठ किया करता था। उसकी राणी यशोमती से दो पुत्र राज्यवर्द्धन और हर्षवर्द्धन, तथा एक पुत्री राज्यश्री उत्पन्न हुई, जिसका विवाह कन्नौज के मोखरीवंशी राजा अवंतिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा के साथ हुआ। मालवे के राजा ने ग्रहवर्मा को मारा और उसकी राणी राज्यश्री के पैरों में बेड़ियां डालकर उसे कन्नौज के क़ैदख़ाने में रक्खा[4]। उसी समय प्रभाकरवर्द्धन का देहांत हुआ और उसका बड़ा पुत्र राज्यवर्द्धन थाणेश्वर के राज्य-सिंहासन पर बैठा।

राज्यवर्द्धन अपने पिता के देहांत-समय उत्तर में हूणों से लड़ने को

(१) ए. इं; जि० ४, पृ० २१०।

(२) वही; जि० ४, पृ० २१०।

(३) हूणहरिणकेसरी सिंधुराजज्वरो गुर्जरप्रजागरो गान्धाराधिपगन्धद्विपकूटपालको लाटपाटवपाटच्चरो मालवलक्ष्मीलतापरशुः प्रतापशील इति प्रथितापरनामा प्रभाकरवर्द्धनो नाम राजाधिराजः (हर्षचरित; पृ० १२०)।

(४) वही; उच्छ्वास ६, पृ० १८२–८३।

गया था; उनके साथ युद्ध में वह घायल हुआ, परंतु विजय प्राप्तकर उसी दशा में थाणेश्वर पहुंचा। अपने पिता के असाधारण प्रेम का स्मरण कर उसने राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होना पसंद न किया, किंतु भदंत (बौद्ध साधु) होने के विचार से अपने छोटे भाई हर्षवर्द्धन (हर्ष) को राज्य-सिंहासन पर बिठाना चाहा। हर्ष ने भी भदंत होने की इच्छा प्रकट की और राज्य की उपाधि को अस्वीकार करना चाहा। इतने में राज्यश्री के क़ैद होने की खबर मिली, जिससे राज्यवर्द्धन ने भदंत होने का विचार छोड़ दिया और १०००० सवारों को साथ ले मालवे के राजा पर चढ़ाई कर दी। संग्राम में विजय पाकर उसने उसके बहुत से हाथी, घोड़े, रत्न, राणियों के आभूषण छत्र, चंवर, सिंहासन आदि राज्यचिह्न छीन लिये, तथा उसके अंतःपुर की बहुत सी सुंदर स्त्रियों, और मालवे के सब राजाओं (सामंतों) को क़ैद कर लिया। लौटते समय गौड़ (बंगाल) के राजा नरेंद्रगुप्त (शशांक) ने उसे अपने महलों में लेजाकर विश्वासघात कर मार डाला[1]। यह घटना वि० सं० ६६३ (ई० स० ६०६) में हुई। हर्षवर्द्धन के दानपत्र में राज्यवर्द्धन का परम सौगत (बौद्ध) होना, देवगुप्त आदि अनेक राजाओं को जीतना तथा सत्य के अनुरोध से शत्रु के घर में प्राण देना लिखा है[2]। उसका उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई हर्षवर्द्धन हुआ।

हर्षवर्द्धन को श्रीहर्ष, हर्ष और शीलादित्य भी कहते थे। राज्यसिंहासन पर बैठते ही उसने गौड़ के राजा को, जिसने उसके बड़े भाई को विश्वास-घात कर मारा था, नष्ट करने का संकल्प किया और अपने सेनापति सिंहनाद तथा स्कंदगुप्त की संमति से सब ही राजाओं के नाम इस अभिप्राय के

(१) हर्षचरित; उच्छ्वास ६, पृ० १८६।

(२) राजानो युधि दुष्टवाजिन इव श्रीदेवगुप्तादय×
कृत्वा येन कशाप्रहारविमुखास्सर्व्वे समं संयता ॥
उत्खाय द्विषतो विजित्य वसुधाङ्कृत्वा प्रजानां प्रियं
प्राणानुज्झितवानरातिभवने सत्यानुरोधेन यः ॥
हर्ष का दानपत्र; ए. इं; जि० ४, पृ० २१०।

पत्र भेजे कि या तो तुम मेरी अधीनता स्वीकार करलो या मुझ से लड़ने को तैयार हो जाओ। फिर दिग्विजय के लिए प्रस्थान कर पहला मुक़ाम राजधानी से थोड़ी दूर सरस्वती के तट पर किया। वहां प्राग्ज्योतिष (बंगाल के राजशाही ज़िले का नगर) के राजा भास्करवर्मा (कुमार) के दूत हंसवेग ने उपस्थित होकर अपने स्वामी का भेजा हुआ छत्र भेट कर प्रार्थना की कि भास्करवर्मा आपसे मैत्री चाहता है। उसने दूत का निवेदन स्वीकार कर उसके राजा को अपने पास उपस्थित होने के लिए कहलाया। वहां से कई मंज़िल आगे चलने पर मंत्री भंडि भी उससे आ मिला और उसने मालवराज के यहां से लाया हुआ लूट का माल नज़र कर निवेदन किया कि राज्यश्री कन्नौज के क़ैदखाने से भागकर विंध्याटवी में पहुंच गई है। यह समाचार पाते ही उस(हर्ष)ने भंडि को तो गौड़ के राजा को दंड देने के लिए भेजा और स्वयं विंध्याटवी की ओर चला और अपनी बहिन को लेकर यष्टिग्रह स्थान में पहुंचा[1]। अनुमान ३० वर्ष तक लगातार युद्ध कर उसने कश्मीर से आसाम तक और नेपाल से नर्मदा तक के सब देश अपने अधीन कर विशाल राज्य स्थापित किया। उसने दक्षिण को भी अपने अधीन करना चाहा, परंतु बादामी (वातापी, बंबई इहाते के बीजापुर ज़िले के बादामी विभाग का मुख्य स्थान) के चालुक्य (सोलंकी) राजा पुलकेशी (दूसरे) से हार जाने[2] पर उसका वह मनोरथ सफल न हुआ।

---

(१) हर्षचरित; उच्छ्वास ६–७।

(२) अपरिमितविभूतिस्फीतसामन्तसेना-
मुकुटमणिमयूखाक्रान्तपादारविन्दः।
युधि पतितगज(जे)न्द्रानीकवी(बी)भत्सभूतो-
भयविगळितहर्षो येन चाकारि हर्षः ॥ [२३] ॥

पुलकेशी (दूसरे) के आहोळे के शिलालेख से; ए. इं; जि० ६, पृ० ६।

समरसंसक्तसकलोत्तरापथेश्वरश्रीहर्षवर्द्धनपराजयोपलब्धपरमेश्वरनामधेयस्य…

पुलकेशी के ज्येष्ठ पुत्र चंद्रादित्य की राणी विजयभट्टारिका के दानपत्र से।

इं. ऐं; जि० ७, पृ० १६३।

हुएन्त्संग ने भी हर्ष के इस पराजय का उल्लेख किया है (देखो ऊपर पृ० ८३–८४)।

उसकी राजधानी थाणेश्वर और कन्नौज दोनों थीं। चीनी यात्री हुएन्त्संग, जो इस प्रतापी राजा के साथ था, लिखता है कि हर्षवर्द्धन ने अपने भाई के शत्रुओं को दंड देने तथा आसपास के सब देशों को अपने अधीन करने के समय तक दाहिने हाथ से भोजन न करने का प्रण किया था। ५००० हाथी, २०००० सवार और ५०००० पैदल सेना सहित उसने निरंतर युद्ध किया और पूर्व से पश्चिम तक अपनी अधीनता स्वीकार न करनेवाले सब राजाओं को जीतकर ६ वर्ष में हिंदुस्तान (नर्मदा से उत्तर के सारे देश) के पांचों प्रदेशों (पंजाब, सिंध, मध्यप्रदेश, बंगाल, गुजरात व राजपूताना आदि) को अपने अधीन किया। इस प्रकार राज्य बढ़ जाने पर अपनी सेना में भी वृद्धि कर लड़ाई के हाथियों की संख्या ६०००० और सवारों की १००००० तक पहुंचा दी। तीस वर्ष के बाद उसके शस्त्रों ने विश्राम पाया, फिर उसने शांतिपूर्वक राज्य किया। उस समय वह धर्म-प्रचार के कामों में निरंतर लगा रहता था। अपने राज्यभर में जीवहिंसा तथा मांसभक्षण की मनादी कर दी थी। इसके प्रतिकूल चलनेवाले को प्राण-दंड मिलता था। तमाम बड़े मार्गों पर यात्रियों तथा ग़रीबों के लिए पुण्य-शालाएं बनवाईं, जहां पर खाने-पीने के अतिरिक्त रोगियों को औषधि भी मिला करती थी। प्रति पांचवें वर्ष वह 'मोक्षमहापरिषद्' नामक सभा कर अपना ख़ज़ाना दान से ख़ाली कर देता; धर्मगुरुओं में परस्पर विवाद करवा-कर उनके प्रमाणों की स्वयं परीक्षा करता; सदाचारियों का सम्मान करता; दुष्टों को दण्ड देता; बुद्धिमानों को उत्साहित करता; सदाचारी धर्मवेत्ताओं से धर्म श्रवण करता और दुराचारियों को निकाल देता था। वि० सं० ७०१ (ई० स० ६४४) के आसपास उसने प्रयाग में धर्ममहोत्सव किया, जिसमें बड़े बड़े २० राजा उसके साथ थे[1]। रणरसिक होने के अतिरिक्त वह विद्वान् भी था। उसके रचे हुए 'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका' और 'नागानंद' नाटक उसकी विद्वत्ता के उज्ज्वल प्रमाण हैं[2]। जैसा वह विद्वान् था वैसा ही चित्र-

(१) बी; बु. रे. वे. व; जि० १, पृ० २१३-१६।

(२) 'काव्यप्रकाश' की किसी हस्तलिखित प्रति में 'यथा श्रीहर्षादेर्धावकादीनां

विद्या में भी बड़ा निपुण था, क्योंकि बंसखेड़ा से मिले हुए उसके दानपत्र में उसने अपने हस्ताक्षर चित्रलिपि में किये हैं, जो उसकी चित्रनिपुणता की साक्षी दे रहे हैं[1]। विद्वानों का बड़ा सम्मान करनेवाला होने से उसके समय में कई बड़े बड़े विद्वान् हुए। सुप्रसिद्ध बाणभट्ट उसका आश्रित था, जिसने 'हर्षचरित' नामक गद्य-काव्य में उसका चरित लिखकर उसका नाम अमर कर दिया और 'कादंबरी' नामक अपूर्व गद्य-कथा का पूर्वार्द्ध रचा। इस (कादंबरी) ग्रंथ का उत्तरार्द्ध उसके पुत्र पुलिंद(पुलिन)भट्ट ने अपने पिता के देहान्त होने के पीछे लिखकर उक्त पुस्तक को पूर्ण किया। बाणभट्ट को हर्ष ने बड़ी समृद्धि दी थी ऐसा स्वयं उसके[2] (बाण के) तथा पिछले विद्वानों के कथन[3] से पाया जाता है। राजशेखर कवि की 'सूक्तिमुक्तावली'

धनं' (श्रीहर्ष आदि से धावक आदि को धन मिला) पाठ देखकर कुछ विद्वानों की यह कल्पना है कि 'रत्नावली' आदि नाटक श्रीहर्ष (हर्षवर्द्धन) ने नहीं लिखे, किंतु धावक पंडित ने लिखकर धन के लालच से श्रीहर्ष को उनका रचयिता बतलाया और उससे धन लिया। प्रथम तो उक्त कथन का अर्थ यही है कि काव्यरचना से प्रसन्न होने पर राजा लोग विद्वानों को धन देते हैं जैसे कि श्रीहर्ष ने धावक को दिया था। दूसरी बात यह कि 'धावक' पाठ ही अशुद्ध है। डाक्टर बूलर को कश्मीर की प्राचीन प्रतियों में उपर्युक्त पाठ के स्थान में 'यथा श्रीहर्षादेर्बाणादीनां धनं' पाठ मिला, जिसको उसने शुद्ध पाठ माना इतना ही नहीं, किंतु यह भी लिखा कि 'धावक' का नाम कश्मीर में अज्ञात है, इसलिए उसे भारत के कवियों की नामावली में से निकाल देना चाहिये (डा० बूलर की कश्मीर, राजपूताना और मध्यभारत की संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट; पृ० ६९)। काव्यप्रकाश (उल्लास १) के उक्त कथन का आशय यही है कि बाण कवि ने हर्ष का चरित लिखा, जिसपर राजा ने उसको बहुतसा द्रव्य दिया था जैसा कि बाण ने स्वयं लिखा है। श्रीहर्ष स्वयं बड़ा ही विद्वान् था यह बाण आदि के लेखों से सिद्ध है।

(१) ए. इं; जि० ४, पृ० २१० के पास के फ़ोटो में राजा हर्ष के हस्ताक्षर देखिये।

(२) अविशच्च पुनरपि नरपतिभवनम्। स्वल्पैरेव चाहोभिः परमप्रीतेन प्रसादजन्मनो मानस्य प्रेम्णो विस्रम्भस्य द्रविणस्य नर्मणः प्रभावस्य च परां कोटिमानीयत नरेन्द्रेणेति (हर्षचरित; उच्छ्वास २ का अंत, पृ० ८२)।

(३) 'सारसमुच्चय' नामकी पुस्तक में 'काव्यप्रकाश' के उपर्युक्त कथन के

नामक पुस्तक में लिखा है कि बाणभट्ट (और पुलिंदभट्ट) के अतिरिक्त मयूर (सूर्यशतक का कर्ता) और दिवाकर (मातंग दिवाकर) भी उसी राजा के दरबार के पंडित थे[1]। सुबंधु ('वासवदत्ता' का कर्ता) का उसी के समय में होना माना जाता है। जैनों का कथन है कि जैन विद्वान् मानतुंगाचार्य ('भक्तामरस्तोत्र' का कर्ता) भी उसी के समय में हुआ।

चीनी यात्री हुएन्त्संग के अनुसार हर्षवर्द्धन की पुत्री का विवाह वलभीपुर (वळा, काठियावाड़) के राजा ध्रुवभट (ध्रुवसेन दूसरे) के साथ हुआ था[2]। राजा हर्षवर्द्धन ने चीन के बादशाह से मैत्री कर अपने एक ब्राह्मण राजदूत को उसके पास भेजा, जहां से वह वि० सं० ७०० (ई० स० ६४३) में लौटा। उसीके साथ चीन के बादशाह ने भी अपना दूतदल हर्षवर्द्धन के दरबार में भेजा। वि० सं० ७०४ (ई० स० ६४७) में चीन के बादशाह ने दूसरी बार अपने दूतदल को, जिसका मुखिया

उदाहरण में नीचे लिखा हुआ श्लोक दिया है—

हेम्नो भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनां
श्रीहर्षेण समर्पितानि कवये बाणाय कुत्राद्य तत्।
या बाणेन तु तस्य सूक्तिनिकरैरुट्टङ्किताः कीर्तय-
स्ताः कल्पप्रलयेपि यान्ति न मनाङ्मन्ये परिम्लानताम्॥

पीटर्सन की पहली रिपोर्ट; पृ० २१।

(१) अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातंगदिवाकरः।
श्रीहर्षस्याभवत्सभ्यः समो बाणमयूरयोः॥

'सुभाषितावलि' की अंग्रेज़ी भूमिका; पृ० ८६।

(२) चीनी यात्री हुएन्त्संग की भारतयात्रा की पुस्तक 'सीयुकि' के अंग्रेज़ी अनुवाद में बील ने शीलादित्य (हर्षवर्द्धन) के पुत्र की राजकन्या का विवाह वलभी के राजा ध्रुवभट के साथ होना लिखा है (बी; बु. रे. वे. व; जि० २, पृ० २६७) और ऐसा ही अनुवाद जुलियन ने किया है, परंतु थॉमस वॉटर्स उक्त पुस्तक के अनुवाद एवं उसकी विस्तृत टिप्पणी में शीलादित्य (हर्षवर्द्धन) ही की पुत्री का विवाह ध्रुवभट के साथ होना बतलाता है (वॉटर्स; ऑन युआन् च्वांग'; जि० २, पृ० २४७) जो अधिक विश्वास के योग्य है।

वंगहुएन्त्से था, हर्षवर्द्धन के दरबार में भेजा, परंतु उसके मगध में पहुंचने से पूर्व ही वि० सं० ७०५ (ई० स० ६४८) के आसपास हर्ष का देहांत हो गया और उसके सेनापति अर्जुन ने राज्यसिंहासन छीनकर चीनी दूतदल को लूट लिया, तथा कई चीनी सिपाही मारे गये। इसपर उक्त दूतदल का मुखिया (वंगहुएन्त्से) अपने साथियों सहित नेपाल में भाग गया, किन्तु थोड़े ही दिनों बाद वह नेपाल तथा तिब्बत की सेना को साथ लेकर लौटा तो अर्जुन भागा, परंतु पराजित होकर क़ैद हुआ और वंगहुएन्त्से उसको चीन ले गया[1]। इस प्रकार हर्षवर्द्धन के स्थापित किये हुए महाराज्य की समाप्ति उसी के देहान्त के साथ हो गई और उसके अधीन किये हुए सब राजा फिर स्वतंत्र बन बैठे।

वि० सं० ६६४ (ई० स० ६०७) में हर्षवर्द्धन का राज्याभिषेक हुआ था उस समय से उसने अपने नाम का संवत्[2] चलाया, जो हर्ष या श्रीहर्ष संवत् नाम से प्रसिद्ध हुआ, और अनुमान ३०० वर्ष तक चलकर अस्त हो गया। राजपूताने में हर्ष संवत्वाले शिलालेख मिले हैं[3]। हर्षवर्द्धन पहले शिव का

(१) चवनेज़; मेमॉयर; पृ० १६, टिप्पण २।

(२) हर्ष संवत् के लिए देखो 'भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृ० १७७।

(३) भरतपुर राज्य के कोट नामक गांव से मिले हुए एक कुटिलाक्षरवाले शिलालेख में, जो इस समय भरतपुर की राजकीय लाइब्रेरी (पुस्तकालय) में रक्खा हुआ है, संवत् ४८ दिया है। लिपि के आधार पर यह संवत् भी हर्ष-संवत् ही हो सकता है (राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९१६-१७ की रिपोर्ट; पृ० २, लेखसंख्या १)।

अलवर राज्य के तसई गांव में एक शिवालय के बाहर की दीवार में कुटिल लिपि में खुदी हुई एक प्रशस्ति का नीचे का अंश लगा हुआ है, जिसमें संवत् १८२ दिया है। लिपि के आधार पर वह हर्ष-संवत् ही माना जा सकता है (राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९१९-२० की रिपोर्ट; पृ० २, लेखसंख्या १)।

उदयपुर के विक्टोरियाहॉल के म्यूज़ियम् में एक शिलालेख रक्खा हुआ है, जो राजा धवलप्पदेव के समय का संवत् २०७ का है और मुझको डभोक गांव में कर्नल जेम्स टॉड के बंगले के पीछे खेत में पड़ा हुआ मिला था। उसकी लिपि के आधार पर इसका संवत् हर्ष-संवत् ही माना जा सकता है। मैंने उसकी एक छाप प्रसिद्ध विद्वान्

भक्त था, परंतु बौद्ध धर्म की तरफ़ श्रद्धा अधिक होने के कारण सम्भव है कि पीछे से वह बौद्ध होगया हो। श्रीहर्ष के पीछे उसके वंश का शृंखला-बद्ध इतिहास नहीं मिलता है। अवध में बैसवाड़े का इलाक़ा बैसवंशी राजपूतों का मुख्य स्थान है और उनमें तिलकचन्दी बैस अपने को मुख्य मानते हैं।

चावड़ा वंश

संस्कृत लेखों में उक्त वंश का नाम चाप, चापोत्कट या चावोटक लिखा मिलता है और भाषा में उसको चावड़ा कहते हैं। अब तक चावड़ों के तीन राज्यों का पता लगा है। सब से पुराना राज्य राजपूताने में भीनमाल पर था; दूसरा काठियावाड़ में वढ़वाण पर, जैसा कि वहां के राजा धरणी-वराह के शक सं० ८३६ (वि० सं ९७१=ई० स० ९१४) के दानपत्र से पाया जाता है[1] और तीसरा राज्य चावड़े वनराज ने वि० सं० ८२१ (ई० स० ७६४) में अणहिलवाड़ा (पाटन) बसाकर वहां स्थापित किया। इनमें से राजपूताने का संबंध केवल भीनमाल के चावड़ों के राज्य से ही है।

चावड़ा वंश की उत्पत्ति के विषय में हड्डाला (काठियावाड़ में) से मिले हुए वढ़वाण के चाप (चावड़ा) वंशी राजा धरणीवराह के वि० सं० ९७१ (ई० स० ९१४) के दानपत्र में लिखा है—"पृथ्वी ने शंकर से प्रणाम कर निवेदन किया कि हे प्रभो! आप जब ध्यान में मग्न होते हैं उस समय असुर मुझको दुःख देते हैं, यह मुझ से सहन नहीं हो सकता। इसपर शंकर ने अपने चाप (धनुष) से पृथ्वी की रक्षा करने के योग्य एक पुरुष उत्पन्न किया, जो 'चाप' कहलाया और उसका वंश उसी नाम से प्रसिद्ध

डॉ० बूलर के पास सम्मति के लिए भेजी तो उक्त विद्वान् ने भी उसके संवत् को हर्ष-संवत् ही माना। श्रीयुत देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने उक्त लेख के संवत् को ८०७ पढ़कर उसको विक्रम संवत् माना है (प्रोग्रेस रिपोर्ट आव् दी आर्कियालॉजिकल सर्वे आव इंडिया, वेस्टर्न सर्कल; ई० स० १६०५-६, पृ० ६१), परंतु यह सही नहीं क्योंकि उक्त लेख में ८ के अंक का कहीं नामनिशान भी नहीं है।

(१) इं. ऐं; जि० १२, पृ० १९३-४।

हुआ[1]।" यह कथन वैसा ही कल्पित और चाप नाम का संबंध मिलाने के लिए गढ़ा गया है जैसा कि किसी ने चौलुक्य नाम की उत्पत्ति बतलाने के वास्ते ब्रह्मा के चुलुक (चुल्लू) से चौलुक्यों के मूल पुरुष चालुक्य के उत्पन्न होने की कल्पना की है। चावड़ों के पुराने दोहों आदि से उनका परमारों के अंतर्गत होना पाया जाता है। आधुनिक विद्वानों ने उनकी उत्पत्ति के विषय में भिन्न भिन्न कल्पनाएं की हैं। कर्नल टॉड ने उनका सीथियन अर्थात् शक होना अनुमान किया है। कोई-कोई विद्वान् उनकी गणना गुर्जरों (गूजरों) में करते हैं, परंतु लाट देश के चालुक्य(सोलंकी)-वंशी सामन्त पुलकेशी (अवनिजनाश्रय) के कलचुरी संवत् ४६० (वि० सं० ७६६=ई० स० ७३६) के दानपत्र में ताज़िकों (अरबों) की चढ़ाई के प्रसंग में चावोटक (चापोत्कट, चावड़ा) और गुर्जर दो भिन्न-भिन्न वंश बतलाये हैं[2], और भीनमाल के चावड़ों ने गुर्जरों (गूजरों) से ही वहां का राज्य लिया था, इसलिए उक्त विद्वानों का कथन विश्वास के योग्य नहीं है। चीनी यात्री हुएन्त्संग वि० सं० ६६७ (ई० स० ६४१) के आसपास भीनमाल में आया था। वह वहां के राजा को क्षत्रिय बतलाता है, जो अधिक विश्वास के योग्य है। उस समय भीनमाल पर चावड़ों का ही राज्य था। हमारा अनुमान है कि चाप (चांपा, चंपक) नामक किसी मूल पुरुष के नाम से उसके वंशज चावड़े कहलाये हों। संस्कृत के विद्वान् लौकिक नामों को संस्कृत शैली के बना देते हैं, इसीसे चावड़ा नाम के ऊपर लिखे हुए भिन्न-भिन्न रूप संस्कृत में मिलते हैं।

भीनमाल के चावड़ों का शृंखलाबद्ध इतिहास अब तक नहीं मिला। बसंतगढ़ (सिरोही राज्य में) से एक शिलालेख राजा वर्मलात के समय का वि० सं० ६८२ (ई० स० ६२५) का मिला है; उससे पाया जाता है कि उक्त संवत् में उक्त राजा का सामंत राज्जिल, जो वज्रभट (सत्याश्रय) का

---

(१) इं. ऐं; जि० १२, पृ० १८३।

(२) ना० प्र० प०; भाग १, पृ० २१० और. पृ० २११ का टिप्पण २३।

पुत्र था, अर्बुद देश (आबू और उसके आसपास के प्रदेश) का स्वामी था[1]। भीनमाल के रहनेवाले प्रसिद्ध माघ कवि ने, अपने रचे हुए 'शिशुपालवध' (माघकाव्य) में अपने दादा सुप्रभदेव को वर्मलात राजा का सर्वाधिकारी (मुख्य मंत्री) बतलाया है[2], अतएव वर्मलात भीनमाल का राजा होना चाहिये। वसंतगढ़ के शिलालेख तथा 'शिशुपालवध' में राजा वर्मलात के वंश का परिचय नहीं दिया, परंतु भीनमाल के रहनेवाले ब्रह्मगुप्त ज्योतिषी ने शक सं० ५५० (वि० सं० ६८५=ई० स० ६२८) में, अर्थात् वर्मलात के समय के शिलालेख से केवल तीन वर्ष पीछे, 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' नामक ग्रंथ रचा, जिसमें वह लिखता है कि उस समय वहां का राजा चाप(चावड़ा)-वंशी व्याघ्रमुख था[3], अतएव या तो व्याघ्रमुख वर्मलात का उत्तराधिकारी रहा हो, या वर्मलात और व्याघ्रमुख दोनों एक ही राजा के नाम रहे हों, अथवा व्याघ्रमुख उसका बिरुद हो। भीनमाल के चावड़ों का अब तक तो इतना ही पता चला है, तो भी उनका राज्य वहां पर वि० सं० ७९६ (ई० स० ७३९) तक रहना तो निश्चित ही है, क्योंकि लाट देश के सोलंकी सामंत पुलकेशी (अवनिजनाश्रय) के कलचुरि सं० ४९० (वि० सं० ७९६= ई० स० ७३९) के दानपत्र में अरबों की चढ़ाई का वर्णन है और वहां उनका चावोटकों (चावड़ों) के राज्य को नष्ट करना भी लिखा है[4]। उस समय चावड़ों का राज्य भीनमाल पर ही था। वढ़वाण और पाटण (अण-हिलवाड़ा) में तो चावड़ों के राज्यों की स्थापना भी नहीं हुई थी। 'फ़तूहुल-बलदान' नामक फ़ारसी तवारीख़ में लिखा है कि वह चढ़ाई खलीफा हशाम के समय सिंध के हाकिम जुनैद ने की थी और उसने मरुमाड़ (मारवाड़) के अतिरिक्त अल् बेलमाल (भीनमाल) पर भी हमला किया

---

(१) ए. इं; जि० ९, पृ० १९१-९२।

(२) 'शिशुपालवधकाव्य'; सर्ग २० के अंत में 'कविवंशवर्णन', श्लोक १।

(३) देखो ऊपर पृ० ६४ और टिप्पण २।

(४) तरलतरतारतरवारिदारितोदितसैन्धवकच्छेल्लसौराष्ट्रचावोटकमौर्यगुर्जरादिराज्ये (ना० प्र० प०; भाग १, पृ० २१२, टिप्पण २३)।

था[1]। चावड़ों से भीनमाल का राज्य रघुवंशी प्रतिहारों (पड़िहारों) ने छीन लिया।

प्रतिहार वंश

गुहिल, चौलुक्य (सोलंकी), चाहमान (चौहान) आदि राजवंश अपने मूल पुरुषों के नाम से प्रचलित हुए हैं, परन्तु प्रतिहार नाम वंशकर्त्ता के नाम से चला हुआ नहीं, किंतु राज्याधिकार के पद से बना हुआ है। राज्य के भिन्न-भिन्न अधिकारियों में एक प्रतिहार भी था, जिसका काम राजा के बैठने के स्थान या रहने के महल के द्वार (ड्योढ़ी) पर रहकर उसकी रक्षा करना था। इस पद के लिए किसी खास जाति या वर्ण का विचार नहीं रहता था, किंतु राजा के विश्वासपात्र पुरुष ही इस पद पर नियुक्त होते थे। प्राचीन शिलालेखादि में प्रतिहार या महाप्रतिहार नाम मिलता है और भाषा में उसे पड़िहार कहते हैं। प्रतिहार नाम वैसा ही है जैसा कि पंचकुल (पंचोली)। पंचकुल राजकर वसूल करनेवाले राजसेवकों की एक संस्था थी, जिसका प्रत्येक व्यक्ति पंचकुल कहलाता था। प्राचीन दानपत्रों, शिलालेखों तथा प्रबंधचिंतामणि आदि पुस्तकों में पंचकुल का उल्लेख मिलता है। राजपूताने में ब्राह्मण पंचोली, कायस्थ पंचोली, महाजन पंचोली और गूजर पंचोली हैं, जिनमें अधिकतर कायस्थ पंचोली हैं। इसका कारण यह है कि ये लोग विशेषकर राजाओं के यहां अहलकारी का पेशा ही करते थे। पंचकुल का पंचउल (पंचोल) और उससे पंचोली शब्द बना है। जैसे पंचोली नाम किसी जाति का सूचक नहीं, किंतु पद का सूचक है, वैसे ही प्रतिहार शब्द भी जाति का नहीं, किंतु पद का सूचक है। इसी कारण शिलालेखादि में ब्राह्मण प्रतिहार, क्षत्रिय (रघुवंशी) प्रतिहार, और गुर्जर (गूजर) प्रतिहारों का उल्लेख मिलता है। आधुनिक शोधकों ने प्रतिहार मात्र को गूजर मान लिया है, जो भ्रम ही है।

मंडोर (जोधपुर से ४ मील) के प्रतिहारों के कुछ शिलालेख मिले हैं, जिनमें से तीन में उनके वंश की उत्पत्ति तथा वंशावली दी है। उनमें

---

(१) इलियट; हिस्ट्री आव इंडिया; जि० १, पृ० ४४१-४२।

मंडोर के प्रतिहार

से एक जोधपुर शहर के कोट (शहरपनाह) में लगा हुआ मिला, जो मूल में मंडोर के किसी विष्णुमंदिर में लगा था। यह शिलालेख वि० सं० ८९४ (ई० स० ८३७) चैत्र सुदि ५ का है[1]। दूसरे दो शिलालेख घटियाले (जोधपुर से २० मील उत्तर) में मिले हैं, जिनमें से एक प्राकृत (महाराष्ट्री) भाषा का श्लोकबद्ध[2] और दूसरा उसी का आशयरूप संस्कृत में है[3]। ये दोनों शिलालेख वि० सं० ९१८ (ई० स० ८६१) चैत्र सुदि २ के हैं। इन तीनों लेखों से पाया जाता है कि 'हरिश्चंद्र' नामक विप्र (ब्राह्मण), जिसको रोहिल्लद्धि भी कहते थे, वेद और शास्त्रों का अर्थ जानने में पारंगत था। उसके दो स्त्रियां थीं, एक द्विज-(ब्राह्मण) वंश की और दूसरी बड़ी गुणवती क्षत्रिय कुल की थी। ब्राह्मणी से जो पुत्र उत्पन्न हुए वे ब्राह्मण प्रतिहार कहलाये और क्षत्रिय वर्ण की राज्ञी (राणी) भद्रा से जो पुत्र जन्मे वे मद्य पीनेवाले हुए[4]। इस प्रकार मंडोर के प्रतिहारों के उन तीनों शिलालेखों से हरिश्चंद्र का ब्राह्मण एवं किसी राजा का प्रतिहार होना पाया जाता है। उसकी दूसरी स्त्री भद्रा को राज्ञी लिखा है, जिससे संभव है कि हरिश्चंद्र के पास जागीर भी रही हो। उसकी ब्राह्मण वंश की स्त्री के पुत्र ब्राह्मण प्रतिहार कहलाये। जोधपुर राज्य में अब तक प्रतिहार ब्राह्मण हैं[5], जो उसी हरिश्चंद्र प्रतिहार के वंशज होने चाहियें। उसकी क्षत्रिय वर्णवाली स्त्री भद्रा के पुत्रों की गणना उस समय की प्रथा के अनुसार मद्य पीनेवालों अर्थात् क्षत्रियों में हुई[6]। मंडोर के

---

(१) ज. रॉ. ए. सो; ई० स० १८९४, पृ० ४–९। इसके संवत् में सैकड़े और दहाई के अंक प्राचीन अक्षरप्रणाली से दिये हैं, जिससे पढ़ने में भ्रम होकर ८९४ के स्थान में केवल ४ छपा है। वास्तव में इसका संवत् ८९४ ही है।

(२) ज. रॉ. ए. सो; ई० स० १८९५, पृ० ५१६–१८।

(३) ए. इं; जि० ९, पृ० २७९–८०।

(४) देखो ऊपर पृ० १४ का टिप्पण २।

(५) ई० स० १९११ की जोधपुर राज्य की मनुष्यगणना की हिंदी रिपोर्ट, हिस्सा तीसरा, जिल्द पहली, पृष्ठ १९०।

(६) प्राचीन काल में प्रत्येक वर्ण का पुरुष अपने तथा अपने से नीचे के वर्णों

प्रतिहारों की नामावली उनके उपर्युक्त शिलालेखों में इस प्रकार मिलती है—

में विवाह कर सकता और ब्राह्मण पति का अन्य वर्ण की स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र ब्राह्मण ही माना जाता था। ऋषि पराशर के पुत्र वेदव्यास की, जो धीवरी सत्यवती (योजनगंधा) से उत्पन्न हुए थे, गणना ब्राह्मणों में हुई। ऋषि जमदग्नि ने इक्ष्वाकुवंशी (सूर्यवंशी) क्षत्रिय रेणु की पुत्री रेणुका से विवाह किया, जिससे परशुराम का जन्म हुआ और उनकी भी गणना ब्राह्मणों में हुई। मनु के समय कामवश ब्राह्मण चारों वर्ण में विवाह कर सकता था। क्षत्रिय जाति की स्त्री से उत्पन्न ब्राह्मणपुत्र ब्राह्मण के समान माना जाता, परन्तु वैश्यजाति की स्त्री से उत्पन्न होनेवाला अंबष्ठ और शूद्रा से उत्पन्न होनेवाला निषाद कहलाता था।

स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान्सुतान्।
सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान् ॥ ६ ॥
अनन्तरासु जातानां विधिरेष सनातनः।
द्व्येकान्तरासु जातानां धर्म्यं विद्यादिमं विधिम् ॥ ७ ॥
ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते।
निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥ ८ ॥

मनुस्मृति, अध्याय १०।

पीछे से याज्ञवल्क्य ने द्विजों के लिए शूद्रवर्ण की कन्या से विवाह करने का निषेध किया—

यदुच्यते द्विजातीनां शूद्राद्दारोपसंग्रहः।
नैतन्मम मतं यस्मात्तत्रायं जायते स्वयम् ॥

याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय।

फिर तो क्षत्रिय वर्ण की स्त्री से उत्पन्न होनेवाले ब्राह्मण के पुत्र की गणना क्षत्रिय वर्ण में होने लगी जैसा कि शंख और औशनस आदि स्मृतियों से पाया जाता है—

यत्तु ब्राह्मणेन क्षत्रियायामुत्पादितः क्षत्रिय एव भवति क्षत्रियेण वैश्यायामुत्पादितो वैश्य एव भवति वैश्येन शूद्रायामुत्पादितः शूद्र एव भवतीति शंखस्मरणम्।

याज्ञवल्क्यस्मृति; आचाराध्याय, श्लोक ९१ पर मिताक्षरा टीका।

नृपायां विधिना विप्राज्जातो नृप इति स्मृतः।

पूना की आनंदाश्रम ग्रंथावली में प्रकाशित 'स्मृतीनां समुच्चय' में औशनस स्मृति, पृ० ४७, श्लोक २८।

(१) हरिश्चंद्र (रोहिल्लद्धि)—प्रारंभ में किसी राजा का प्रतिहार था। उसकी राणी भद्रा से, जो क्षत्रिय वंश की थी, चार पुत्र भोगभट, कक्क, रज्जिल और दद्द हुए। उन्होंने अपने बाहुबल से मांडव्यपुर (मंडोर) का दुर्ग (क़िला) लेकर वहां ऊंचा प्राकार (कोट) बनवाया।

(२) रज्जिल (सं० १ का ज्येष्ठ पुत्र)।

(३) नरभट (सं० २ का पुत्र)—उसकी वीरता के कारण उसको 'पेल्लापेल्लि' कहते थे।

(४) नागभट (सं० ३ का पुत्र)—उसको नाहड़ भी कहते थे। उसने मेडंतकपुर (मेड़ता, जोधपुर राज्य) में अपनी राजधानी स्थिर की। उसकी राणी जज्जिकादेवी से दो पुत्र—तात और भोज—हुए।

(५) तात (सं० ४ का पुत्र)—उसने जीवन को बिजली के समान चंचल जानकर अपना राज्य अपने छोटे भाई को दे दिया और आप मांडव्य के पवित्र आश्रम में जाकर धर्माचरण में प्रवृत्त हुआ।

(६) भोज (सं० ५ का छोटा भाई)।

(७) यशोवर्द्धन (सं० ६ का पुत्र)।

(८) चंदुक (सं० ७ का पुत्र)।

(९) शीलुक (सं० ८ का पुत्र)—उसने त्रवणी और वल्ल[1] देशों में अपनी सीमा स्थिर की अर्थात् उनको अपने राज्य में मिलाया, और वल्ल-मंडल (वल्लदेश) के स्वामी भट्टिक (भाटी) देवराज को पृथ्वी पर पछाड़-कर उसका छत्र छीन लिया[2]।

---

(१) इन देशों के लिए देखो ऊपर पृ० २, टिप्पण १।

(२) ततः श्रीशिलुको जातः पुत्त्रो दुर्व्वारविक्क्रमः ।
येन सीमा कृता नित्यास्त्र(त्र)वणीवल्लदेशयोः ॥
भट्टिकं देवराजं यो वल्लमण्डलपालकं ।
निपात्य तत्क्षणं भूमौ प्राप्तवान् छ(वांश्छ)त्रचिह्नकं ॥
ज. रॉ. ए. सो; ई० स० १८९४, पृ० ९।

(१०) झोट (सं० ६ का पुत्र)—उसने राज्य-सुख भोगने के पीछे गंगा में मुक्ति पाई।

(११) भिल्लादित्य (सं० १० का पुत्र)—उसने युवावस्था में राज्य किया, फिर अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर वह गंगाद्वार (हरिद्वार) को चला गया जहां १८ वर्ष जीवित रहा और अन्त में उसने अनशन व्रत से शरीर छोड़ा।

(१२) कक्क (सं० ११ का पुत्र)—उसने मुद्‌गगिरि (मुंगेर, बिहार) में गौड़ों के साथ लड़ने में यश पाया। वह व्याकरण, ज्योतिष, तर्क (न्याय) और सर्व भाषाओं के कवित्व में निपुण था। उसकी भट्टि (भाटी) वंश की महाराणी पद्मिनी से बाउक और दूसरी राणी दुर्लभदेवी से कक्कुक का जन्म हुआ। उसका उत्तराधिकारी बाउक हुआ। कक्क रघुवंशी प्रतिहार राजा वत्सराज का सामंत होना चाहिये, क्योंकि गौड़ों के साथ लड़ने में उसके यश पाने के उल्लेख से यही मालूम होता है कि जब वत्सराज ने गौड़ देश के राजा को परास्त कर उसकी राज्यलक्ष्मी और दो श्वेत छत्र छीने, उस समय कक्क उसका सामंत होने से उसके साथ लड़ने को गया होगा।

(१३) बाउक (सं० १२ का पुत्र)—जब शत्रुओं का अतुल सैन्य नंदावल्ल को मारकर भूअकूप में आ गया और अपने पक्षवाले द्विजनृपकुल के प्रतिहार भाग निकले, तथा अपना मंत्री एवं अपना छोटा भाई भी छोड़ भागा, उस समय उस राण (राणा, बाउक) ने घोड़े से उतरकर अपनी तलवार उठाई। फिर जब नवों मंडलों के सभी समुदाय भाग निकले और अपने शत्रु राजा मयूर को एवं उसके मनुष्य(सैनिक)रूपी मृगों को मार गिराया तब उसने अपनी तलवार म्यान में की[1]। वि० सं० ८९४ (ई० स० ८३७) की ऊपर लिखी हुई जोधपुर की प्रशस्ति उसी ने खुदवाई थी।

---

(१) नन्दावल्लं प्रहत्वा रिपुबलमतुलं भूअकूपप्रयातं
दृष्ट्वा भग्नां(न्)स्वपक्षां(न्) द्विजनृपकुलजां(न्) सत्प्रतीहारभूपां(न्)।

(१४) कक्कुक (सं० १३ का भाई)—घटियाले से मिले हुए वि० सं० ६१८ के दोनों शिलालेख उसी के हैं, जिनके अनुसार उसने अपने सच्चरित्र से मरु, माड, वल्ल, तमणी (त्रवणी), अज्ज (आर्य) एवं गुर्ज्जरत्रा के लोगों का अनुराग प्राप्त किया; वडणाणय मंडल में पहाड़ पर की पल्लियों (पालों, भीलों के गांवों) को जलाया; रोहिन्सकूप (घटियाले) के निकट गांव में हट्ट (हाट, बाज़ार) बनवाकर महाजनों को बसाया और मड्डोअर (मंडोर) तथा रोहिन्सकूप गांवों में जयस्तंभ स्थापित किये[1]। कक्कुक न्यायी, प्रजापालक एवं विद्वान् था और संस्कृत में काव्यरचना भी करता था। घटियाले के वि० सं० ६१८ के संस्कृत शिलालेख के अन्त में एक श्लोक उसका बनाया हुआ खुदा है और साथ में यह भी लिखा है कि यह श्लोक स्वयं कक्कुक का बनाया हुआ है[2]।

मंडोर के प्रतिहारों की कक्कुक तक की शृंखलाबद्ध वंशावली उपर्युक्त तीन शिलालेखों से मिलती है। संवत् केवल बाउक और कक्कुक के

धिग्भूतैकेन तस्मिन्प्रकटितयशसा श्रीमता बाउकेन
स्फूर्जन्हत्वा मयूरं तदनु नरमृगा घातिता हंतिनैव ॥
कस्यान्यस्य प्रभग्नः ससचिवमनुजं त्यज्य राण(णः) सुतंत्रः
केनैकेनातिभीते दशदिशि तु वले (बले ?) स्तम्भ्य चात्मानमेकं।
धैर्यान्मुक्त्वाश्वपृष्ठं क्षितिगतचरणेनासिहस्तेन शत्रुं
छित्वा(त्त्वा) भित्वा(त्त्वा) श्मशानं कृतमतिभयदं बाउकान्येन तस्मिन् ॥
नवमंडलनवनिचये भग्ने हत्वा मयूरमतिगहने।
तदनु[ह]तासितरंगा श्रीमद्बाउकनृसिंघे(हे)न ॥

ज. रॉ. ए. सो; ई० स० १८६४, पृ० ७-८।

(१) ज. रॉ. ए. सो; ई० स० १८६५, पृ० ५१७-१८।

(२) यौवनं विविधैर्भोगैर्म्मध्यमं च वयः श्रिया।
वृद्धभावश्च धर्म्मेण यस्य याति स पुण्यवान् ॥
अयं श्लोकः श्रीकक्कुकेन स्वयं कृतः ॥

ए. इं; जि० ६, पृ० २८०।

ही मालूम हुए हैं, जो ऊपर दिये गये हैं। इस वंश का मूल पुरुष हरिश्चंद्र कब हुआ यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं, किंतु बाउक के निश्चित संवत् ८९४ से प्रत्येक का राज्य-समय औसत हिसाब से २० वर्ष मानकर पीछे हटते जावें तो हरिश्चंद्र का वि० सं० ६५४ (ई० स० ५९७) के आसपास विद्यमान होना स्थिर होता है। विक्रम सं० ९१८ के पीछे भी मंडोर के राज्य पर प्रतिहारों का अधिकार रहा, परन्तु उस समय की शृंखलाबद्ध नामावलीवाला कोई शिलालेख अब तक प्राप्त नहीं हुआ। एक लेख जोधपुर राज्य के चेराई गांव से प्रतिहार दुर्लभराज के पुत्र जसकरण का (? नाम कुछ संदिग्ध है) वि० सं० ९९३ (ई० स० ९३६) ज्येष्ठ सुदि १० का मिला है। दुर्लभराज और जसकरण शायद बाउक और कक्कुक के वंशधर रहे हों। वि० सं० १२०० के आसपास नाडौल के चौहान रायपाल ने, जिसके शिलालेख वि० सं० ११८९ से १२०२ तक के मिले हैं, मंडोर पडिहारों से छीन लिया। उसके पुत्र सहजपाल का एक शिलालेख (१९ टुकड़ों में) मंडोर से मिला है, जिससे मालूम होता है कि वि० सं० १२०२ (ई० स० ११४५) के आसपास सहजपाल वहां का राजा था[1]।

वंशभास्कर में प्रतिहार से लगाकर कृपाल तक की प्रतिहारों की नामावली में १९५ नाम दिये हैं, परन्तु बहुधा पुराने सब नाम कल्पित हैं और भाटों की ख्यातों से लिये हैं। उनमें से १४५ वें राजा अनुपमपाल का समय संवत् ३५० दिया है, और १७१ वें अर्थात् अनुपमपाल से २६ वें राजा नाहरराज की पुत्री पिंगला का विवाह चित्तोड़ के राजा तेजसिंह से होना, तथा उस समय कन्नौज पर राठोड़ (गहरवार) जयचन्द का, चित्तोड़ पर सीसोदिये (गुहिल) समरसिंह रावल का, दिल्ली पर अनंगपाल तंवर का, अजमेर पर सोमेश्वर चौहान का, गुजरात पर भोलाराय भीम (भोला भीम) सोलंकी का तथा दूसरे स्थानों पर अन्य-अन्य राजाओं का राज्य करना लिखा है। यह सब पृथ्वीराज रासे से ही लिया है और सारा मनगढ़ंत है।

---

(१) आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑव् इंडिया; एन्युअल रिपोर्ट, ई० स० १९०९-१०, पृ० १०२-३।

न तो रावल समरसिंह, जिसका वि० सं० १३३० से १३५८ तक विद्यमान होना शिलालेखादि से निश्चित है[1], नाहरराव का समकालीन था, और न जयचंद, अनंगपाल, सोमेश्वर, भोला भीम आदि उस(नाहरराव)के समकालीन थे। प्रायः उस सारी वंशावली के कृत्रिम होने से हमने उसको इतिहास के लिए निरुपयोगी समझकर पुराना वृत्तान्त उससे कुछ भी उद्धृत नहीं किया। मंडोर के प्रतिहारों के जो नाम उनके शिलालेखों में मिलते हैं, वे भाटों की ख्यातों में नहीं मिलते।

रघुवंशी प्रतिहार

रघुवंशी प्रतिहारों (पड़िहारों) ने चावड़ों से प्राचीन गुर्जर देश छीन लिया। उनकी राजधानी भी भीनमाल होनी चाहिये। उनकी उत्पत्ति के विषय में ग्वालियर से मिली हुई प्रतिहार राजा भोज (प्रथम) के समय की प्रशस्ति में लिखा है—'सूर्य वंश में मनु, इक्ष्वाकु, ककुत्स्थ आदि राजा हुए। उनके वंश में पौलस्त्य (रावण) को मारनेवाले राम हुए, जिनका प्रतिहार (ड्यौढ़ीवान) उनका छोटा भाई सौमित्रि (लक्ष्मण), इन्द्र का मानमर्दन करनेवाले मेघनाद आदि को हरानेवाला था। उसके वंश में नागभट हुआ[2]।' आगे चलकर उसी प्रशस्ति में वत्सराज को इक्ष्वाकु वंश की उन्नति करनेवाला कहा है। उस प्रशस्ति में संवत् नहीं है, परंतु भोज (प्रथम) के शिलालेखादि वि० सं० ९०० से ९३८ (ई० स० ८४३ से ८८१) तक के और उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल (प्रथम) का सब से पहला लेख वि० सं० ९५० (ई० स० ८९३) का है, अतएव भोज की ग्वालियर की प्रशस्ति वि० सं० ९०० और ९५० के बीच के किसी संवत् की होनी चाहिये।

काव्यमीमांसा आदि अनेक ग्रंथों के कर्त्ता प्रसिद्ध कवि राजशेखर ने, जो कन्नौज के प्रतिहार राजा भोज (प्रथम) के पुत्र महेन्द्रपाल (प्रथम) का गुरु (उपाध्याय) था और महेन्द्रपाल तथा उसके पुत्र महीपाल के समय में भी कन्नौज में था, अपनी 'विद्धशालभंजिका' नाटिका में अपने

---

(१) ना० प्र० प०; भाग १, पृ० ३२; और पृ० ४१३ का टिप्पण ४७।

(२) देखो ऊपर पृ० ७४ का टिप्पण २।

शिष्य महेन्द्रपाल (निर्भयनरेंद्र) को रघुकुलतिलक और 'बालभारत' में रघुग्रामणी (रघुवंशियों में अग्रणी) कहा है। उसी कवि ने 'बालभारत' नाटक में महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल को 'रघुवंशमुक्तामणि' (रघुवंशरूपी मोतियों में मणि के समान) एवं आर्यावर्त का महाराजाधिराज लिखा है[1]। राजशेखर के ये सब कथन ग्वालियर की प्रशस्ति के कथन की पुष्टि करते हैं।

शेखावाटी (जयपुर राज्य) के प्रसिद्ध हर्षनाथ के मंदिर की प्रशस्ति में, जो वि० सं० १०३० (ई० स० ९७३) आषाढ़ सुदि १५ की सांभर के चौहान राजा विग्रहराज के समय की है, उक्त विग्रहराज के पिता सिंहराज के वर्णन में लिखा है—'उस विजयी राजा ने, सेनापति होने के कारण उद्धत तोमर (तंवर) नायक सलवण को मारा (या हराया, मूल लेख में 'हत्वा' या 'जित्वा' शब्द होगा, जो नष्ट होगया है, केवल 'आ' की मात्रा बची है) और चारों ओर युद्ध में राजाओं को मारकर बहुतेरों को उस समय तक क़ैद में रक्खा जब तक कि उनको छुड़ाने के लिए पृथ्वी पर का चक्रवर्ती रघुवंशी (राजा) स्वयं उसके यहां न आया[2]।'

इससे स्पष्ट है कि सांभर का चौहान राजा सिंहराज किसी चक्रवर्ती अर्थात् बड़े राजा का सामंत था। उस समय उत्तरी भारत में प्रबल राज्य प्रतिहारों का ही था, जिसके अधीन राजपूताने का बड़ा अंश ही नहीं, किंतु गुजरात, काठियावाड़, मध्यभारत (मालवा) एवं सतलज से लगाकर बिहार तक के प्रदेश थे। सांभर के (चौहान) भी पहले कन्नौज के प्रतिहारों के अधीन थे, क्योंकि उसी हर्षनाथ की प्रशस्ति में सिंहराज के पूर्वज गूवक (प्रथम) के संबंध में लिखा है कि उसने बड़े राजा नागावलोक (कन्नौज का

---

(१) देखो ऊपर पृ० ७४-७५, टिप्पण ३।

(२) ······। तोमरनायकं सलवणं सैन्याधिपत्योद्धतं
युद्धे येन नरेश्वराः प्रतिदिशं निर्न्ना(र्णा)शिता जिष्णुना।
कारावेश्मनि भूरयश्च विधृतास्तावद्धि यावद्गृहे
तन्मुक्त्यर्थमुपागतो रघुकुले भूचक्रवर्ती स्वयम् ॥
ए. इं; जि० २, पृ० १२१-२२।

राज्य छीननेवाला प्रतिहार राजा नागभट-दूसरा) की सभा में 'वीर' कहलाने की प्रतिष्ठा पाई थी[१]। ऐसी दशा में सिंहराज की क़ैद से उन राजाओं को छुड़ानेवाला रघुवंशी राजा कन्नौज का प्रतिहार राजा ही हो सकता है। सिंहराज का समकालीन कन्नौज का प्रतिहार राजा देवपाल या उसका छोटा भाई विजयपाल होना चाहिये। उक्त प्रशस्ति से स्पष्ट है कि वि० सं० १०३० (ई०स० ९७३) में सांभर के चौहान भी कन्नौज के प्रतिहारों को रघुवंशी मानते थे।

आधुनिक विद्वान् कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहार राजाओं को गुर्जर या गूजर मानते हैं, जिसका संक्षिप्त वृत्तान्त हम पाठकों के संमुख इस अभिप्राय से रखना चाहते हैं कि उसके द्वारा वे स्वयं निर्णय कर सकें कि प्रतिहारों को गूजर ठहराना केवल उनकी कल्पना और भ्रममूलक अनुमान ही है या वास्तव में वह कथन ठीक है।

पहले पहल डाक्टर भगवानलाल इन्द्रजी जब गुजरात देश का प्राचीन इतिहास लिखने लगा तो गुजरात नाम वहां गुर्जर जाति के बसने या राज करने से पड़ा, ऐसा निश्चय कर उसने लिखा—"गूजर भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर मार्ग द्वारा बाहरी प्रदेश से आई हुई एक विदेशी जाति है, जो प्रथम पंजाब में आबाद होकर शनैः शनैः दक्षिण में गुजरात, खानदेश, राजपूताना, मालवा आदि देशों में बढ़ती गई। गूजरों का मुख्य धंधा पशुपालन, कृषि और सिपाहीगिरी था; यद्यपि यह मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता, परंतु संभव है कि गूजर कुशनवंशी राजा कनिष्क के राज्य में (ई० स० ७८-१०६) इधर आये हों। फिर दो सौ वर्ष पीछे जब गुप्तवंशियों का प्रताप बढ़ा तब पूर्वी राजपूताना गुजरात और मालवे में गुप्त राजाओं की तरफ़ से उनको जागीरें मिली हों। सातवीं शताब्दी (ईसवी) में चीनी यात्री हुएन्त्संग उत्तरी गुर्जर राज्य की राजधानी भीनमाल होना लिखता है। दक्षिणी गुर्जरों के प्राचीन शिलालेखों में उनका परिचय गुर्जर वंश

---

(१) आद्यः श्रीगूवकाख्याप्रथितनरपतिश्चाहमानान्वयोभूत्
श्रीमन्नागावलोकप्रवरनृपसभालब्ध(ब्ध)वीरप्रतिष्ठः।

ए. इं; जि० २, पृ० १२१।

के रूप में दिया है, परंतु फिर उन्होंने इसको बदलकर अपनी वंश-परम्परा पौराणिक राजा कर्ण से जा मिलाई। चौथी शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक मध्य गुजरात में शक्तिशाली राज्य वलभी का था, परंतु वहां के दान-पत्रों आदि से यह नहीं पाया जाता कि वलभी के राजा किस वंश के थे। हुएन्त्संग उनका क्षत्रिय होना लिखता है तथा उनका विवाह-संबंध मालवे और कन्नौज के राजाओं के साथ बतलाता है तथापि संभव है कि वे गुर्जर वंश के रहे हों। हुएन्त्संग उस समय आया था जब कि वलभीवालों का प्रताप बहुत बढ़ चुका था; आश्चर्य नहीं कि काल बीतने पर वे अपने मूल-वंश को भूलकर पीछे से क्षत्रिय बन गये हों और विवाह-संबंध तो राजपूत सदा अपने से बढ़े-चढ़े कुल में करने से नहीं चूकते हैं। गुजरात में गूजरों की कई जातियां हैं जैसे गूजर बनिये, गूजर सुतार (सूत्रधार), गूजर सोनी, गूजर कुम्भार, गूजर सिलावट आदि। गूजर जाति के लोगों के पृथक्-पृथक् धन्धे स्वीकार कर लेने ही से उनमें ये जातिभेद हुए। गूजरों की बड़ी संख्या में कुनबी लोग हैं[1]।"

मिस्टर ए० एम० टी० जैक्सन ने बॉम्बे गैज़ेटियर में भीनमाल पर जो निबन्ध लिखा उसमें गुर्जर जाति का ऐतिहासिक वृत्त देते हुए लिखा है— "वे लोग पांचवीं शताब्दी (ईसवी) में भारतवर्ष में आये, क्योंकि पहले पहल सातवीं शताब्दी में लिखे हुए श्रीहर्षचरित में उनका उल्लेख मिलता है। भीनमाल में उनके बसने का समय अनिश्चित है, परंतु हुएन्त्संग ने वहां के राजा को क्षत्रिय लिखा है। उन्होंने वलभी के राजा को उनकी सत्ता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। कवि पंप ने ई० स० ९४१ (वि० सं० ९९८) में 'पंपभारत' नामक काव्य लिखा, जिसमें वह लिखता है—'अरिकेसरी सोलंकी के पिता ने गुर्जरराज[2] महीपाल को पराजित किया।' यह महीपाल धरणीवराह (चावड़े) के ई० स० ९१४ (वि० सं० १०७१) के दानपत्र का

---

(१) बंब. गै; जि० १, भाग १, पृ० २–५।

(२) सोलंकियों का प्राचीन इतिहास; प्रथम भाग, पृ० २०७ और उसी पृष्ठ का टिप्पण †।

महीपाल हो सकता है, क्योंकि चावड़ों में तो कोई महीपाल हुआ ही नहीं। अतः वह गुर्जर देश (भीनमाल) का राजा होना चाहिये[1]।"

श्रीयुत देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने गुर्जर (जाति) पर एक निबन्ध छपवाया, जिसमें मिस्टर जैक्सन के लेख की पुष्टि करते हुए लिखा—"राजोर (अलवर राज्य) के प्रतिहार मथनदेव का ई० स० ६६० (वि० सं० १०१६) का लेख स्पष्ट कह देता है कि वह (मथनदेव) प्रतिहार वंश का गूजर था, अतएव कन्नौज के प्रतिहार राजा भी गूजर वंश के थे[2]।"

कुशनवंशी राजा कनिष्क के समय में गुर्जरों का भारतवर्ष में आना प्रमाणशून्य बात है, जिसको स्वयं डाक्टर भगवानलाल इन्द्रजी ने स्वीकार किया है, और गुप्तवंशियों के समय में गूजरों को राजपूताना, गुजरात और मालवे में जागीर मिलने के विषय में कोई प्रमाण नहीं दिया। न तो गुप्त राजाओं के लेखों में और न भड़ौच के गूजरों के दानपत्रों में इसका कहीं उल्लेख है। यह केवल उक्त पंडितजी का अनुमानमात्र है। चीनी यात्री हुएन्त्संग ने गुर्जर जाति का नहीं, किंतु गुर्जर देश का वर्णन कर अपने समय के भीनमाल के राजा को क्षत्रिय जाति का बतलाया है और उस देश की परिधि भी दी है। ऐसे ही वलभी के राजाओं को हुएन्त्संग ने क्षत्रिय बतलाया और आजकल के विद्वान् उनको मैत्रक (सूर्यवंशी) मानते हैं। उनको केवल अपनी कल्पना के आधार पर गुर्जरवंशी कहने और पीछे से वे क्षत्रिय बन गये हों ऐसा निर्मूल अनुमान करने एवं उनके विवाह-संबंध के विषय में ऐसे ख़याली घोड़े दौड़ाने को इतिहास कब स्वीकार कर सकता है।

इसी प्रकार मिस्टर जैक्सन ने हर्षचरित के वर्णन से भीनमाल के राजा को गुर्जरवंशी कहा, यह भी उसका भ्रममात्र है, क्योंकि हर्षचरित के रचयिता का अभिप्राय वहां गुर्जरदेश (या वहां के राजा) से है न कि गुर्जर जाति के राजा से। बड़ौदे के जिस दानपत्र की साक्षी मिस्टर जैक्सन

---

(१) बंब. गै; जि० १, भाग १, पृ० ४६५-६६।

(२) बंब. ए. सो. ज., ई० स० १६०५ (एक्स्ट्रा नंबर), पृ० ४१३-३१।

ने दी है उसमें राजा का नाम तो नहीं दिया, किंतु स्पष्ट शब्दों में उसको 'गुर्जरेश्वर'[1] लिखा है। फिर न मालूम उक्त महाशय ने इससे गुर्जर जाति का अनुमान कैसे कर लिया। दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा गोविन्दराज तीसरे के शक संवत् ७३० (वि० सं० ८६५=ई० स० ८०८) के वणी और राधनपुर से मिले हुए दानपत्रों में उसी (गुर्जरेश्वर) का नाम वत्सराज दिया है,

---

(१) गौडेंद्रवंगपतिनिर्ज्जयदुर्व्विदग्धसद्गुर्ज्जरेश्वरदिगर्ग्गलतां च यस्य।
नीत्वा भुजं विहतमालवरक्षणार्थं स्वामी तथान्यमपि राज्यछ(फ)लानि भुंक्ते॥

बड़ौदे का दानपत्र; इं. एं; जि० १२, पृ० १६०; और ना. प्र. प; भाग २, पृ० ३४५ का टिप्पण १।

उक्त ताम्रपत्र के 'गुजरेश्वर' पद का अर्थ 'गुर्जर (गुजरात) देश का राजा' स्पष्ट है, जिसको खींच तान कर गुर्जर जाति वा वंश का राजा मानना सर्वथा असंगत है। संस्कृत साहित्य में ऐसे हज़ारों उदाहरण मिलते हैं, जिनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं—

लाटेश्वरस्य सेनान्यमसामान्यपराक्रमः।
दुर्वारं वारपं हत्वा हास्तिकं यः समग्रहीत्॥ ३॥
महेच्छकच्छभूपालं लक्षं लक्षीचकार यः॥ ४॥
जगाम मालवेशस्य करवालः करादपि॥ १०॥
बद्धः सिंधुपतिर्येन वैदेहीदयितेन वा॥ २६॥
चक्रे शाकंभरीशोपि शङ्कितः प्रणतं शिरः॥ २९॥
मालवस्वामिनः प्रौढलक्ष्मीपरिवृढः स्वयं॥ ३०॥

कीर्तिकौमुदी; सर्ग २।

ये सब उदाहरण केवल एक ही पुस्तक के एक ही सर्ग के अंशमात्र से उद्धृत किये गये हैं। देशवाची शब्द का प्रयोग उक्त देश के राजा के लिए भी होता है—

अपारपौरुषोद्गारं खङ्गारं गुरुमत्सरः।
सौराष्ट्रं पिष्टवानाजौ करिणं केसरीव यः॥ २५॥

'कीर्तिकौमुदी'; सर्ग १।

इस श्लोक में 'सौराष्ट्रं' पद सौराष्ट्र देश के राजा (खंगार) का सूचक है, न कि देश का। ऐसे ही इस टिप्पण के प्रारंभ के श्लोक के तीसरे चरण का 'मालव' शब्द मालवे के राजा का सूचक है, न कि मालव जाति या मालव देश का।

जिसका रघुवंशी होना हम सप्रमाण आगे बतलाते हैं। 'पम्पभारत' काव्य में भी राजा महीपाल को गुर्जर जाति का नहीं, किंतु गुर्जर देश का स्वामी कहा है।

श्रीयुत देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने भी मिस्टर जैक्सन के कथन की पुष्टि करते हुए कन्नौज के प्रतिहार राजाओं को गुर्जरवंशी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, परंतु कन्नौज के प्रतिहारवंशी राजा भोजदेव की ग्वालियर की प्रशस्ति में, जो राजोरगढ़ के गुर्जर प्रतिहार राजा मथनदेव के लेख से अनुमान १०० वर्ष से भी अधिक पूर्व की है, कन्नौज के प्रतिहारों को रघुवंशी बतलाया है। ऐसे ही हर्षनाथ के चौहानों के लेख में भी उनको रघुवंशी लिखा है, जिसको भंडारकर ने भी पीछे से स्वीकार किया है[1]। विक्रम संवत् ६५० के लगभग होनेवाले कवि राजशेखर ने कन्नौज के प्रतिहारों को रघुवंशी बतलाया है[2]। प्रतिहार शब्द मूल में जाति सूचक नहीं, किंतु पंचोली, महता आदि के समान पदसूचक था जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और गूजर इन चारों जातियों के प्रतिहार होने के उल्लेख मिलते हैं। यदि केवल मथनदेव के लेख में गुर्जर प्रतिहार शब्द आने से प्रतिहारमात्र गुर्जर जाति के मान लिये जावें, तो उक्त लेख से अनुमानतः १२५ वर्ष पहले के लेखों में कहे हुए ब्राह्मण प्रतिहार शब्द से सब प्रतिहार ब्राह्मण जाति के और रघुवंशी प्रतिहार शब्द से सभी प्रतिहारों को क्षत्रिय ही मानना चाहिये। अतएव यह कहना सर्वथा ठीक नहीं है कि प्रतिहारमात्र गुर्जरवंशी हैं।

रघुवंशी प्रतिहारों ने प्रथम चावड़ों से भीनमाल का राज्य छीना, फिर कन्नौज के महाराज्य को अपने हस्तगत कर वहीं अपनी राजधानी स्थापित की, जिससे उनको कन्नौज के प्रतिहार भी कहते हैं। अब तक के शोध के अनुसार उनकी नामावली तथा संक्षिप्त वृत्तान्त नीचे लिखा जाता है—

---

(१) इं. ऐं; जि० ४२, पृ० ५८–५९।

(२) देखो ऊपर पृ० ७४, टिप्पण ३।

(१) नागभट—उस से ही उनकी नामावली मिलती है। उसको नागावलोक भी कहते थे। हांसोट (भड़ौच ज़िले के अंक्लेश्वर तालुके में) से एक दानपत्र चौहान राजा भर्तृवड्ढ (भर्तृवृद्ध) दूसरे का मिला है, जो वि० सं० ८१३ (ई० स० ७५६) का है[1]। उक्त ताम्रपत्र से पाया जाता है कि भर्तृवृद्ध (दूसरा) राजा नागावलोक का सामंत था। उक्त दानपत्र का नागावलोक यही प्रतिहार नागभट (नागावलोक) होना चाहिये। यदि यह अनुमान ठीक हो तो उसका राज्य उत्तर में मारवाड़ से लगाकर दक्षिण में भड़ौच तक मानना पड़ता है। उसके राज्य पर म्लेच्छ (मुसलमान) वलचों (बिलोचों) ने[2] आक्रमण किया, परंतु उसमें वे परास्त हुए। मुसलमानों की मारवाड़ पर की यह चढ़ाई सिंध की ओर से हुई होगी।

(२) ककुस्थ (संख्या १ का भतीजा)—उसको कक्कुक भी कहते थे।

(३) देवराज (सं० २ का छोटा भाई)—उसको देवशक्ति भी कहते थे और वह परम वैष्णव था। उसकी राणी भूयिकादेवी से वत्सराज का जन्म हुआ।

(४) वत्सराज (सं० ३ का पुत्र)—उसने गौड़ और बंगाल के राजाओं पर विजय प्राप्त की। गौड़ के राजा के साथ की लड़ाई में उसका सामंत मंडोर का प्रतिहार कक्क[3] भी उसके साथ था। जिस समय उसने मालवे के राजा पर चढ़ाई की उस समय दक्षिण का राष्ट्रकूट (राठोड़) राजा ध्रुवराज अपने सामंत लाट देश के राठोड़ राजा कर्कराज

---

(१) ए. इं; जि० १२, पृ० २०२-३।

(२) तद्वन्शे(वंशे) प्रतिहारकेतनभृति त्रैलोक्यरक्षास्पदे
देवो नागभटः पुरातनमुनेर्मूर्तिर्ब्बभूवाद्भुतम्।
येनासौ सुकृतप्रमाथिवलचम्लेच्छाधिपाक्षौहिणीः
क्षुन्दानस्फुरदुग्रहेतिरुचिरैर्दोर्भिश्चतुर्भिर्ब्बभौ ॥ ४ ॥

प्रतिहार राजा भोजदेव की ग्वालियर की प्रशस्ति; आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑव् इंडिया; ई० स० १९०३-४ की रिपोर्ट, पृ० २८०।

(३) देखो ऊपर पृ० १६१ में कक्क का वृत्तांत

सहित, जो इन प्रतिहारों का पड़ोसी था, मालवे के राजा को बचाने के लिए गया, जिससे वत्सराज को हारकर मरु (मारवाड़) देश में लौटना पड़ा और गौड़ देश के राजा के जो दो श्वेत छत्र उस (वत्सराज) ने छीने थे वे राठोड़ों ने उससे ले लिये[1]। उस क्षत्रियपुंगव ने बलपूर्वक भंडि[2] के वंश का राज्य छीनकर इक्ष्वाकु वंश को उन्नत किया। शक सं० ७०५ (वि० सं० ८४०=ई० स० ७८३) में दिगंबर जैन आचार्य जिनसेन ने 'हरिवंश पुराण' लिखा, जिसमें उक्त संवत् में उत्तर (कन्नौज) में इंद्रायुध और पश्चिम (मारवाड़) में वत्सराज का राज्य करना लिखा है[3]। वह परम माहेश्वर (शैव) था. उसकी राणी सुंदरीदेवी से नागभट का जन्म हुआ।

(५) नागभट दूसरा (सं० ४ का पुत्र)—उसको नागावलोक भी कहते थे। उसने चक्रायुध[4] को परास्त कर कन्नौज का साम्राज्य उससे

(१) ना. प्र. प. भाग २, पृ० ३४५–४६; और पृ० ३४५ का टिप्पण १।

(२) ख्याताद्भण्डिकुलान्मदोत्कटकरिप्राकारदुर्ल्लंघतो
यः साम्राज्यमधिज्यकार्म्मुकसखा संख्ये हठादग्रहीत्।
एकः क्षत्रियपुङ्गवेषु च यशोगुर्व्वीन्धुरं प्रोद्वह-
न्निक्ष्वाकोः कुलमुन्नतं सुचरितश्चक्रे स्वनामाङ्कितम्॥ ७॥

राजा भोजदेव की ग्वालियर की प्रशस्ति; आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑव् इंडिया; सन् १६०३–४ की रिपोर्ट; पृ० २८०।

भंडि का वंश कहां राज्य करता था इसका ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो सका। एक भंडि तो प्रसिद्ध बैसवंशी राजा हर्ष (हर्षवर्द्धन) के मामा का पुत्र और उक्त राजा (हर्ष) का मंत्री भी था। यहां उससे अभिप्राय हो ऐसा पाया नहीं जाता। शायद भंडि के वंश से यहां अभिप्राय भीनमाल के चावड़ों के वंश से हो। यदि यह अनुमान ठीक हो तो यह मानना अनुचित न होगा कि भंडि भीनमाल के चावड़ों का मूल पुरुष था।

(३) शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादि(धि)राजेऽपरां

बंब० गै; जि० १, भाग २, पृ० १६७, टि० २।

(४) चक्रायुध कन्नौज के उपर्युक्त राजा इंद्रायुध का उत्तराधिकारी था। ये दोनों किस वंश के थे यह ज्ञात नहीं हुआ।

छीना। उसी के समय से गुर्जर देश के इन प्रतिहारों की राजधानी कन्नौज स्थिर होनी चाहिये। उपर्युक्त ग्वालियर की प्रशस्ति में लिखा है[1] कि उसने आंध्र, सैंधव, विदर्भ (बरार), कलिंग और बंग के राजाओं को जीता, तथा आनर्त, मालव, किरात, तुरुष्क, वत्स और मत्स्य आदि देशों के पहाड़ी क़िले ले लिये। राजपूताने में जिस नाहड़राव पड़िहार का नाम बहुत प्रसिद्ध है और जिसके विषय में पुष्कर के घाट बनवाने की ख्याति चली आती है, वह यही नागभट (नाहड़) होना चाहिये, न कि उस नाम का मंडोर का प्रतिहार। उसके समय का एक शिलालेख वि० सं० ८७२ (ई० स० ८१५) का बुचकला (जोधपुर राज्य के बीलाड़ा परगने में) से मिला है[2]। नागभट भगवती (देवी) का परम भक्त था। उसकी राणी ईसटादेवी से रामभद्र उत्पन्न हुआ। नागभट का स्वर्गवास वि० सं० ८९० भाद्रपद सुदि ५ (ई० स० ८३३ ता० २३ अगस्त) को होना जैन चंद्रप्रभसूरि ने अपने 'प्रभावक चरित' में लिखा है[3]। कई जैन लेखकों ने कन्नौज के राजा नागभट के स्थान में 'आम' नाम लिखा है, परंतु चंद्रप्रभसूरि ने आम और नागावलोक दोनों एक ही राजा के नाम होना बतलाया है।

(६) रामभद्र (सं० ५ का पुत्र)—उसको राम तथा रामदेव भी कहते थे। उसने बहुत थोड़े समय तक राज्य किया। वह सूर्य का भक्त

---

(१) आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑव् इंडिया; ई० स० १९०३-४ की रिपोर्ट; पृ० २८१; श्लोक ८-११।

(२) ए. इं; जि० ९, पृ० १९९-२००।

(३) विक्रमतो वर्षाणां शताष्टके सनवतौ च भाद्रपदे।
शुक्ले सितपंचम्यां चन्द्रे चित्राख्यऋक्षस्थे ॥ ७२० ॥
माभूत्संवत्सरोऽसौ वसुशतनवतेर्मा च ऋक्षेषु चित्रा
धिग्मासं तं नभस्यं क्षयमपि स खलः शुक्लपक्षोपि यातु।
संक्रांतिर्या च सिंहे विशतु हुतभुजं पंचमी यातु शुक्रे
गंगातोयाग्निमध्ये त्रिदिवमुपगतो यत्र नागावलोकः ॥७२५॥

'प्रभावक चरित' में बप्पभट्टिप्रबंध; पृ० १७७।

था; उसकी राणी अप्पादेवी से भोज का जन्म हुआ।

(७) भोजदेव (सं० ६ का पुत्र)—उसको मिहिर और आदिवराह भी कहते थे। वह अपने पड़ोसी लाट देश के राठोड़ राजा ध्रुवराज (दूसरे) से लड़ा, जिसमें राठोड़ों के कथनानुसार वह हार गया। उसके समय के ५ शिलालेखादि वि० सं० ९०० से लगाकर ९३८ (ई० स० ८४३ से ८८१) तक के[1] मिले हैं और चांदी व तांबे के सिक्के भी मिले, जिनके एक तरफ़ 'श्रीमदादिवराह' लेख और दूसरी ओर 'वराह' (नरवराह) की मूर्त्ति बनी है[2]। वह भगवती (देवी) का भक्त था। उसकी राणी चंद्रभट्टारिकादेवी से महेन्द्रपाल उत्पन्न हुआ था। भोजदेव के युवराज का नाम नागभट मिलता है, परंतु महेन्द्रपाल और विनायकपाल के दानपत्रों में उसका नाम राजाओं की नामावली में न मिलने से अनुमान होता है कि उसका देहान्त भोजदेव की विद्यमानता में ही हो गया, जिससे भोजदेव का उत्तराधिकारी उसका दूसरा पुत्र महेन्द्रपाल हुआ।

(८) महेन्द्रपाल (सं० ७ का पुत्र)—उसको महेन्द्रायुध, महिंदपाल, निर्भयराज और निर्भयनरेन्द्र भी कहते थे। उसके समय के दो शिलालेख और तीन ताम्रपत्र मिले हैं, जो वि० सं० ९५० से ९६४ (ई० स० ८९३ से ९०७) तक[3] के हैं। उन तीन ताम्रपत्रों में से दो काठियावाड़ में मिले, जिनसे पाया जाता है कि काठियावाड़ के दक्षिणी हिस्से पर भी उसका राज्य था, जहां उसके सोलंकी सामंत राज्य करते थे[4] और उसकी तरफ़ से वहां का शासक धीइक था। काव्यमीमांसा, कर्पूरमंजरी,

(१) वि० सं० ९०० का दौलतपुरे का दानपत्र (ए. इं; जि० ५, पृ० २११) और पेहेवा (पेहोआ, कर्नाल ज़िले में) से मिला हुआ हर्ष संवत् २७६ (वि० सं० ९३९ का शिलालेख (ए. इं; जि० १, पृ० १८६-८८)।

(२) स्मि; कै. कॉ. इं. म्यू; पृ० २४१-४२; प्लेट २५, संख्या १८।

(३) वलभी संवत् ५७४ (वि० सं० ९५०) का ऊना (काठियावाड़ के जूनागढ़ राज्य) गांव से मिला हुआ दानपत्र (ए. इं; जि० ९, पृ० ४-६) और वि० सं० ९६४ का सीयडोनी का शिलालेख (ए. इं०; जि० १, पृ० १७३)।

(४) ना. प्र. प; भा० १, पृ० २१२-१५।

विद्धशालभंजिका, बालरामायण, बालभारत आदि ग्रन्थों का कर्त्ता प्रसिद्ध कवि राजशेखर उसका गुरु था। महेन्द्रपाल भी अपने पिता की नाईं भगवती (देवी) का भक्त था। उसके तीन पुत्रों—महीपाल (क्षितिपाल), भोज और विनायकपाल के नामों—का पता लगा है। भोज की माता का नाम देह-नागादेवी और विनायकपाल की माता का नाम महीदेवी मिला है।

(९) महीपाल (सं० ८ का पुत्र)—उसको क्षितिपाल भी कहते थे। उसके समय काव्यमीमांसा आदि का कर्त्ता राजशेखर कवि कन्नौज में विद्यमान था, जो उसको आर्यावर्त का महाराजाधिराज तथा मुरल, मेकल, कलिंग, केरल, कुलूत, कुंतल और रमठ देशवालों को पराजित करनेवाला लिखता है। महीपाल दक्षिण के राठोड़ इंद्रराज (तीसरे, नित्यवर्ष) से भी लड़ा था, जिसमें राठोड़ों के कथनानुसार उसकी हार हुई थी। उसके समय का एक दानपत्र हड्डाला गांव (काठियावाड़) से शक सं० ८३६ (वि० सं० ९७१=ई० स० ९१४) का मिला[1], जिसके अनुसार उस समय वढ़वाण में उसके सामंत चाप(चावड़ा)वंशी धरणीवराह का अधिकार था, और उसका एक शिलालेख वि० सं० ९७४ (ई० स० ९१७) का[2] भी मिला है।

(१०) भोज-दूसरा (सं० ९ का भाई)—उसने थोड़े ही समय तक राज्य किया। अब तक यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हुआ कि भोज (दूसरा) बड़ा था या महीपाल।

(११) विनायकपाल (सं० १० का छोटा भाई)—उसके समय का एक दानपत्र वि० सं० ९८८[3] (ई० स० ९३१) का मिला है। उसकी राणी प्रसाधनादेवी से महेंद्रपाल (दूसरे) का जन्म हुआ। उसके अंतिम समय से कन्नौज के प्रतिहारों का राज्य निर्बल होता गया और सामंत लोग स्वतंत्र बनने लगे।

---

(१) इं. ऐं; जि० १२, पृ० १९३-९४।

(२) वही; जि० १६, पृ० १७४-७५।

(३) इं. ऐं; जि० १५, पृ० १४०-४१। छपी हुई प्रति में सं० १८८ पढ़ा जाकर उसको हर्ष संवत् माना है, जो अशुद्ध है; शुद्ध संवत् ९८८ है।

(१२) महेन्द्रपाल दूसरा (सं० ११ का पुत्र)—उसके समय का एक शिलालेख प्रतापगढ़ से मिला है, जो वि० सं० १००३ (ई० स० ९४६) का है। उससे पाया जाता है कि घोंटावर्षिका (घोटार्सी, प्रतापगढ़ से अनुमान ६ मील पर) का चौहान इंद्रराज उसका सामंत था, उस समय मंडपिका (मांडू) में बलाधिकृत (सेनापति) कोकट का नियुक्त किया हुआ श्रीशर्मा रहता था और मालवे का तंत्रपाल (शासक, हाकिम) महासामंत, महादंडनायक माधव (दामोदर का पुत्र) था जो उज्जैन में रहता था। चौहान इंद्रराज के बनवाये हुए घोंटावर्षिका (घोटार्सी) के 'इन्द्रराजादित्यदेव' नामक सूर्यमंदिर को 'धारापद्रक' (धयावद) गांव महेन्द्रपाल (दूसरे) ने भेट किया, जिसकी सनद (दानपत्र) पर उक्त माधव ने हस्ताक्षर किये थे[1]।

(१३) देवपाल (संख्या ९ वाले महीपाल का पुत्र)—उसके समय का एक शिलालेख वि० सं० १००५ (ई० स० ९४८) का[2] मिला है, जिसमें उसके बिरुद परमभट्टारक, महाराजाधिराज और परमेश्वर दिये हैं। उसको क्षितिपालदेव (महीपालदेव) का पादानुध्यात (उत्तराधिकारी) कहा है। यदि देवपाल ऊपर लिखे हुए क्षितिपालदेव (महीपालदेव) का पुत्र हो तो हमें यही मानना पड़ेगा कि उसकी बाल्यावस्था के कारण उसका चचा विनायकपाल उसका राज्य दबा बैठा हो, और महेन्द्रपाल (दूसरे) के पीछे वह राज्य का स्वामी हुआ हो।

(१४) विजयपाल (सं० १३ का भाई)—उसके समय का एक शिलालेख वि० सं० १०१६ (ई० स० ९६०) का अलवर राज्य में राजोरगढ़ से मिला है, उस समय उसका सामंत गुर्जर (गूजर) गोत्र का प्रतिहार वहां का स्वामी था (देखो ऊपर गुर्जर वंश का इतिहास, पृ० १४९)।

(१५) राज्यपाल (सं० १४ का पुत्र)—उसके समय कन्नौज के प्रतिहारों का राज्य निर्बल तो हो ही रहा था इतने में महमूद ग़ज़नवी ने कन्नौज पर चढ़ाई कर दी। अल् उत्बीने अपनी 'तारीख़ यमीनी' में लिखा है—

(१) ए. इं; जि० १४, पृ० १८२–८४।

(२) सीयडोनी का शिलालेख; ए. इं; जि० १, पृ० १७७।

"मथुरा लेने के बाद सुलतान कन्नौज की तरफ़ चला। वहां के राय जैपाल (राज्यपाल) ने, जिसके पास थोड़ी ही सेना थी, भागकर अपने सामंतों के यहां शरण लेने की तैयारी की। सुलतान ता० ८ शाबान हि० सन् ४०९ (वि० सं० १०७५ मार्गशीर्ष सुदि १०) को कन्नौज पहुंचा। राय जैपाल (राज्यपाल) सुलतान के आने की ख़बर पाते ही गंगा पार भाग गया। सुलतान ने वहां के सातों क़िले तोड़े और जो लोग वहां से नहीं भागे वे क़तल किये गये[1]।" फ़िरिश्ता लिखता है—"हि० स० ४०९ (वि० सं० १०७५=ई० स० १०१८) में सुलतान महमूद १०००० चुनिंदा सवार और २०००० पैदल सेना लेकर कन्नौज पर चढ़ा। वहां का राजा कुंवरराय (नाम अशुद्ध है राज्यपाल चाहिये) बड़े राज्य और समृद्धि का स्वामी था, परंतु अचानक उसपर हमला हो जाने के कारण सामना करने या अपनी सेना एकत्र करने का उसको अवसर न मिला। उसने शत्रु की बड़ी सेना से डरकर संधि करनी चाही और सुलतान की अधीनता स्वीकार की। सुलतान तीन दिन वहां रहकर मेरठ की तरफ़ चला गया। हि० स० ४१२ (वि० सं० १०७८=ई० स० १०२१) में सुलतान के पास हिंदुस्तान से यह ख़बर पहुंची कि मुसलमानों से सुलह करने तथा उनकी अधीनता स्वीकार करने के कारण कन्नौज के राजा कुंवरराय पर सुलतान के चले जाने के बाद पड़ोसी राजाओं ने हमला किया है। सुलतान तुरंत ही उसकी सहायता को चला, परंतु उसके पहुंचने के पहले ही कालिंजर के राजा नंदराय (गंड, चंदेल) ने कन्नौज को घेरकर कुंवरराय (राज्यपाल) को मार डाला[2]।" फ़िरिश्ता कन्नौज के राजा का नाम कुंवरराय लिखता है, परंतु उससे लगभग ६०० वर्ष पूर्व का लेखक अल् उत्बी उसको रायजैपाल या राजपाल लिखता है, जो राज्यपाल का कुछ बिगड़ा हुआ रूप है। ऐसे ही फ़िरिश्ता राज्यपाल को मारनेवाले कालिंजर के राजा का नाम नंदराय लिखता है; वह भी गंड होना चाहिये, क्योंकि महोबा से मिले हुए चंदेलों के एक शिलालेख में राजा गंड के पुत्र विद्याधर

(१) इलियट्; हिस्ट्री आव् इंडिया; जि० २, पृ० ४५।

(२) ब्रिग; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० ५७ और ६३।

के हाथ से कन्नौज के राजा का मारा जाना लिखा है। राज्यपाल को मारने में विद्याधर के साथ दुबकुंड का कच्छपघात (कछवाहा) सामंत अर्जुन भी था। दुबकुंड से मिले हुए कच्छपघात (कछवाहा) वंशी सामंत विक्रमसिंह के समय के वि० सं० ११४५ (ई० स० १०८८) के शिलालेख[1] में उसके प्रपितामह (परदादा) अर्जुन के वर्णन में लिखा है कि उसने विद्याधरदेव की सेवा में रहकर बड़े युद्ध में राज्यपाल को मारा[2]। राज्यपाल वि० सं० १०७७ या १०७८ में मारा गया होगा।

(१६) त्रिलोचनपाल (सं० १५ का उत्तराधिकारी)—उसके समय का एक दानपत्र वि० सं० १०८४ (ई० स० १०२७) का मिला है[3]।

(१७) यशःपाल (?) के समय का एक शिलालेख वि० सं० १०९३ (ई० स० १०३६) का मिला है। उसके पीछे वि० सं० ११५० (ई० स० १०९३) से कुछ पूर्व गाहड़वाल (गहरवार) महीचंद्र का पुत्र चंद्रदेव कन्नौज का राज्य प्रतिहारों से छीनकर वहां का स्वामी बन गया। प्रतिहारों का कन्नौज का बड़ा राज्य गाहड़वालों (गहरवारों) के हाथ में चले जाने पर भी उनके वंशजों को समय-समय पर जो इलाक़े जागीर में मिले थे, वे उनके अधिकार में कुछ समय तक बने रहे। कुरेठा (ग्वालियर राज्य) से एक दानपत्र मलयवर्म प्रतिहार का वि० सं० १२७७ का मिला है, जिसमें उस (मलयवर्म) को नट्टुल का प्रपौत्र, प्रतापसिंह का पौत्र और विग्रह का पुत्र बतलाया है। मलयवर्म की माता का नाम लाल्हणदेवी दिया है, जो केल्हणदेव की पुत्री थी। यह केल्हणदेव शायद नाडोल का चौहान केल्हण रहा हो। उस दानपत्र में मलयवर्म के पिता का म्लेच्छों से लड़ना लिखा है, जो क़ुतबुद्दीन ऐबक से संबंध रखता होगा। मलयवर्म के सिक्के भी मिले हैं, जो वि० सं० १२८० से १२९० तक के हैं; वहीं से एक दूसरा दानपत्र वि० सं० १३०४ चैत्र सुदि १ (ई० स० १२४७ ता० ९ मार्च) का भी प्राप्त हुआ, जो मलयवर्म के भाई नृवर्मा (नरवर्मा) का है। नृवर्मा के पीछे यज्वपाल के वंशज

(१) ए. इं; जि० २, पृ० २३७। (३) इं. एं; जि० १८, पृ० ३४।
(२) वही; जि० २, पृ० २३७।

(अजपेल्लवंशी) परमाडिराज के पुत्र चाहड़ (चाहड़देव) ने प्रतिहारों से नलगिरि (नरवर) आदि छीन लिये। अब तो कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहारों के वंश में केवल बुंदेलखंड में नागौद का राज्य एवं अलिपुरा का ठिकाना तथा कुछ और छोटे-छोटे ठिकाने रह गये हैं। नागौद के राजाओं की जो वंशावली भाटों की पुस्तकों में मिलती है उसमें पुराने सब नाम कृत्रिम हैं।

जैसे मारवाड़ में ब्राह्मण प्रतिहार अब तक हैं वैसे ही अलवर राज्य के राजोरगढ़ तथा उसके आसपास के इलाक़ों पर गुर्जर जाति के प्रतिहारों का राज्य था। उनका हाल हम ऊपर गूजरों के इतिहास (पृ० १४९) में लिख चुके हैं।

रघुवंशी प्रतिहारों का वंशवृक्ष (ज्ञात संवत् सहित)

- १ नागभट (नागावलोक) वि० सं० ८१३
- ०
  - २ काकुस्थ (कक्कुक)
  - ३ देवराज (देवशक्ति)
    - ४ वत्सराज वि० सं० ८४०
      - ५ नागभट (नागावलोक) दूसरा वि० सं० ८७२–८९०
        - ६ राम (रामभद्र)
          - ७ भोज (मिहिर, आदिवराह) वि० सं० ९००—९३८
            - ८ महेंद्रपाल (महेंद्रायुध, निर्भय-नरेंद्र) वि० सं० ९५०–९६४
              - ९ महीपाल (क्षितिपाल) वि० सं० ९७१–९७४
                - १३ देवपाल वि० सं० १००५
                - १४ विजयपाल वि० सं० १०१६
                  - १५ राज्यपाल वि० सं० १०७५
                    - १६ त्रिलोचनपाल वि० सं० १०८४
                      - १७ यशःपाल वि० सं० १०९३
              - १० भोज (दूसरा)
              - ११ विनायकपाल वि० सं० ९८८
                - १२ महेंद्रपाल (दूसरा) वि० सं० १००३
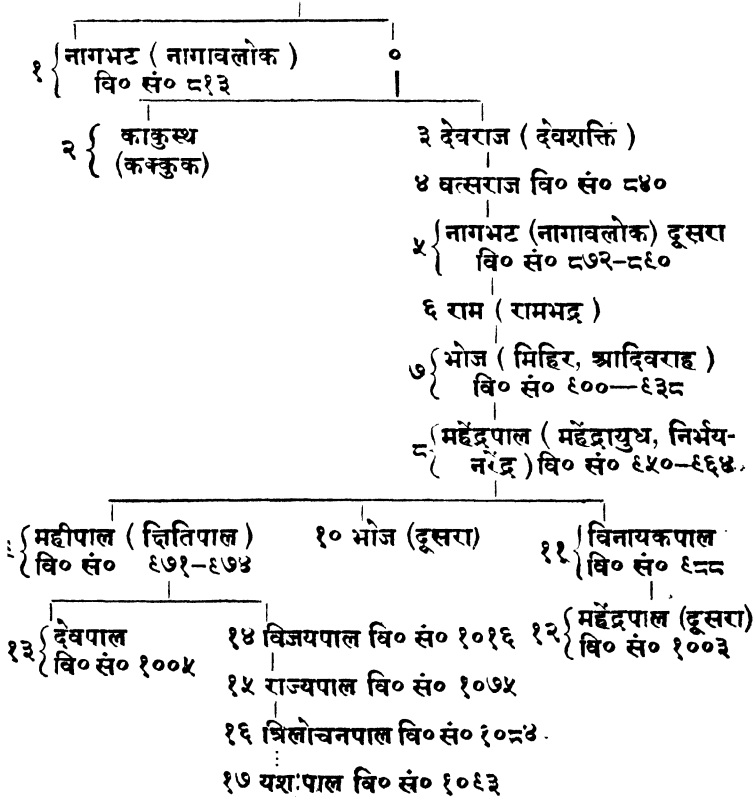
कर्नल टॉड ने लिखा है—"पड़िहारों ने राजस्थान के इतिहास में कभी कोई नामवरी का काम नहीं किया। वे सदैव पराधीन ही रहे और दिल्ली के तंवरों या अजमेर के चौहानों के जागीरदार होकर कार्य करते रहे। उनके इतिहास में सब से उज्ज्वल वृत्तांत नाहड़राव का अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए पृथ्वीराज से निष्फल युद्ध करने का है[1]।" कर्नल टॉड ने यह वृत्तांत अनुमान १०० वर्ष पूर्व लिखा था। उस समय प्राचीन शोध का प्रारंभ ही हुआ था, जिससे प्रतिहारों के प्राचीन इतिहास पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ा था। वास्तव में गुप्तों के पीछे राजपूताने में श्रीहर्ष के अतिरिक्त प्रतिहारों के समान प्रतापी कोई दूसरा राजवंश नहीं हुआ। जिन तंवर और चौहान वंशों के अधीन प्रतिहारों का होना टॉड ने लिखा है वे वंश प्रारंभ में प्रतिहारों के ही मातहत थे। प्रतिहारों का साम्राज्य नष्ट होने के पीछे उन्होंने दूसरों की अधीनता स्वीकार की थी। जितना शोध इस समय हुआ है उतना यदि टॉड के समय में होता तो टॉड के 'राजस्थान' में प्रतिहारों का इतिहास और ही रूप से लिखा जाता। नाहड़राव न तो पृथ्वीराज के समय में हुआ और न उससे लड़ा था। यह कथा नाहड़राव (नागभट, नाहड़) का नाम राजपूताने में प्रसिद्ध होने के कारण पृथ्वीराजरासे में इतिहास के अन्धकार की दशा में धर दी गई, जो सर्वथा विश्वास के योग्य नहीं है।

मुंहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात में, जो वि० सं० १७०५ और १७२५ के बीच लिखी गई थी, भाट नीलिया के पुत्र खंगार के लिखाने के अनुसार पड़िहारों की निम्नलिखित २६ शाखाएं दर्ज की हैं[2]—

१—पड़िहार। २-ईंदा, जिसकी उपशाखा में मलसिया, काल्पा, घड़सिया और बूलणा हैं। ३-लूलोरा, ये मिया के वंशज हैं। ४-रामावट। ५-बोथा, जो मारवाड़ में पाटोदी के पास हैं। ६-बारी, ये मेवाड़ में राजपूत और मारवाड़ में तुर्क हैं। ७-धांधिया, ये जोधपुर इलाक़े में राजपूत हैं।

(१) हिं. टॉ. रा; भाग १, पृ० २६०-६१।

(२) मुंहणोत नैणसी की मूल ख्यात, और छपी हुई पुस्तक, जि० १, पृ० २२१-२२।

८-खरवड़, ये मेवाड़ (उदयपुर राज्य) में बहुत हैं। ९-सीधका, ये मेवाड़ और बीकानेर राज्यों में हैं। १०-चोहिल, मेवाड़ में बहुत हैं। ११-फलू, ये सिरोही तथा जालोरी (जालोर के इलाक़े) में बहुत हैं। १२-चैनिया, फलोदी की तरफ़ हैं। १३-बोजरा। १४-झांगरा, ये मारवाड़ में भाट हैं और धनेरिया, भूंभलिया और खीचीवाड़े में राजपूत हैं। १५-बापणा, ये महाजन हैं। १६-चौपड़ा, ये महाजन हैं। १७-पेसवाल, ये खोखरियावाले रैबारी (ऊंट आदि पशु पालनेवाले) हैं। १८-गोढला। १९-टाकसिया, ये मेवाड़ में हैं। २०-चांदारा (चांदा के वंश के), ये नींबाज में कुंभार हैं। २१-माहप, ये राजपूत हैं और मारवाड़ में बहुत हैं। २२-डूराणा, ये राजपूत हैं। २३-सवर, ये मारवाड़ में राजपूत हैं। २४-पूमोर। २५-सामोर। २६-जेठवा, पड़िहारों में मिलते हैं।

'वंशभास्कर' में दी हुई पड़िहारों की वंशावली में प्रसिद्ध नाहड़राव[1] (नागभट) का प्रतिहार से १७१ वीं पीढ़ी में होना बतलाया है। नाहड़राव से छठी पीढ़ी में अमायक हुआ, जिसके १२ पुत्रों से १२ शाखाओं का चलना

---

(१) राजपूताने में जिस नाहड़राव पड़िहार का नाम प्रसिद्ध है वह मंडोर का पड़िहार नहीं, किंतु मारवाड़ (भीनमाल) का नागभट (दूसरा) होना चाहिये, जो बड़ा ही प्रतापी और वीर राजा हुआ। उसीने मारवाड़ से जाकर कन्नौज का महाराज्य अपने अधीन किया था। मंडोर के प्रतिहार अर्थात् ब्राह्मण हरिश्चंद्र के वंशज प्रथम चावड़ों के और पीछे से रघुवंशी प्रतिहारों के सामंत बने। उनके लेखों में जो वीरता के काम बतलाये हैं, वे उनके स्वतंत्र नहीं, किंतु अपने स्वामी के साथ रहकर किये हुए होने चाहियें। जैसे कि कक्क (बाउक के पिता) का मुद्गगिरि (मुंगेर) के गौड़ों के साथ की लड़ाई में यश पाना लिखा है, परंतु वास्तव में कक्क अपने स्वामी मारवाड़ के प्रतिहार वत्सराज का सामंत होने से उसके साथ मुंगेर के युद्ध में गौड़ों से लड़ा था। ऐसे उदाहरण बहुतसे मिल आते हैं कि सामंत लोग अपने स्वामी के साथ रहकर विजयी हुए हों तो उक्त विजय को अपने शिलालेखादि में अपने नाम पर अंकित कर देते हैं। भाटों की ख्यातों में केवल मंडोर के पड़िहारों का ही उल्लेख मिलता है और मारवाड़ तथा कन्नौज के प्रतापी रघुवंशी प्रतिहारों के संबंध में कुछ भी नहीं लिखा, जिसका कारण यही है कि भाट लोग बहुत पीछे से ख्यातें लिखने लगे और नाहड़राव (नागभट दूसरे) का नाम राजपूताने में अधिक प्रसिद्ध होने से उसको उन्होंने मंडोर का पड़िहार मान लिया।

माना है। उनमें से सोधक नाम के एक पुत्र का बेटा इंदा हुआ, जिससे प्रसिद्ध इंदा नाम की शाखा चली। इस शाखा के पड़िहारों की ज़मींदारी ईंदावाटी— जोधपुर से १५ कोस पश्चिम में—है। मंडोर का गढ़ इंदा शाखा के पड़िहारों ने पड़िहार राणा हंमीर से, जो दुराचारी था, तंग आकर राव वीरम के पुत्र राठोड़ चूंडा को वि० सं० १४५१ (ई० स० १३६५) में दहेज में दिया। फिर राणा हंमीर बीरूटंकनपुर में जा रहा। हंमीर के एक भाई दीपसिंह के वंशज सोंधिये पड़िहार हैं, जो अब मालवे की तरफ़ सोंधवाड़े में रहते हैं। हंमीर के एक दूसरे भाई गूजरमल ने एक मीणा जाति की स्त्री से विवाह कर लिया, जिसके वंशज पड़िहार मीणे खैराड़ में हैं (जो ऊजले मीणे कहलाते हैं)। हंमीर के पुत्र कुंतल ने रान (राण) नगर (भिणाय) लेकर वहां राजधानी स्थापित की। कुंतल के पुत्र बाघ और निंबदेव थे। बाघ ने बुढ़ापे में ईहडदेव सोलंकी (शायद यह राण अर्थात् भिणाय का सोलंकी हो) की पुत्री जैमती से विवाह किया। वह कुलटा निकली और अपने बूढ़े पति को छोड़कर गोठण गांव के गूजर बघराव (बाघराव) के पुत्र भोज के घर जा बैठी, इसलिए पड़िहारों ने गूजरों को मारकर उनका गांव लूट लिया (जैमती के गीत अब तक राजपूताने में गाये जाते हैं)। गूजर भोज के बेटे ऊदल ने अपने पिता का बैर लेने को बाघ पड़िहार के पुत्र भुद्ध पर चढ़ाई की, राण नगर को लूटा और पड़िहार वहां से भाग निकले। भुद्ध से चौथी पीढ़ी में होनेवाले भीम के पुत्र किशनदास ने (?) उचेरे (उचहरा, नागौद, बघेलखंड) में राजधानी जा जमाई। इस समय प्रतिहारों का एक छोटा राज्य नागौद है और उनकी ज़मींदारियां ज़िले इटावा में तथा पंजाब में कांगड़े व होशियारपुर के ज़िलों में भी हैं।

परमार वंश

परमारों के शिलालेखों तथा कवि पद्मगुप्त (परिमल) रचित 'नवसाहसांकचरित' काव्य आदि में परमारों की उत्पत्ति के विषय में लिखा है— 'आबू पर्वत पर वसिष्ठ ऋषि रहते थे उनकी गौ (नंदिनी) को विश्वामित्र छल से हर ले गये इसपर वसिष्ठ ने क्रुद्ध हो मंत्र पढ़कर अपने

अग्निकुंड में आहुति दी, जिससे एक वीर पुरुष उस कुंड में से प्रकट हुआ, जो शत्रु को परास्त कर गौ को लौटा लाया; इसपर प्रसन्न होकर ऋषि ने उसका नाम 'परमार' अर्थात् शत्रु को मारनेवाला रक्खा। उस वीर पुरुष के वंश का नाम परमार हुआ[1]। इस प्रकार परमारों की उत्पत्ति मालवे के परमार राजा मुंज (वाक्पतिराज, अमोघवर्ष) के पीछे के शिलालेखों तथा संस्कृत पुस्तकों में मिलती है, परंतु मुंज के ही समय के पंडित हलायुध ने राजा मुंज को ब्रह्मक्षत्र कुल का कहा है। परमारों की उत्पत्ति के विषय में हम ऊपर (पृ०७५-७६ और उनके टिप्पणों में) विस्तार से लिख आये हैं।

परमारों का मूल राज्य आबू के आसपास के प्रदेश पर था, जहां से जाकर उन्होंने मारवाड़, सिंध, वर्तमान गुजरात के कुछ अंश तथा मालवे आदि में अपने राज्य स्थापित किये।

---

(१) ब्रह्माण्डमण्डपस्तम्भः श्रीमानस्त्यर्बुदो गिरिः।....॥ ४९ ॥
अतिस्वाधीननीवारफलमूलसमित्कुशम्।
मुनिस्तपोवनं चक्रे तत्रेक्ष्वाकुपुरोहितः॥ ६४ ॥
हृता तस्यैकदा धेनुःकामसूर्गाधिसूनुना।
कार्तवीर्यार्जुनेनेव जमदग्नेरनीयत॥ ६५ ॥
स्थूलाश्रुधारसन्तानस्नपितस्तनवल्कला।
अमर्षपावकस्याभूद्भर्तुस्समिदरुन्धती॥ ६६ ॥
अथाथर्वविदामाद्यस्समन्त्रामाहुतिं ददौ।
विकसद्विकटज्वालाजटिले जातवेदसि॥ ६७ ॥
ततः क्षणात् सकोदण्डः किरीटी काञ्चनाङ्गदः।
उज्जगामाग्नितः कोऽपि सहेमकवचः पुमान्॥ ६८ ॥
दूरं सन्तमसेनेव विश्वामित्रेण सा हृता।
तेनानिन्ये मुनेर्धेनुर्दिनश्रीरिव भानुना॥ ६९ ॥
परमार इति प्रापत् स मुनेर्नाम चार्थवत्।......॥ ७१ ॥
पद्मगुप्त (परिमल) रचित 'नवसाहसाङ्कचरित', सर्ग ११।

आबू के परमारों का मूल पुरुष धूमराज हुआ, परंतु वंशावली उससे नहीं, किंतु उसके वंशधर उत्पलराज से नीचे लिखे अनुसार मिलती है—

(१) उत्पलराज (धूमराज का वंशज)—वसंतगढ़ (वसिष्ठपुर, वट-नगर, सिरोही राज्य) से मिले हुए परमार राजा पूर्णपाल के समय के वि० सं० १०९९ (ई० स० १०४२) के शिलालेख में वंशावली उत्पलराज से शुरू होती है।

(२) आरण्यराज (सं० १ का पुत्र)।

(३) कृष्णराज (सं० २ का पुत्र)—उसको कान्हड़देव भी कहते थे।

(४) धरणीवराह (सं० ३ का पुत्र)—कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहारों का राज्य निर्बल होने पर उनके सामंत स्वतंत्र होने लगे। मूलराज नामक सोलंकी ने अपने मामा चावड़ावंशी सामंतसिंह (भूयड़) को मारकर उसका राज्य छीना[1] और वह गुजरात की राजधानी पाटण (अणहिलवाड़े) की गद्दी पर बैठ गया। उसने धरणीवराह पर भी चढ़ाई की थी, जिससे उस(धरणीवराह)ने हस्तिकुंडी (हथुंडी, जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ ज़िले में) के राष्ट्रकूट (राठोड़) राजा धवल की शरण ली, ऐसा धवल के वि० सं० १०५३ (ई० स० ९९७) के शिलालेख से पाया जाता है[2]। मूलराज ने वि० सं० ९९८ से १०५२ (ई० स० ९४२—९९६) तक राज्य किया, अतएव धरणीवराह पर उसकी चढ़ाई इन दोनों संवतों के बीच किसी वर्ष में होनी चाहिये। राजपूताने में ऐसा प्रसिद्ध है कि परमार धरणीवराह के ९ भाई थे, जिनको उसने अपना राज्य बांट दिया, और उनकी ९ राजधानियां

(१) हिं. टॉ. रा; खंड १, पृ० ४३२। (खड्गविलासप्रेस का संस्करण)।

(२) यं मूलादुदमूलयद्गुरुबलः श्रीमूलराजो नृपो
दर्प्पांधो धरणीवराहनृपतिं यद्वद्वि(दृद्वि)पः पादपं।
आयातं भुवि कांदिशीकमभिको यस्तं शरण्यो दधौ
दंष्ट्रायामिव रूढमूढमहिमा कोलो महीमण्डलं॥ १२॥

ए. इं; जि० १०, पृ० २१।

नवकोटी मारवाड़ कहलाई। इस विषय का एक छप्पय भी प्रसिद्ध है[1], परन्तु उसमें कुछ भी सत्यता पाई नहीं जाती। अनुमान होता है कि वह छप्पय किसीने पीछे से बनाया होगा। उसके बनानेवाले को परमारों के प्राचीन इतिहास का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं था।

(५) महीपाल (सं० ४ का पुत्र)—जिसको धूर्भट[2], ध्रुवभट और देवराज भी कहते थे। उसका एक दानपत्र वि० सं० १०५९ (ई० स० १००२) का मिला है, जो अब तक प्रकाशित नहीं हुआ।

(६) धंधुक (सं० ५ का पुत्र)—उसने गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव (प्रथम) की सेवा स्वीकार न की, जिससे भीमदेव उसपर क्रुद्ध हुआ (अर्थात् चढ़ आया), तब वह आबू छोड़कर धारा (धारा नगरी, धार) के राजा भोज के पास चला गया, जब कि वह चित्तोड़ में रहता था। भीमदेव ने प्राग्वाटवंशी (पोरवाड़) महाजन विमल (विमलशाह) को आबू का दण्डपति (हाकिम) नियत किया, जिसने धंधुक को चित्तोड़ से बुलाकर भीमदेव के साथ उसका मेल करा दिया; फिर उस(धंधुक)की आज्ञा से वि० सं० १०८८ (ई० स० १०३१) में आबू पर (देलवाड़ा गांव में) विमलवसती (विमलवसही) नामक करोड़ों रुपयों की लागत का आदिनाथ का मंदिर

---

(१) मंडोवर सामंत, हुवो अजमेर सिद्धसुव।
गढ पूंगल गजमल्ल, हुवो लोद्रवे भाणभुव॥
अल्ह पल्ह अरबद्द, भोजराजा जालंधर।
जोगराज धरधाट, हुवो हांसू पारकर॥
नवकोट किराडू संजुगत, थिर पंवार हर थप्पिया।
धरणीवराह धर भाइयां, कोट बांट जू जू दिया॥

(२) श्रीधरणीवराहोभूत्प्रभुर्भूमेस्तदंगजः।
श्रीधूर्भटमहीपालो तत्सुतोदधतुर्महीं॥

आबू के किसी परमार राजा के एक दानपत्र का पहला पत्रा (रा० म्यू० अजमेर की ई० स० १९३२ की रिपोर्ट; पृ० २–३)। यह अब तक अप्रकाशित है।

बनवाया[१]। कारीगरी में उस मंदिर की समता करनेवाला दूसरा कोई मंदिर हिन्दुस्तान में नहीं है[२]। धंधुक की राणी अमृतदेवी से पूर्णपाल नामक पुत्र और लाहिनी नामक कन्या हुई। लाहिनी का विवाह विग्रहराज के साथ हुआ था, जिसको संगमराज का प्रपौत्र, दुर्लभराज का पौत्र और चच का पुत्र बतलाया है। लाहिनी विधवा हो जाने पर अपने भाई पूर्णपाल के पास आकर रहने लगी और वि० सं० १०९९ (ई० स० १०४२) में उसने वसिष्ठपुर (वसंतगढ़, सिरोही राज्य) में सूर्य के मंदिर और सरस्वती वापी (बावली) का जीर्णोद्धार कराया[३]। लाहिनी के नाम से अब तक

---

(१) तत्कुलकमलमरालः कालः प्रत्यर्थिमंडलीकानां।
चंद्रावतीपुरीशः समजनि वीराग्रणीर्धन्धुः॥ ५॥
श्रीभीमदेवस्य नृपस्य सेवाममन्यमानः किल धंधुराजः।
नरेशरोषाच्च ततो मनस्वी धाराधिपं भोजनृपं प्रपेदे॥ ६॥
प्राग्वाटवंशाभरणं बभूव रत्नप्रधानं विमलाभिधानः।···॥७॥
ततश्च भीमेन नराधिपेन प्रतापवह्निर्विमलो महामतिः।
कृतोर्बुदे दंडपतिः सतां प्रियो प्रियंवदो नंदतु जैनशासने॥८॥
श्रीविक्रमादित्यनृपाद्व्यतीतेऽष्टाशीति याते शरदां सहस्रे।
श्रीआदिदेवं शिखरेर्बुदस्य निवेशितं श्रीविमलेन वंदे॥११॥

आबू पर विमलशाह के मंदिर के जीर्णोद्धार संबंधी वि० सं० १३७८ के शिलालेख से।

राजानकश्रीधांधूके क्रुद्धं श्रीगूर्जरेश्वरं।
प्रसाद्य भक्त्या तं चित्रकूटादानीय तद्गिरा॥ ३९॥
वैक्रमे वसुवस्वाशा १०८८ मितेऽब्दे भूरिरैव्ययात्।
सत्प्रासादं स विमलवसत्याह्वं व्यधापयत्॥ ४०॥

जिनप्रभसूरिरचित 'तीर्थकल्प' में अर्बुदकल्प।

(२) इस मंदिर की सुंदरता के लिए देखो ऊपर पृ० २७।

(३) वसंतगढ़ का वि० सं० १०९९ का शिलालेख (ए. इं; जि० ९, पृ० १२—१५)।

वह बावली लाणवाव (लाहिनी वापी) कहलाती है। धंधुक के तीन पुत्र[1] पूर्णपाल, दंतिवर्मा और कृष्णराज हुए।

(७) पूर्णपाल (सं० ६ का पुत्र)—उसके समय के तीन शिलालेख मिले हैं, जिनमें से दो वि० सं० १०६६ (ई० स० १०४२) के और तीसरा वि० सं० ११०२ (ई० स० १०४५) का है।

(८) दंतिवर्मा (सं० ७ का छोटा भाई)—उसके पुत्र योगराज के विद्यमान होते हुए भी उस(दंतिवर्मा)का छोटा भाई कृष्णदेव राज्य का स्वामी बन बैठा, जिससे दंतिवर्मा के वंशज कुछ वर्ष तक राज्य से वंचित रहे।

(९) कृष्णदेव (कृष्णराज दूसरा, सं० ८ का छोटा भाई)—गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव (प्रथम) ने उसको क़ैद किया, परंतु नाडौल के चौहान राजा बालप्रसाद ने उसे मुक्त करा दिया[2]। उसके समय के दो शिलालेख भीनमाल से मिले हैं, जो वि० सं० १११७[3] और ११२३[4](ई० स० १०६० और १०६६) के हैं।

(१०) काकलदेव (सं० ९ का पुत्र)।

(११) विक्रमसिंह (सं० १० का पुत्र)—हेमचन्द्र (हेमाचार्य) ने

---

(१) श्रीध(धं)धूका(को) धराधीशो महीपालतनूद्भवः।···॥४॥
तत्सुतः पूरर्णपालोभूद्दंतिवर्मा द्वितीयकः।
तृतीयः कृष्णदेवोभूद्राज्यं चक्रुः क्रमेण ते ॥ ५ ॥
परमारों के उपर्युक्त दानपत्र का पहला पत्रा।

(२) जज्ञे भूभृत्तदनु तनयस्तस्य बालप्रसादो
भीमक्ष्माभृच्चरणयुगलीमर्द्दनव्याजतो यः।
कुर्वन् पीडामतिव(ब)लतया मोचयामास कारा-
माराद् भूमीपतिमपि तथा कृष्णदेवाभिधानम् ॥ १८ ॥
ए. इं; जि० ९, पृ० ७५-७६।

(३) बंब. गैज़ेटियर; जि० १, भा० १, पृ० ४७२-७३।

(४) वही; जि० १, भा० १, पृ० ४७३-७४।

अपने 'द्व्याश्रयमहाकाव्य' में लिखा है-"गुजरात के सोलंकी राजा कुमारपाल ने अजमेर के चौहान राजा आना (अर्णोराज, आनल्लदेव, आनाक) पर चढ़ाई की उस समय आबू का राजा विक्रमसिंह कुमारपाल के साथ था[1]।" जिनमंडनोपाध्याय ने अपने 'कुमारपाल-प्रबंध' में लिखा है-"विक्रमसिंह लड़ाई के समय आना (अर्णोराज) से मिल गया, जिससे कुमारपाल ने उसको क़ैद कर आबू का राज्य उसके भतीजे यशोधवल (योगराज के पौत्र और रामदेव के पुत्र) को दिया।" सोलंकी कुमारपाल ने अजमेर पर दो चढ़ाइयां की थीं, परंतु पिछले जैन-लेखकों ने दोनों को मिलाकर गड़बड़ कर दिया है। पहली चढ़ाई वि० सं० १२०१ (ई० स० ११४४) के आसपास हुई, जिसमें कुमारपाल की सफलता पर सन्देह होता है, परंतु दूसरी चढ़ाई वि० सं० १२०७ (ई० स० ११५०) में हुई, जिसमें वह विजयी हुआ[2]। विक्रमसिंह के समय पहिली चढ़ाई हुई होगी, क्योंकि अजारी गांव (सिरोही राज्य) से यशोधवल के समय का एक शिलालेख[3] वि० सं० १२०२ (ई० स० ११४५) का मिला, जिसमें उसको महामंडलेश्वर कहा है। विक्रमसिंह के एक पुत्र रणसिंह हुआ, जिसको आबू का राज्य नहीं मिला।

(१२) यशोधवल (दंतिवर्मा का वंशज और रामदेव का पुत्र[4])—

---

(१) 'द्व्याश्रयमहाकाव्य'; सर्ग १६, श्लो० ३३-३४।

(२) इं० ऐं; जि० ४१, पृ० १९५-९६।

(३) यह शिलालेख राजपूताना म्यूज़िअम् (अजमेर) में सुरक्षित है।

(४) दंतिवर्मात्मजः श्रीमान् योगराजो जगज्जयी।
राजा काकलदेवोभूत् कृष्णदेवतनूद्भवः ॥ ६ ॥
योगराजांगसंभूतो रामदेवो रणोत्कटः।
जातः काकलदेवांगाद्विक्रमसिंहक्ष्माधिपः ॥ ७ ॥
रामदेवतनोर्जातः श्रीयशोधवलो नृपः।
येन मालवभूपालो बल्लालो दलितो रणे ॥ ८ ॥

परमारों के उपर्युक्त दानपत्र का पहला पत्रा।

उसने कुमारपाल के शत्रु मालवे के राजा बल्लाल को मारा था[1]। बल्लाल का नाम मालवे के परमारों के शिलालेखादि में नहीं मिलता। संभव है कि वह उनका कोई वंशधर रहा हो, जिसने अपने पुरुखाओं का सोलंकियों के हाथ में गया हुआ राज्य छुड़ा लेने का बीड़ा उठाया हो और उसमें मारा गया हो; अथवा किसी राजा का उपनाम (ख़िताब) हो, जिसका निर्णय अब तक नहीं हुआ। उस (यशोधवल) के समय के दो शिलालेख मिले हैं, जो वि० सं० १२०२ और १२०७ (ई० स० ११४५ और ११५०) के हैं। यशोधवल के दो पुत्र धारावर्ष और प्रल्हादनदेव थे।

(१३) धारावर्ष (सं० १२ का पुत्र)—वह आबू के परमारों में बड़ा प्रसिद्ध और पराक्रमी हुआ। गुजरात के राजा कुमारपाल ने जब कोंकण (उत्तरी) के राजा (मल्लिकार्जुन) पर दो चढ़ाइयां कर उसको मारा उस समय कुमारपाल की सेना के साथ वह भी था और उसने भी अपनी वीरता दिखाई थी[2]। 'ताजुल् मआसिर' नाम की फ़ारसी तवारीख़ से पाया जाता है कि हिजरी सन् ५९३ के सफ़र (वि० सं० १२५३ पौष या माघ=ई० स० ११९६) महीने में क़ुतबुद्दीन ऐबक ने अणहिलवाड़े पर चढ़ाई की। उस समय आबू के नीचे (कायद्रां गांव के पास) बड़ी लड़ाई हुई, जिसमें धारावर्ष गुजरात की सेना के दो मुख्य सेनापतियों में से एक था। इस लड़ाई में गुजरात की सेना हारी, परंतु उसी जगह थोड़े ही समय पहले जो एक दूसरी लड़ाई हुई थी उसमें शहाबुद्दीन ग़ोरी घायल होकर भागा था[3]। उस लड़ाई में भी

---

(१) रोदःकंदरवर्त्तिकीर्त्तिलहरीलिप्तामतांशुद्युते-
रप्रद्युम्नवशो यशोधवल इत्यासीत्तनूजस्ततः।
यश्चौलुक्यकुमारपालनृपतिप्रत्यर्थितामागतं
मत्वा सत्वरमेष मालवपतिं बल्लालमालब्धवान् ॥ ३५ ॥

आबू पर के तेजपाल के मंदिर की वि० सं० १२८७ की प्रशस्ति (ए० इं; जि० ८, पृ० २१०-११)।

(२) वही प्रशस्ति; श्लोक ३६।

(३) इलियट्; हिस्ट्री आव् इंडिया; जि० २, पृ० २२९-३०।

धारावर्ष का लड़ना पाया जाता है। उसके समय गुजरात में कुमारपाल, अजय-पाल, मूलराज (दूसरा) और भीमदेव (दूसरा) ये चार सोलंकी राजा हुए। बालक राजा भीमदेव (दूसरे) के समय में उसके मंत्रियों तथा सरदारों ने उस-का राज्य धीरे-धीरे दबा लिया[1] और वे स्वतंत्र बन बैठे, तब धारावर्ष भी स्वतंत्र हो गया, परंतु जब गुजरात पर दक्षिण के यादव राजा सिंहण ने तथा दिल्ली के सुलतान शमशुद्दीन अल्तमश ने चढ़ाइयां कीं, उस विकट समय में धोलका के बघेल (सोलंकी) सामंत वीरधवल तथा उसके मंत्री पोरवाड़ (प्राग्वाट) महाजन वस्तुपाल और तेजपाल के आग्रह से मारवाड़ के अन्य राजाओं के साथ वह भी गुजरात के राजा की सहायता करने को फिर तैयार हो गया[2]। वह बड़ा वीर और पराक्रमी राजा था। पाटनारायण के मंदिर के वि०सं० १३४४ (ई० स० १२८७) के शिलालेख में लिखा है—'धारावर्ष एक बाण से तीन भैंसों को बींध डालता था[3]।' इस कथन की साक्षी आबू पर अचलेश्वर के मंदिर के बाहर मंदाकिनी नामक बड़े कुंड के तट पर धनुष सहित पत्थर की बनी हुई राजा धारावर्ष की खड़ी मूर्ति दे रही है, जिसके आगे पूरे क़द के तीन भैंसे पास-पास खड़े हुए हैं। उनमें से प्रत्येक के शरीर के आरपार समान रेखा में एक-एक छिद्र बना है। उसकी दो राणियां-शृंगा-रदेवी और गीगादेवी—नाडोल के चौहान राजा केल्हण की पुत्रियां थीं, जिनमें से गीगादेवी उसकी पटराणी थी। उसके राज्यकाल का एक दानपत्र और कई शिलालेख वि० सं० १२२० से १२७६[4] (ई० स० ११६३ से १२१६) तक के

---

(१) मन्त्रिभिर्माण्डलीकैश्च बलवद्भिः शनैः शनैः।
बालस्य भूमिपालस्य तस्य राज्यं व्यभज्यत ॥ ६१ ॥
कीर्तिकौमुदी; सर्ग २।

(२) ना० प्र० प०; भाग ३, पृ० १२३–२४, और पृ० १२४ के टिप्पण १, ३ और ४।

(३) एकबाणनिहतं त्रिलुलायं यं निरीक्ष्य कुरुयोधसदृक्षं।
पाटनारायण की प्रशस्ति; श्लो० १५ (मूललेख की छाप से)।

(४) धारावर्ष का वि० सं० १२२० ज्येष्ठ सुदि ५ का शिलालेख कायद्रा गांव

मिले हैं, जिनसे निश्चित है कि उसने कम से कम ५७ वर्ष तक राज्य किया था।

'पृथ्वीराज रासो' में लिखा है कि आबू के परमार राजा सलख की पुत्री इच्छनी से गुजरात के राजा भीमदेव (दूसरा, भोलाभीम) ने विवाह करना चाहा, परंतु यह बात सलख तथा उसके पुत्र जैतराव ने स्वीकार नहीं की और इच्छनी का संबंध चौहान पृथ्वीराज से कर दिया। इसपर क्रुद्ध होकर भीम ने आबू पर चढ़ाई करदी। युद्ध में सलख मारा गया। उसके पीछे पृथ्वीराज ने भीम को परास्त कर आबू का राज्य जैतराव को दिया और इच्छनी से विवाह कर लिया। यह सारी कथा कल्पित है, क्योंकि आबू पर सलख या जैतराव नाम का कोई परमार राजा हुआ ही नहीं। पृथ्वीराज ने वि० सं० १२३६ (ई० स० ११७६) से १२४६ (ई० स० ११६२) तक राज्य किया, और वि० सं० १२२० (ई० स० ११६३) से १२७६ (ई० स० १२१६) तक आबू का राजा धारावर्ष था, जिसके कई शिलालेख मिल चुके हैं।

धारावर्ष का छोटा भाई प्रह्लादनदेव (पालनसी) वीर एवं विद्वान् था। उसकी विद्वत्ता और वीरता की बहुत कुछ प्रशंसा प्रसिद्ध कवि सोमेश्वर ने अपनी रची हुई 'कीर्त्तिकौमुदी' नामक पुस्तक[1] तथा तेजपाल के बनवाये हुए लूणवसही की प्रशस्ति में की है। यह प्रशस्ति वि० सं० १२८७ में आबू पर देलवाड़ा गांव के नेमिनाथ के मंदिर में लगाई गई थी। मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा सामंतसिंह और गुजरात के सोलंकी राजा अजयपाल की लड़ाई में, जिसमें अजयपाल घायल हुआ, प्रह्लादन ने बड़ी वीरता से लड़कर गुजरात की रक्षा की थी[2]। प्रह्लादन का रचा हुआ 'पार्थपराक्रमव्यायोग[3]' (नाटक)

(सिरोही राज्य) से मिला है, जो राजपूताना म्यूज़िअम् (अजमेर) में सुरक्षित है और १२७६ का मकावल गांव (सिरोही राज्य) से थोड़ी दूर एक छोटे से तालाब की पाल पर खड़े हुए संगमरमर के अठपहलू स्तंभ पर खुदा है।

(१) श्रीप्रह्लादनदेवोभूद्द्वितयेन प्रसिद्धिमान्।
पुत्रत्वेन सरस्वत्याः पतित्वेन जयश्रियः ॥ २० ॥
कीर्तिकौमुदी; सर्ग १।

(२) ए० इं; जि० ८, पृ० २११, श्लोक सं० ३८।

(३) संस्कृत में नाटकों के मुख्य १० भेद माने गये हैं, जिनमें से एक 'व्यायोग'

भी मिल चुका है, जो उसकी लेखनी का उज्ज्वल रत्न है। उसने अपने नाम से प्रह्लादनपुर नगर बसाया, जो अब पालनपुर नाम से गुजरात में प्रसिद्ध है। उत्पलराज से लगाकर धारावर्ष तक के आबू के परमार राजाओं की शृंखलाबद्ध पूरी वंशावली उपर्युक्त आबू के किसी परमार राजा के ताम्रपत्र के पहले पत्रे में दी हुई है।

(१४) सोमसिंह (सं० १३ का पुत्र)—उसने अपने पिता से शस्त्रविद्या और चचा (प्रल्हादन) से शास्त्रविद्या पढ़ी थी[1]। उसके समय में मंत्री वस्तुपाल के छोटे भाई तेजपाल ने आबू पर देलवाड़ा गांव में लूणवसही नामक नेमिनाथ का मंदिर, जो आबू के सुंदर मंदिरों में दूसरा है[2], करोड़ों रुपये लगाकर अपने पुत्र लूणसिंह (लावण्यसिंह) तथा अपनी स्त्री अनुपमादेवी के श्रेय के लिए वि० सं० १२८७ (ई० स० १२३०) में बनवाया। उसकी पूजा आदि के लिए सोमसिंह ने बारठ परगने का डबाणी गांव उक्त मंदिर को भेंट किया[3]। उसी गांव से मिले हुए वि० सं० १२९६ (ई० स० १२३९) श्रावण सुदि ५ के शिलालेख में उक्त मंदिर तथा तेजपाल और उसकी स्त्री अनुपमादेवी के नामों का उल्लेख है। सोमसिंह के समय के तीन शिलालेख अब तक मिले हैं, जो वि० सं० १२८७ से १२९३ (ई० स० १२३० से १२३६) तक के हैं[4]।

कहलाता है। व्यायोग किसी प्रसिद्ध घटना का प्रदर्शक होता है, जिसमें युद्ध का प्रसंग अवश्य रहता है, परंतु वह स्त्री के निमित्त न हो। उसमें एक ही अंक, धीरोद्धत वीर पुरुष नायक, पात्रों में पुरुष अधिक और स्त्रियां कम और मुख्य रस वीर तथा रौद्र होते हैं। 'पार्थपराक्रमव्यायोग' 'गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज़' में छप चुका है।

(१) धारावर्षसुतोऽयं जयति श्रीसोमसिंहदेवो यः।
पितृतः शौर्यं विद्यां पितृव्यकाद्दानमुभयतो जगृहे ॥ ४० ॥

ए० इं; जि० ८, पृ० २११।

(२) उक्त मंदिर की सुंदरता आदि के लिए देखो ऊपर पृ० २७।

(३) ए० इं; जि० ८, पृ० २२२, पंक्ति ३१।

(४) वि० सं० १२८७ की दो प्रशस्तियां आबू पर वस्तुपाल के मंदिर में लगी हुई हैं (ए० इं; जि० ८, पृ० २०८-२२) और वि० सं० १२९३ का शिलालेख देवखेत्र (देवक्षेत्र, सिरोही राज्य) के मंदिर में लगा हुआ (अप्रकाशित) है।

वह गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव (दूसरे) का सामंत था। उसने जीतेजी अपने पुत्र कृष्णराज (कान्हड़देव) को युवराज बना दिया था और उसके हाथ खर्च के लिए नाणा गांव (जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ इलाक़े में) दिया था।

(१५) कृष्णराज-तीसरा (सं० १४ का पुत्र)—उसको कान्हड़देव भी कहते थे।

(१६) प्रतापसिंह[1] (सं० १५ का पुत्र)—उसके विषय में पाटनारायण के मंदिर के वि० सं० १३४४ के शिलालेख में लिखा है—"उसने जैत्रकर्ण को परास्त कर दूसरे वंश में गई हुई चंद्रावती का उद्धार किया अर्थात् दूसरे वंश के राजा जैत्रकर्ण ने चंद्रावती ले ली थी, उसको परास्त कर वहां पर उसने परमारों का राज्य पीछा जमाया।" जैत्रकर्ण शायद मेवाड़ का राजा जैत्रसिंह हो। प्रतापसिंह का मंत्री ब्राह्मण देल्हण था, जिसने वि० सं० १३४४ में पाटनारायण के मंदिर का जीर्णोद्धार करवाकर उसपर ध्वजा-दंड चढ़ाया।

(१७) विक्रमसिंह (सं० १६ का उत्तराधिकारी)—उसके समय का एक शिलालेख वि० सं० १३५६ (ई० स० १२९९) का वर्माण गांव (सिरोही राज्य) के ब्रह्माणस्वामी नाम के सूर्यमंदिर के एक स्तंभ पर खुदा है, जिसमें उसका खिताब 'महाराजकुल' (महारावल) लिखा है।

---

(१) सिरोही राज्य के काळागरा नामक गांव से एक शिलालेख वि० सं० १३०० का मिला है, जिसमें चंद्रावती के महाराजाधिराज आल्हणसिंह का नाम है। वह किस वंश का था इस संबंध का उक्त लेख में कुछ भी उल्लेख नहीं है। पाटनारायण के मंदिर के वि० सं० १३४४ के शिलालेख में कृष्णराज के पीछे प्रतापसिंह का नाम है, आल्हणसिंह का नहीं; ऐसी दशा में संभव है कि आल्हणसिंह कृष्णराज का ज्येष्ठ पुत्र हो और उस(आल्हणसिंह)के पीछे प्रतापसिंह राजा हुआ हो। शिलालेखों में ऐसे उदाहरण कभी-कभी मिल जाते हैं कि एक भाई के पीछे दूसरा भाई राजा हुआ हो तो वह (दूसरा) अपने बड़े भाई का नाम छोड़ अपने पिता के पीछे अपना नाम लिखाता है, परंतु जब तक अन्य लेखों से हमारे इस अनुमान की पुष्टि न हो तब तक हम आल्हणसिंह को आबू के परमारों की वंशावली में स्थान देना उचित नहीं समझते।

आबू पर तेजपाल के मंदिर की वि० सं० १२८७ (ई० स० १२३०) की दूसरी प्रशस्ति में आबू के परमार राजा सोमसिंह को भी राजकुल (रावल) लिखा है, जिससे अनुमान होता है कि जैसे मेवाड़ के राजाओं ने पीछे से राजकुल (रावल) और महाराजकुल (महारावल) ख़िताब धारण किये वैसे ही आबू के परमारों ने भी किया था। विक्रमसिंह के समय जालोर के चौहानों ने आबू के परमार राज्य का पश्चिमी अंश दबा लिया और उसके अंतिम समय में, अथवा उसके पुत्र या वंशज से वि० सं० १३६८ (ई० स० १३११) के आसपास राव लुंभा ने आबू तथा उसकी राजधानी चंद्रावती छीनकर आबू के परमार राज्य की समाप्ति की और वहां चौहानों का राज्य स्थापित किया।

आबू के परमारों के वंशधर दांता (आबू के निकट) के परमार हैं। उनका जो इतिहास गुजराती 'हिंदराजस्थान' में छपा है उससे पाया जाता है कि उसके संग्रह करनेवाले को परमारों के प्राचीन इतिहास का कुछ भी ज्ञान न था, जिससे 'प्रबंधचिंतामणि' आदि में मालवे के परमारों का जो कुछ इतिहास मिला उसे संग्रह कर दांता के परमारों को मालवे के परमारों का वंशधर लिख दिया। फिर मुंज, सिंधुल और प्रसिद्ध राजा भोज के पीछे क्रमशः उदयकरण (उदयादित्य), देवकरण, खेमकरण, संताण, समरराज और शालिवाहन के नाम दिये हैं। उसी शालिवाहन का वि० सं० १३५ (ई० स० ७८) में होना और शक संवत् चलाना भी लिखा है। यह सब इतिहास के अंधकार में बहुधा कल्पित वृत्तान्त लिख मारा है। दांता के परमार आबू के राजा कृष्णराज (कान्हड़देव) दूसरे के वंशधर होने चाहियें।

आबू के परमारों का वंशवृक्ष

(धूमराज के वंश में)

१–उत्पलराज
|
२–आरण्यराज
|
३–कृष्णराज
|
४–धरणीवराह
|
५–महीपाल (धूर्भट, ध्रुवभट और देवराज)
वि० सं० १०५९
|
६–धंधुक

- ७—पूर्णपाल
  वि० सं० १०९९–११०२
- ८—दंतिवर्मा
  |
  योगराज
  |
  रामदेव
  |
  १२–यशोधवल
  वि० सं० १२०२–७
  - १३–धारावर्ष
    वि० सं० १२२०–७६
    |
    १४–सोमसिंह
    वि० सं० १२८७–९३
    |
    १५–कृष्णराज (तीसरा)
    |
    १६–प्रतापसिंह वि० सं० १३४४
    |
    १७–विक्रमसिंह (दूसरा) वि० सं० १३५६
  - प्रल्हादन
- ९—कृष्णदेव (कृष्णराज दूसरा)
  वि० सं० १११७–२३
  |
  १०–काकलदेव
  |
  ११–विक्रमसिंह
  वि० सं० १२०१ (?)
  रणसिंह
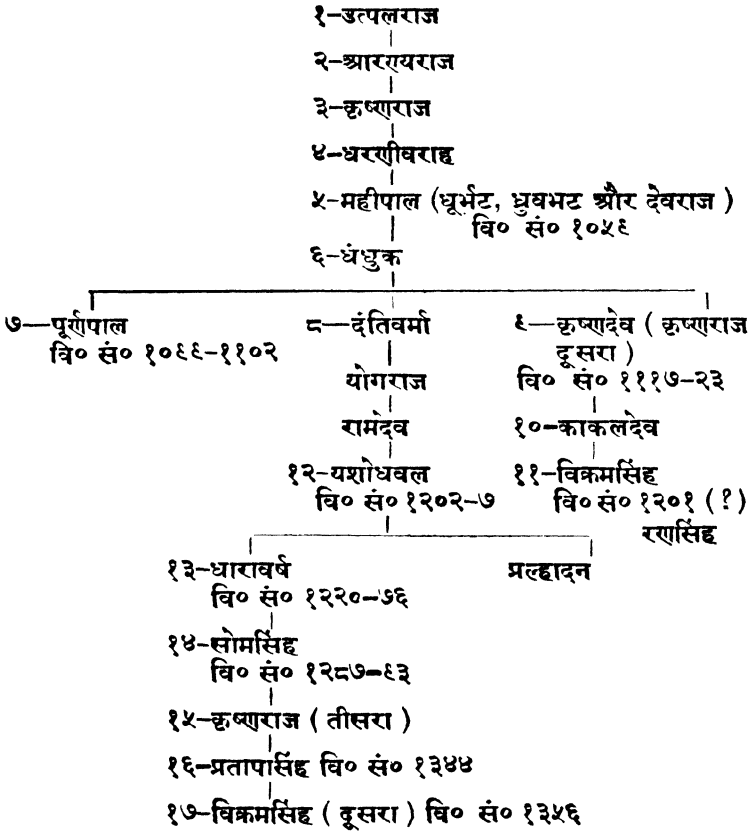
जालोर (जोधपुर राज्य) से परमारों का एक शिलालेख वि० सं० ११४४ (ई० स० १०८७) का मिला है, जिसमें वहां के परमारों के क्रमशः ये सात नाम मिलते हैं—

जालोर के परमार

(१) वाक्पतिराज, (२) चंदन, (३) देवराज, (४) अपराजित, (५) विज्जल, (६) धारावर्ष और (७) वीसल। वीसल की राणी मेलरदेवी ने सिंधुराजेश्वर के मंदिर पर उक्त संवत् में सुवर्ण का कलश चढ़वाया। ये राजा आबू के परमारों की छोटी शाखा में होने चाहियें। यह शाखा आबू के कौन से राजा से निकली इसका कुछ भी हाल अब तक मालूम नहीं हुआ, परंतु जालोर का वाक्पतिराज आबू के महीपाल (ध्रुवभट) का समकालीन प्रतीत होता है, ऐसी दशा में जालोर की शाखावाले आबू के परमार धरणीवराह के वंशज रहे हों तो आश्चर्य नहीं।

किराडू (जोधपुर राज्य) के शिवालय के एक स्तंभ पर वहां के परमारों का एक लेख है, जो वि० सं० १२१८ आश्विन सुदि १ (ई० स० ११६१ ता० २२ सितम्बर) का है। उसका एक तिहाई अंश नष्ट हो गया है तो भी जो कुछ रक्षित है, उसमें राजा कृष्णराज के वंशधरों के नीचे लिखे हुए नाम मिलते हैं—

किराडू के परमार

(१) सोच्छराज (कृष्णराज का पुत्र)।

(२) उदयराज (सं० १ का पुत्र)—यह गुजरात के सोलंकी राजा जयसिंह (सिद्धराज) का सामंत था और उसके लिए चोड, गौड, कर्णाट और मालवे में लड़ाइयां लड़ा था।

(३) सोमेश्वर (सं० २ का पुत्र)—यह प्रारंभ में जयसिंह (सिद्धराज) का सामंत और कृपापात्र था। उसने जयसिंह की कृपा से सिंधुराजपुर के राज्य को, जो पहले छूट गया था, फिर से प्राप्तकर कुमारपाल (सिद्धराज जयसिंह का उत्तराधिकारी) की कृपा से उसे सुदृढ़ किया और किराडू में बहुत समय तक वह राज्य करता रहा। वि० सं० १२१८ (ई० स० ११६१) आश्विन सुदि १ गुरुवार को उसने राजा जज्जक से १७०० घोड़े दंड में लिये और उसके दो क़िले तणुकोट्ट (तंनौट, जैसलमेर राज्य) और नवसर

(नौसर, जोधपुर राज्य) भी छीन लिये। अंत में जज्जक को चौलुक्य (सोलंकी) राजा (कुमारपाल) के अधीन कर वे क़िले आदि उसको पीछे दे दिये', जिसकी यादगार में किराडू का वह लेख खुदवाया गया था।

आबू के परमारों की ऊपर लिखी हुई शाखाओं के अतिरिक्त जोधपुर राज्य में कहीं-कहीं और भी परमारों के लेख मिलते हैं, परंतु उनमें वंशावली न होने से हमने उन्हें यहां स्थान नहीं दिया।

मालवे के परमारों के शिलालेखों तथा 'नवसाहसांकचरित' आदि पुस्तकों में उनका उत्पत्ति-स्थान आबू पर्वत बतलाया है, जिससे अनुमान होता है कि वे आबू से उधर गये हों। मालवेके परमारों के अधीन राजपूताने के कोटा राज्य का दक्षिणी विभाग, झालावाड़ राज्य, वागड़ तथा प्रतापगढ़ राज्य का पूर्वी विभाग होना पाया जाता है। उनकी मूल राजधानी धारानगरी थी, फिर उज्जैन हुई और भोज के समय पीछी धारानगरी में राजधानी स्थापित की गई। उनकी नामावली नीचे लिखे अनुसार मिलती है—

मालवेके परमार

---

(१) प्रसादाज्जयसिंहस्य सिद्धराजस्य भूभुजः ॥ १९ ॥
··············सिंधुराजपुरोद्भवं ।
भूयो निर्व्याजशौर्येण राज्यमेतत्समुद्धृतं ॥ २० ॥
···। कुमारपालभूपालात् सुप्रतिष्ठमिदं कृतं ॥ २१ ॥
किरातकूटमात्मीयं············समन्वितं ।
निजेन क्षात्रधर्मेण पालयामास यश्चिरं ॥ २२ ॥
अष्टादशाधिके चास्मिन् शतद्वादशकेश्विने ।
प्रतिपद्गुरुसंयोगे सार्द्धयामे गते दिने ॥ २३ ॥
दंडं सप्तदशशतमश्वानां नृपजज्जकात् ।···॥२४॥
तणुकोट्टं नवसरो दुर्गौ सोमेश्वरोगृहीत् ।···॥ २५ ॥
बहुशः सेवकीकृत्य चौलुक्यजगतीपतेः ।
पुनः संस्थापयामास तेषु देशेषु जज्जकं ॥ २६ ॥
किराडू का शिलालेख। (मूल लेख की छाप से)

(१) कृष्णराज—उसका दूसरा नाम उपेंद्र मिलता है। उदयपुर की प्रशस्ति में लिखा है कि उसने कई यज्ञ किये और अपने ही पराक्रम से बड़ा राजा होने का सम्मान प्राप्त किया[१]। 'नवसाहसांकचरित' में लिखा है—'उसका यश जो सीता के आनन्द का हेतु था, हनुमान की नांई समुद्र को उल्लंघन कर गया[२]।' इसका अभिप्राय यही होना चाहिये कि सीता नाम की विदुषी और कवित्वशालिनी स्त्री ने उसके यश का कोई ग्रंथ लिखा हो। सीता नाम की विदुषी स्त्री का 'प्रबंधचिंतामणि' और 'भोजप्रबंध' में भोज के समय में होना लिखा है, परंतु उसका कृष्णराज के समय में होना विशेष संभव है। कृष्णराज के दो पुत्र—वैरिसिंह और डंबरसिंह—थे, जिनमें से वैरिसिंह उसका उत्तराधिकारी हुआ और डंबरसिंह को वागड़ (डूंगरपुर और बांसवाड़ा राज्य) का इलाक़ा जागीर में मिला।

(२) वैरिसिंह (सं० १ का पुत्र)।

(३) सीयक (सं० २ का पुत्र)।

(४) वाक्पतिराज (सं० ३ का पुत्र)—उसके विषय में उदयपुर (ग्वालियर राज्य) के शिलालेख में लिखा है कि उसके घोड़े गंगासमुद्र (गंगासागर या गंगा और समुद्र) का जल पीते थे, अर्थात् वहां तक उसने धावा किया होगा।

(५) वैरिसिंह (दूसरा, सं० ४ का पुत्र)—उसको वज्रटस्वामी भी कहते थे। उसने अपनी तलवार की धारा (धार) से शत्रुओं को मारकर धारा (धारानगरी) का नाम सार्थक कर दिया।

(६) श्रीहर्ष (सं० ५ का पुत्र)—उसको सीयक (दूसरा) और सिंहभट भी कहते थे। प्रारंभ में कुछ समय तक वह दक्षिण के राठोड़ राजा

---

(१) ए. इं; जि० १, पृ० २३४।

(२) उपेन्द्र इति सञ्जज्ञे राजा सूर्येन्दुसन्निभः ॥ ७६ ॥

सदागतिप्रवृत्तेन सीतोच्छ्वसितहेतुना ।

हनूमतेव यशसा यस्यालङ्घ्यत सागरः ॥ ७७ ॥

नवसाहसांकचरित; सर्ग ११।

कृष्णराज (तीसरे, अकालवर्ष) का सामंत भी रहा, परंतु पीछे से स्वतन्त्र होगया था। उसने कृष्णराज के उत्तराधिकारी खोट्टिग (खोट्टिगदेव) पर चढ़ाई की। नर्मदातट पर खलिघट्ट में लड़ाई हुई, जिसमें राठोड़ों की हार हुई। इस लड़ाई में वागड़ का स्वामी परमार कंकदेव, जो श्रीहर्ष का कुटुंबी था, हाथी पर चढ़कर लड़ता हुआ मारा गया[1]। फिर उस(श्रीहर्ष)ने आगे बढ़कर वि० सं० १०२६ (ई० स० ९७२) में दक्षिण के राठोड़ों की राजधानी मान्यखेट (मालखेड़, निज़ाम राज्य) नगर को लूटा[2]। उसने हूणों

---

(१) श्रीहर्षदेव इति खोट्टिगदेवलक्ष्मीं जग्राह यो युधि नगादसमप्रतापः॥

उदयपुर की प्रशस्ति (ए. इं; जि० १, पृ० २३५)।

तस्यान्वये करिकरोद्धुरवा(बा)हुदण्डः
श्रीकंकदेव इति लब्ध(ब्ध)जयो व(ब)भूव।...॥
आरूढो गजपृष्ठमद्भुतस(श)रासारैं रणे सर्व्वतः
कर्णाटाधिपतेर्व्व(र्ब्ब)लं विदलयंस्तन्नर्म्मदायास्तटे।
श्रीश्रीहर्षनृपस्य मालवपतेः कृत्वा तथारिक्षयं
यः स्वर्गं सुभटो ययौ सुरवधूनेत्रोत्पलैरर्च्चितः॥

अर्थूणा (बांसवाड़ा राज्य) के मंडलेश्वर के मंदिर की वि० सं० ११३६ की प्रशस्ति की छाप से।

चच्चनामाभवत्तस्माद्भ्रातृसूनुर्महानृपः।
रणे..........................॥ २८॥
..............................ख्यया
विख्यातः करवालघातदलितद्विट्कुंभिकुंभस्थलः।
यः श्रीखोट्टिकदेवदत्तसमरः श्रीसीयकार्थे कृती
रेवायाः खलि[घट्ट]नामनि तटे युध्वा प्रतस्थे दिवं॥ २६॥

पाणाहेड़ा (बांसवाड़ा राज्य) के मंडलेश्वर के मन्दिर की वि० सं० १११६ की प्रशस्ति की छाप से।

(२) विक्कमकालस्स गए अउणत्तीसुत्तरे सहस्सम्मि (१०२६)।
मालवनरिंदधाडीए लूडिए मन्नखेडम्मि॥

पाइअलच्छीनाममाला, श्लो० १६८।

को भी जीता था। वि० सं० १०२६ में उसके राज्य में रहते समय धनपाल कवि ने अपनी विदुषी बहिन सुंदरी के लिए 'पाइअलच्छीनाममाला' नामक प्राकृत कोष बनाया। श्रीहर्ष का एक दानपत्र वि० सं० १००५ माघ वदि अमावास्या (ई० स० ९४९ ता० २ जनवरी) का मिला है[1]। उसके दो पुत्र मुंज और सिंधुराज (सिंधुल) थे, जिनमें से मुंज उसका उत्तराधिकारी हुआ।

(७) मुंज (सं० ६ का पुत्र)—उसके बिरुद वाक्पतिराज, अमोघवर्ष, उत्पलराज, पृथिवीवल्लभ और श्रीवल्लभ मिलते हैं। उसने कर्णाट, लाट, केरल और चोल के राजाओं को अधीन किया[2]; चेदि देश के कलचुरी (हैहय)वंशी राजा युवराजदेव (दूसरे) को जीतकर उसके सेनापतियों को मारा और उस(युवराजदेव)की राजधानी त्रिपुरी पर तलवार उठाई (अर्थात् उसको लूटा); ऐसे ही [राजा शक्तिकुमार के समय] मेवाड़ पर चढ़ाई कर आघाटपुर (आहाड़) को तोड़ा[4] और चित्तोड़गढ़ तथा मालवे से मिला हुआ उक्त गढ़ के निकट का प्रदेश अपने राज्य में मिला लिया[5]। कर्णाटदेश के चालुक्य (सोलंकी) राजा तैलप पर चढ़ाई की, परंतु उसमें वह क़ैद हुआ और कुछ समय बाद वहीं मारा गया[6]।

मेरुतुंग ने अपनी 'प्रबंधचिन्तामणि' में लिखा है—"आज्ञा के विरुद्ध चलने के कारण मुंज ने अपने भाई सिंधुल को राज्य से निकाल दिया

---

(१) पुरातत्व (गुजराती); वि० सं० १९७९–८०, पृ० ४४–४९।

(२) ए. इं; जि० १, पृ० २२७।

(३) युवराजं विजित्याजौ हत्वा तद्वाहिनीपतीन्।
खड्गमूर्द्धीकृतं येन त्रिपुर्यां विजिगीषुणा ॥

उदयपुर की प्रशस्ति (ए. इं; जि० १, पृ० २३५)।

(४) भंक्त्वाघाटं घटाभिः प्रकटमिव मदं मेदपाटे भटानां
जन्ये राजन्यजन्ये जनयति जनताजं रणं मुंजराजे।

ए. इं; जि० १०, पृ० २०।

(५) ना० प्र० प०; भा० ३, पृ० ५।

(६) सोलंकियों का प्राचीन इतिहास; प्रथम भाग, पृ० ७५–७७।

तब वह गुजरात के कासह्रद नामक स्थान में जा रहा। कुछ समय पीछे वह मालवे में लौटा तो मुंज ने उसकी आंखें निकलवाकर पिंजरे में क़ैद कर दिया और उसके पुत्र भोज को मारने की आज्ञा दी इत्यादि[1]।" यह कथा इतिहास के अभाव में कल्पित खड़ी की गई है, क्योंकि मुंज और सिंधुराज के समय जीवित रहनेवाले पद्मगुप्त (परिमल) रचित 'नवसाहसांकचरित' और धनपालरचित 'तिलकमंजरी' नामक पुस्तकों से पाया जाता है कि मुंज को अपने भतीजे भोज पर बड़ी प्रीति थी और उसके योग्य होने से ही मुंज ने उसको अपने राज्य पर अभिषिक्त कर दिया था[2] अर्थात् गोद ले लिया था, और जब वह (मुंज) तैलप से लड़ने को गया उस समय राज्य का प्रबंध अपने भाई सिंधुराज को सौंप गया था। मुंज उस लड़ाई के पीछे मारा गया और उस समय भोज के बालक होने से ही उसका पिता सिंधुराज राजा हुआ था।

मुंज स्वयं अच्छा विद्वान् और विद्वानों का आश्रयदाता था। उसके दरबार में धनपाल, 'नवसाहसांकचरित' का कर्त्ता पद्मगुप्त (परिमल), 'दशरूपक' का कर्ता धनंजय, दशरूपक पर 'दशरूपावलोक' नामक टीका लिखनेवाला धनिक (धनंजय का भाई), 'पिंगलछंदसूत्र' पर 'मृतसंजीवनी' टीका का कर्त्ता हलायुध और 'सुभाषितरत्नसंदोह' का कर्त्ता अमितगति आदि प्रसिद्ध विद्वान् थे। मुंज का बनाया हुआ कोई ग्रंथ अब तक नहीं मिला, परंतु सुभाषित के संग्रह ग्रंथों में उसके बनाये हुए श्लोक मिलते हैं।

मुंज के समय के दो दानपत्र वि० सं० १०३१ और १०३६ (ई० स०

(१) प्रबंधचिंतामणि; पृ० ४४-४८।

(२) तस्याजायत मांसलायतभुजः श्रीभोज इत्यात्मजः।
प्रीत्या योग्य इति प्रतापवसतिः ख्यातेन मुञ्जाख्यया
यः स्वे वाक्पतिराजभूमिपतिना राज्येऽभिषिक्तः स्वयं॥ ४३॥

तिलकमंजरी।

९७४ और ९७९) के मिले हैं[1] । वि० सं० १०५० में[2] अमितगति ने 'सुभाषितरत्नसंदोह' की रचना की उस समय वह शासन कर रहा था और वि० सं० १०५० और १०५४ (ई० स० ९९३ और ९९७) के बीच तैलप के यहां मारा गया[3] । उसके प्रधान मंत्री का नाम रुद्रादित्य था ।

(८) सिंधुराज (संख्या ७ का छोटा भाई)—उसको सिंधुल भी कहते थे । उसके बिरुद कुमारनारायण और नवसाहसांक थे । मुंज ने अपने जीतेजी भोज को गोद ले लिया, परंतु उस(मुंज)के मारे जाने के समय वह बालक था इसलिए सिंधुराज गद्दी पर बैठा था । उसने हूण[4], कोसल (दक्षिणकोसल), वागड़, लाट और मुरलवालों को जीता[5] तथा इस नवीन साहस के कारण ही उसने 'नवसाहसांक' पदवी धारण की होगी । पद्मगुप्त (परिमल) कवि ने उसके समय में उसके चरित का 'नवसाहसांक' काव्य लिखा, परंतु उसमें ऐतिहासिक बातें बहुत कम हैं । उक्त काव्य के अनुसार उसके मंत्री का नाम रमांगद था । सिंधुराज ने नागकन्या (नागवंश की राजकुमारी) शशिप्रभा के साथ विवाह किया था । सिंधुराज वि० सं० १०६६ (ई० स० १००९) से कुछ ही पूर्व गुजरात के चौलुक्य (सोलंकी) राजा चामुंडराज के साथ की लड़ाई में मारा गया[6] ।

(१) वि० सं० १०३१ का दानपत्र; इं. ऐं; जि० ६, पृ० ५१–५२; और १०३६ का इं. ऐं; जि० १४, पृ० १६० ।

(२) समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे
सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पंचाशदधिके (१०५०) ।
समाप्ते पंचम्यामवति धरणिं मुंजनृपतौ
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघं ॥ ९२२ ॥

अमितगति; सुभाषितरत्नसंदोह ।

(३) सोलंकियों का प्राचीन इतिहास; प्रथम भाग, पृ० ७७ ।

(४) ए. इं; जि० १, पृ० २२८ ।

(५) नवसाहसांकचरित; सर्ग १०, श्लो० १५–१९ ।

(६) ना० प्र० प०; भाग १, पृ० १२१–२४ ।

(६) भोज (सं० ८ का पुत्र)—उसका बिरुद त्रिभुवननारायण मिलता है। वह बड़ा दानी, विद्वान् और रणरसिक था। उदयपुर (ग्वालियर राज्य) के शिलालेख से पाया जाता है—"उसने कैलाश से लगाकर मलय पर्वत (दक्षिण) तक के देशों पर राज्य किया[1] (इसमें अतिशयोक्ति का होना संभव है), तथा चेदीश्वर (चेदि देश का राजा), इंद्ररथ, तोग्गल, भीम आदि को एवं कर्णाट, लाट और गुर्जर (गुजरात) के राजाओं तथा तुरुष्कों (मुसलमानों) को जीता। उसके काम, दान और ज्ञान की समानता कोई नहीं कर सकता था। वह कविराज (कवियों में राजा के समान) कहलाता था, उसने केदार, रामेश्वर, सोमनाथ, सुंडीर (?), काल (महाकाल), अनल और रुद्र के मंदिर बनवाये थे[2]।" उसके देहांत-समय धारा नगरी पर शत्रुरूपी अंधकार छा गया था। ऊपर लिखे हुए राजाओं में से चेदीश्वर अर्थात् चेदि देश का हैहय (कलचुरि) वंशी राजा गांगेयदेव था, जिसके भोज से परास्त होने का उल्लेख मिलता है। इंद्ररथ और तोग्गल कहां के राजा थे यह अब तक ज्ञात नहीं। 'प्रबंधचिन्तामणि' के अनुसार भीम गुजरात का सोलंकी राजा भीमदेव (प्रथम) था, जिसके समय भोज के सेनापति कुलचंद्र ने गुजरात पर चढ़ाई कर विजय प्राप्त की[3]; दक्षिण के सोलंकी तैलप ने मुंज को मारा, जिसका बदला सिंधुराज न ले सका, परंतु भोज ने तैलप के पौत्र जयसिंह पर चढ़ाई कर उसको पराजित किया।

---

(१) ए. इं; जि० १, पृ० २३५, श्लो० १७।

(२) चेदीश्वरेंद्ररथ[तोग्ग]ल[भीममु]ख्या—
न्कर्णाटलाटपतिगूर्जरराट्तुरुष्कान्।
यद्भृत्यमात्रविजितानवलो[क्य] मौला
दोष्णां व(ब)लानि कलयंति न [योद्धृ]लो[कान्]॥
केदाररामेस्व(श्व)रसोमनाथ[सुं]डीरकालानलरुद्रसत्कैः।
सुराश्र[यै]र्व्याप्य च यः समन्ताद्यथार्थसंज्ञां जगतीं चकार॥

ए. इं; जि० १, पृ० २३५-३६।

(३) प्रबंधचिंतामणि; पृ० ८०।

सोलंकियों के शिलालेखों में जयसिंह को भोजरूपी कमल के लिए चंद्रमा के समान बतलाया है[1], परंतु भोज के वंशज उदयादित्य के समय के उदयपुर (ग्वालियर राज्य) के शिलालेख में भोज को कर्णाटक के राजा (सोलंकी जयसिंह) को जीतनेवाला लिखा है। बांसवाड़े से मिले हुए राजा भोज के वि० सं० १०७६ (ई० स० १०२०) माघ सुदि ५ के दानपत्र में कौंकण विजयपर्वणि (कौंकण जीतने के उत्सव) पर घाघ्रदोर (? व्याघ्र-दोर, वागीडोरा, बांसवाड़ा राज्य) भोग (विभाग) के वटपद्रक (बड़ौ-दिया) गांव में, छींछा (चींच, बांसवाड़ा राज्य) स्थान (गांव) के रहने-वाले भाइल ब्राह्मण को १०० निवर्त्तन (भूमि का नाप, बीघा) भूमि दान करने का उल्लेख है[2]। इससे स्पष्ट है कि सोलंकी जयसिंह पर की चढ़ाई में भोज ने विजयी होकर मुंज के मारे जाने का बदला लिया था। अवंती के राजा भोज ने सांभर के चौहान राजा वीर्यराम को मारा, जिसका उल्लेख 'पृथ्वीराजविजयमहाकाव्य' में है[3]। भोज के अंतिम समय में गुजरात के सो-लंकी राजा भीमदेव (प्रथम) और चेदि के राजा कर्ण ने, जो गांगेयदेव का पुत्र था, धारानगरी पर चढ़ाई की उसी समय भोज का देहांत हुआ और उसके राज्य में अव्यवस्था हो गई।

राजा भोज प्रसिद्ध विद्वान् था। उसने अलंकार शास्त्र पर 'सरस्वती-कंठाभरण', योगशास्त्र पर 'राजमार्तंड', ज्योतिष के विषय में 'राजमृगांक' और 'विद्वज्जनमंडन', शिल्प का 'समरांगण' ऐसे ही एक व्याकरण का ग्रंथ तथा 'शृंगारमंजरीकथा' आदि कई ग्रंथ संस्कृत में लिखे। उसके बनाये हुए

---

(१) सोलंकियों का प्राचीन इतिहास; प्रथम भाग, पृ० ८६।

(२) ए. इं; जि० ११, पृ० १८२–८३।

(३) वीर्यरामसुतस्तस्य वीर्येण स्यात्स्मरोपमः।
यदि प्रसन्नया दृष्ट्या न दृश्यते पिनाकिना ॥ ६५ ॥
अगम्यो यो नरेन्द्राणां सुधादीधितिसुन्दरः।
जघ्ने यशश्चयो यश्च भोजेनावन्तिभूभुजा ॥ ६७ ॥
पृथ्वीराजविजय; सर्ग ५।

'कूर्मशतक' नामक दो प्राकृत काव्य भी शिलाओं पर खुदे मिले हैं। धारा-नगरी में 'सरस्वतीकंठाभरण' (सरस्वतीसदन) नामक पाठशाला बनवाई थी, जिसमें कूर्मशतक, भर्तृहरि की कारिका आदि कई पुस्तकें शिलाओं पर खुदवाकर रक्खी गई थीं। भोज के पीछे भी उदयादित्य, अर्जुनवर्मा आदि ने कई पुस्तकों को शिलाओं पर खुदवाकर वहां रखवाया; परंतु फिर वहां मुसलमानों ने अपने शासन-काल में उक्त विद्यामंदिर को तोड़कर उसके स्थान में मसजिद बनवा दी, जो अब 'कमला-मौला' नाम से प्रसिद्ध है, और उसके अन्दर की पुस्तकादि खुदी हुई शिलाओं में से अनेक के अक्षर टांकियों से तोड़कर उनको फर्श में जड़ दिया है और कितनी एक को उलटी लगा दीं, जो अब वहां से निकाल ली गई हैं। उनमें से 'कूर्मशतक' काव्य और 'पारिजातमंजरी' नाटिकावाली शिलाएं प्रसिद्धि में आ चुकी हैं[1]।

राजा भोज स्वयं विद्वान् और विद्वानों का गुणग्राहक था। विद्वानों को एक एक श्लोक की रचना पर लाख लाख रुपये देने की उसकी ख्याति अब तक चली आती है। भोजप्रबंध के कर्त्ता बल्लाल पंडित तथा प्रबंध-चिंतामणि के कर्त्ता मेरुतुंग ने कालिदास, वररुचि, सुबंधु, बाण, अमर, राजशेखर, माघ, धनपाल, सीता पंडिता, मयूर, मानतुंग आदि अनेक विद्वानों का भोज की सभा में रहना तथा सम्मान पाना लिखा है, परंतु उनमें से कुछ तो भोज से बहुत पहले हुए थे इसलिए उनकी नामावली विश्वास योग्य नहीं है। धनपाल भोज के समय जीवित था और उसी के समय उसने तिलकमंजरी कथा की रचना की थी। आनन्दपुर (गुजरात) के रहनेवाले वज्रट के पुत्र ऊवट ने भोज के समय यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता पर भाष्य बनाया था।

ऊपर लिखी हुई सरस्वतीकण्ठाभरण पाठशाला के अतिरिक्त भोज ने चित्तोड़ के क़िले में, जहां वह कभी कभी रहता था, त्रिभुवननारायण का

---

(१) कूर्मशतककाव्य; ए. इं; जि० ८, पृ० २४३-६०, और पारिजातमंजरी; ए. इं; जि० ८, पृ० १०१-२२ में छप चुकी है।

विशाल शिवमंदिर बनवाया[1], जिसका जीर्णोद्धार महाराणा मोकल ने वि० सं० १४८५ (ई० स० १४२८) में कराया था। इस समय उस मंदिर को अदबदजी (अद्भुतजी) का मंदिर और मोकलजी का मंदिर भी कहते हैं। कल्हण की राजतरंगिणी में लिखा है कि पद्मराज नामक पान बेचनेवाले ने, जो कश्मीर के राजा अनंतदेव का प्रीतिपात्र था, मालवे के राजा भोज के भेजे हुए सुवर्ण से कपटेश्वर (कोटेर, कश्मीर) में एक कुंड बनवाया और राजा भोज ने यह नियम किया कि मैं अपना मुंह सदा 'पापसूदन' तीर्थ (कपटेश्वर के कुंड) के जल से धोऊंगा। इसलिए पद्मराज ने उस कुंड के जल से भरे हुए अनेक काच के कलश बराबर पहुंचाते रहकर भोज के उस कठिन प्रण को पूरा किया[2]। भोजपुर (भोपाल) की बड़ी विशाल झील भी, जिसको मालवे (मांडू) के सुलतान हुशंगशाह ने तुड़वाया, भोज की बनाई हुई मानी जाती है[3]।

भोज के समय के चार दानपत्र अब तक मिले हैं, जिनमें से पहला बांसवाड़े से वि० सं० १०७६ (ई० स० १०१६) का[4], दूसरा बेटमा (इन्दौर राज्य) गांव से वि० सं० १०७६ (ई० स० १०१६) का[5], तीसरा उज्जैन से वि० सं० १०७८ (ई० स० १०२१) का[6] और चौथा देपालपुर (इन्दौर राज्य) से वि० सं० १०७९ (ई० स० १०२२) का है[7]। इनके अतिरिक्त ब्रिटिश म्यूज़ियम (लन्दन) में रक्खी हुई सरस्वती की मूर्ति के नीचे वि० सं० १०९१ (ई० स० १०३४) का भोज के समय का लेख भी खुदा हुआ है। शाक सं० ९६४ (वि० सं० १०९९) में भोज ने 'राजमृगांककरण'[8] लिखा

(१) ना० प्र० प०; भाग ३, पृ० १–१८।

(२) कल्हण; राजतरंगिणी; तरंग ७, श्लोक १९०–९३।

(३) इं. ऐं; जि० १७, पृ० ३५०–५२; और उसका नक्शा पृ० ३४८ के पास।

(४) एपिग्राफिया इंडिका; जिल्द ११, पृ० १८२–८३।

(५) वही; जि० १८, पृ० ३२२।

(६) इंडियन ऐंटिक्वेरी; जि० ६, पृ० ५३।

(७) इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली; जि० ८, पृ० ३११–१३।

(८) ए. इं. जि० १, पृ० २३२–३३।

और उसके उत्तराधिकारी (पुत्र) जयसिंह का पहला लेख (दानपत्र) वि० सं० १११२ (ई० स० १०५५) का है, इसलिए भोज का देहान्त वि० सं० १०९९-१११२ (ई० स० १०४२-१०५५) के बीच किसी वर्ष हुआ होगा।

(१०) जयसिंह (सं० ९ का पुत्र)—भोज की मृत्यु के समय धारा-नगरी शत्रुओं के हाथ में थी, परंतु उनके लौट जाने पर जयसिंह मालवे का राजा हुआ। उसका एक दानपत्र वि० सं० १११२ (ई० स० १०५५) का मिला है[1], और एक शिलालेख वि० सं० १११६ का बांसवाड़ा राज्य के पाणा-हेड़ा गांव के मंडलीश्वर के मंदिर में लगा हुआ है, जिसका एक तिहाई अंश जाता रहा है। उसमें उक्त राजा की वीरता के वर्णन के साथ उसके सामंत वागड़ के परमार मंडलीक (मंडन) के विषय में लिखा है कि उसने बड़े बलवान दंडाधीश (सेनापति) कन्ह को पकड़कर उसको हाथी-घोड़ों सहित जयसिंह के सुपुर्द किया[2]। कन्ह किस राजा का सेनापति था यह अब तक ज्ञात नहीं हुआ। वि० सं० १११६ (ई० स० १०५९) के पीछे जयसिंह अधिक काल तक राज करने न पाया हो ऐसा अनुमान होता है।

(११) उदयादित्य (सं० १० का चाचा)—जयसिंह के समय में धारा के राज्य की स्थिति सामान्य ही पाई जाती है। उदयादित्य ने शत्रुओं का उपद्रव मिटाकर सांभर के चौहान राजा विग्रहराज (तीसरे, वीसलदेव) की सहायता से अपने राज्य की उन्नति की और विग्रहराज के ही दिये हुए सारंग नाम के बड़े तेज तुरंग पर सवार होकर गुजरात के राजा कर्ण (भीमदेव के पुत्र) को जीता[3]। यह लड़ाई भीमदेव की चढ़ाई का बदला

---

(१) ए. इं; जि० ३, पृ० ४८-५० ।

(२) येनादाय रणे कन्हं दंडाधीशं महाबलं ।
अर्पितं जयसिंहाय साश्वं गजसमन्वितं ॥ ३६ ॥

पाणाहेडा का वि० सं० १११६ का शिलालेख।

(३) मालवेनोदयादित्येनास्मादेवाप्यतोन्नतिः ।
मन्दाकिनी ह्रदादेव लेभे पूरणमब्धिना ॥ ७६ ॥

लेने को हुई होगी। भोज ने चौहान वीर्यराम को मारा था, परंतु उदयादित्य ने सांभर के चौहानों से मेल कर लिया हो यह संभव है[1]। उसने अपने नाम से उदयपुर नगर (ग्वालियर राज्य) बसाया जहां से परमारों के कई एक शिलालेख मिले हैं। उदयादित्य भी विद्यानुरागी था। धारानगरी में भोज की बनवाई हुई पाठशाला के स्तंभों पर नरवर्मा के खुदवाये हुए नागबंध में संस्कृत के वर्ण तथा नामों और धातुओं के प्रत्यय विद्यमान हैं, जो उदयादित्य की योजना है। उनके साथ उसके नाम के श्लोक खुदे हैं[2]। ऐसे ही संस्कृत के पूरे वर्ण और नागबंध में प्रत्यय, उज्जैन के महाकाल के मंदिर के पीछे की छत्री में लगी हुई एक प्रशस्ति की अंतिम शिला के खाली अंश पर[3] तथा ऊन गांव में भी खुदे हुए हैं और उदयादित्य के नाम का श्लोक भी उनके साथ खुदा है। उसके दो पुत्रों—लक्ष्मदेव और नरवर्मा—

सारंगाख्यं तुरङ्गं स ददौ तस्मै मनोजवम्।
नह्युच्चैश्रवसं क्षीरसिन्धोरन्यः प्रयच्छति ॥ ७७ ॥
जिगाय गूर्जरं कर्णं तमश्वं प्राप्य मालवः।···॥ ७८ ॥

पृथ्वीराजविजय; सर्ग ५।

(१) 'वीसलदेव रासा' नामक हिंदी काव्य में मालवे के राजा भोज की पुत्री राजमती का विवाह चौहान राजा वीसलदेव (विग्रहराज, तीसरे) के साथ होना लिखा है और अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के समय के वि॰ सं॰ १२२६ के बीजोल्यां (मेवाड़) के चट्टान पर खुदे हुए बड़े शिलालेख में वीसल की राणी का नाम राजदेवी मिलता है। राजमती और राजदेवी एक ही राजपुत्री के नाम होने चाहियें, परंतु भोज ने सांभर के चौहान राजा वीर्यराम को मारा था, ऐसी दशा में भोज की पुत्री राजमती का विवाह वीसलदेव के साथ होना संभव नहीं। उदयादित्य ने चौहानों से मेल कर लिया था अतएव संभव है कि यदि वीसलदेव रासे के उक्त कथन में सत्यता हो तो राजमती उदयादित्य की पुत्री या बहिन हो सकती है।

(२) उदयादित्यदेवस्य वर्णनागकृपाणिका।
कवीनां च नृपाणां च तोषा··········॥

भोज की पाठशाला के स्तंभ पर नागबंधों के ऊपर खुदा हुआ लेख, श्लोक दूसरा।

(३) भारतीय प्राचीनलिपिमाला; पृ॰ ७१, टिप्पण ६; और लिपिपत्र २५ वां।

तथा एक पुत्री श्यामलदेवी के नाम शिलालेखों में मिलते हैं। श्यामलदेवी का विवाह मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा विजयसिंह से हुआ था। उससे आल्हण-देवी नाम की कन्या हुई, जो चेदि देश के हैहयवंशी (कलचुरि, करचुली) राजा गयकर्णदेव के साथ ब्याही गई थी[1]।

उदयपुर से मिले हुए एक शिलालेख में, जो बहुत पुराना नहीं है, उदयादित्य का वि० सं० १११६, शक सं० ९८१ में राजा होना लिखा है[2], जो असंभव नहीं, परंतु वह लेख संशयरहित नहीं है। उदयादित्य के समय के अब तक दो शिलालेख मिले हैं, जिनमें से एक उदयपुर (ग्वालियर राज्य) का वि० सं० ११३७ (ई० स० १०८०)[3] का और दूसरा झालरा-पाटन (राजपूताना) का वि० सं० ११४३ (ई० स० १२००) का[4] है।

भाटों की ख्यातों में उदयादित्य के एक पुत्र जगदेव की रोचक कथा मिलती है। उसमें उसकी वीरता, स्वामिभक्ति और उदारता का बहुत कुछ वर्णन है। उसके विषय में यह भी लिखा है कि घर के द्वेष के कारण वह

---

(१) पृथ्वीपतिर्व्विजयसिन्ह(सिंह) इति प्रवर्द्धमानः सदा जगति यस्य यशः सुधांशुः। तस्याभवन्मालवमण्डलाधिनाथोदयादित्यसुता सुरूपा शृङ्गारिणी श्यामलदेव्युदारचरित्रचिन्तामणिरर्च्चितश्रीः।...॥
तस्मादाल्हणदेव्यजायत जगद्रक्षाक्षमाद्भूपते-
रेतस्यान्निजदीर्घवन्श(वंश)विशदप्रेंखत्पताकाकृतिः॥
विवाहविधिमाधाय गयकर्णनरेश्वरः।
चक्रे प्रीतिम्परामस्यां शिवायामिव शंकरः॥

भेराघाट का शिलालेख (ए. इं; जि० २, पृ० १२)।

(२) ए. इं; जि० ४ का परिशिष्ट; लेखसंख्या ६८ और टिप्पण १।

(३) इं. ऐं; जि० २०, पृ० ८३।

(४) संवत् ११४३ वैशाख सुदि १० अद्येह श्रीमदुदयादित्यदेवकल्याण-विजयराज्ये।

यह शिलालेख झालरापाटन के म्यूज़ियम में सुरक्षित है।

गुजरात के सोलंकी राजा जयसिंह (सिद्धराज) की सेवा में जा रहा और अपनी वीरता तथा स्वामिभक्ति के कारण जयसिंह की प्रीति सम्पादन कर उससे बड़ी जागीर भी पाई। उदयादित्य ने अपने पीछे अपने छोटे पुत्र जगदेव को ही अपना राज्य दिया आदि। इस कथा का बहुतसा अंश कल्पित होने पर भी इतना तो निश्चित है कि मालवे के परमारों में जगद्देव (जगदेव) नामक कोई उदार पुरुष अवश्य हुआ था, क्योंकि मालवे के परमार राजा अर्जुनवर्मा ने 'अमरुशतक' पर 'रसिकसंजीवनी' टीका लिखी, जिसमें वह जगद्देव (जगदेव) की प्रशंसा का एक श्लोक उद्धृत कर उसको अपना पूर्वपुरुष बतलाता है।

(१२) लक्ष्मदेव (सं० ११ का पुत्र)—उसने त्रिपुरी पर हमला कर शत्रुओं का नाश किया और वह तुरुष्कों (मुसलमानों) से भी लड़ा था। निःसंतान होने के कारण उसके पीछे उसका भाई राजा हुआ।

(१३) नरवर्मा (सं० १२ का छोटा भाई)—'प्रबंधचिंतामणि' के अनुसार गुजरात का राजा जयसिंह (सिद्धराज) अपनी माता सहित सोमनाथ की यात्रा को गया हुआ था, उस समय मालवे के राजा यशोवर्मा ने गुजरात पर चढ़ाई की। जयसिंह के मंत्री सांतु ने यशोवर्मा से पूछा कि आप किस शर्त पर लौट सकते हैं? इसपर मालवराज ने उत्तर दिया कि यदि तुम जयसिंह की उक्त यात्रा का पुण्य मुझे दे दो तो मैं लौट जाऊं। सांतु ने वैसा ही कर उसको लौटा दिया[1]। प्रबंधचिंतामणि में मालवे के राजा का नाम यशोवर्मा लिखा है जो भूल है, वास्तव में यह चढ़ाई नरवर्मा की थी। सांतु की उक्त नीति से अप्रसन्न होकर ही जयसिंह ने नरवर्मा पर चढ़ाई की और वह क्रमशः उसका देश दबाता हुआ अन्त में धारा तक जा पहुंचा। बांसवाड़ा राज्य के तलवाड़ा गांव के एक मंदिर में गणपति की मूर्त्ति के आसन पर जयसिंह (सिद्धराज) के समय का लेख खुदा हुआ (बिगड़ी हुई दशा में) है, जिसमें भीम, कर्ण और जयसिंह तक की वंशावली दी है। उसमें जयसिंह सिद्धराज का नरवर्मा को परास्त करने का

(१) प्रबंधचिंतामणि; पृ० १४२।

उल्लेख है[1]। जयसिंह मालवे पर चढ़ा तब से लगाकर १२ वर्ष तक लड़ाई चलती रही। उसी अर्से में वि० सं० ११६० कार्तिक सुदि ८ (ई० स० ११३३ ता० ८ अक्टोबर) को नरवर्मा का देहान्त हुआ और उसका पुत्र यशोवर्मा मालवे की गद्दी पर बैठकर जयसिंह (सिद्धराज) से युद्ध करता रहा।

नरवर्मा विद्वान् राजा था। उसके समय की वि० सं० ११६१ (ई० स० ११०४) की नागपुर की प्रशस्ति उसकी रचना है। उदयादित्य के निर्माण किये हुए वर्णों तथा नामों एवं धातुओं के प्रत्ययों के नागबंध चित्र नरवर्मा ने ऊपर लिखे हुए स्थानों में खुदवाये थे। विद्या और दान में उसकी तुलना भोज से की जाती थी। उसके समय में भी मालवा विद्यापीठ समझा जाता था और जैन तथा वेदमतावलंबियों के बीच शास्त्रार्थ भी हुए थे। जैन विद्वान् समुद्रघोष और वल्लभसूरि ने उसी से सम्मान पाया था। उसके समय के दो शिलालेख मिले हैं, जो वि० सं० ११६१ और ११६४ (ई० स० ११०४ और ११०७) के हैं[2]।

(१४) यशोवर्मा (सं० १३ का पुत्र)—उसके समय भी जयसिंह (सिद्धराज) के साथ की लड़ाई चलती रही, अंत में हाथियों से धारा-नगरी का दक्षिणी दरवाज़ा तुड़वाया गया और जयसिंह ने धारा में प्रवेश कर यशोवर्मा[3] को उसकी राणियों सहित क़ैद किया और १२ वर्ष की

---

(१) राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९१४-१५ की रिपोर्ट; पृ० २, लेखसंख्या ४।

(२) वि० सं० ११६१ का नागपुर का प्रसिद्ध शिलालेख (ए. इं; जि० २, पृ० १८२-८८) और ११६४ का मधुकरगढ़ से मिला (ए. इं; जि० ५ वीं का परिशिष्ट, लेखसंख्या ८१)।

(३) सिद्धराज जयसिंह की इस विजय के संबंध में गुजरात के प्राचीन इतिहासलेखकों में मतभेद है। हेमचंद्र अपने 'द्व्याश्रयकाव्य' में (१४। २०-७४), अरिसिंह अपने 'सुकृतसंकीर्तन' में (२। २४-२५; ३४) और मेरुतंग अपनी 'प्रबंध-चिंतामणि' में (पृ० १८४) मालवे के राजा यशोवर्मा को क़ैद करना मानते हैं, परंतु सोमेश्वर अपनी 'कीर्तिकौमुदी' में (२। ३१-३२), जिनमंडनगणि अपने 'कुमारपाल-प्रबंध' में (पत्र ७। १) और जयसिंहसूरि अपने 'कुमारपालचरित' में (१। ४१)

लड़ाई के उपरांत वह अपनी राजधानी को लौटा[1]। इस युद्ध में विजय पाकर जयसिंह ने 'अवंतिनाथ' विरुद धारण किया और मालवे के बड़े अंश पर उसका अधिकार हो गया। मेवाड़ का प्रसिद्ध चित्तोड़गढ़ तथा उसके पास का मालवे से मिला हुआ प्रदेश, जो मुंज के समय से मालवे के परमारों के राज्य में चला आता था, अब मालवे के साथ जयसिंह के अधीन हुआ। इसी तरह वागड़ (डूंगरपुर और बांसवाड़ा) भी उसके हाथ आ गया। यह विजय वि० सं० ११९२ और ११९५ के बीच किसी वर्ष हुई होगी क्योंकि वि० सं० ११९२ मार्गशीर्ष वदि ३ का तो यशोवर्मा का दानपत्र[2] मिल चुका है, और जयसिंह का एक शिलालेख उज्जैन की कमेटी (म्यूनिसिपलटी) में रक्खा हुआ मेरे देखने में आया जो पहले वहां के एक दरवाज़े में लगा था। उसकी खुदी हुई बाजू भीतर की ओर थी, जिससे दरवाज़ा गिराये जाने के समय उस लेख का पता लगा। वह शिलालेख वि० सं० ११९५ (ई० स० ११३८) ज्येष्ठ वदि १४ का है उसमें जयसिंह का

नरवर्मा को क़ैद करना बतलाते हैं। वास्तव में बात यह है कि सिद्धराज जयसिंह ने नरवर्मा के समय मालवे पर चढ़ाई की, और उसका देश विजय करता हुआ आगे बढ़ता गया तथा १२ वर्ष तक लड़ते रहने पर यशोवर्मा के समय विजय प्राप्त हुई जैसा कि ऊपर तलवाड़े और उज्जैन के शिलालेखों से बतलाया गया है।

(१) तत्र स्वजयकारपूर्वकं द्वादशवार्षिके विग्रहे संजायमानेऽद्य मया धाराभङ्गानन्तरं० (प्रबंधचिंतामणि; पृ० १४२–४३)।

कृत्वा विग्रहमुग्रसैन्यनिवहैर्यो द्वादशाब्दप्रमं
प्रागद्वारं विदलय्य पट्टकरिणा भंक्त्वा च धारापुरीं।...॥४१॥

जयसिंहसूरि का कुमारपालचरित; सर्ग १।

कृत्वा विग्रहमुग्रमाग्रहवशाज्जग्राह धारां धरा–
धीशो द्वादशवत्सरैर्बहुतरं बिभ्रच्चिरं मत्सरम्।...॥ ३५ ॥
देशान्विजित्य तरणिप्रमितैः स वर्षैः
सिद्धाधिपो निजपुरं पुनराससाद ॥ ३८ ॥

चारित्रसुंदरगणि का कुमारपालचरित्र; सर्ग १, वर्ग २।

(२) इं. ऐं; जि० १९, पृ० ३४९।

मालवे के राजा यशोवर्मदेव (यशोवर्मा) को जीतने तथा अपनी ओर से अवंतिमंडल (मालवे) में नागर जाति के महादेव को शासक बनाने का उल्लेख है[1]। जयसिंह (सिद्धराज) का जीता हुआ मालवे का राज्य उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल तक गुजरात के सोलंकियों के अधीन रहा, परंतु कुमारपाल के अयोग्य उत्तराधिकारी अजयपाल के मारे जाने पर मालवे के परमार फिर स्वतंत्र हो गये। यशोवर्मा के दो दानपत्र मिले हैं, जो वि० सं० ११९१[2] और ११९२[3] (ई० स० ११३४ और ११३५) के हैं। उसके तीन पुत्र जयवर्मा, अजयवर्मा और लक्ष्मीवर्मा थे।

(१५) जयवर्मा (सं० १४ का पुत्र)—वह नाममात्र का राजा था अथवा गुजरात के सोलंकियों की अधीनता में रहा होगा। उसका नाम कहीं-कहीं ताम्रपत्रों में छोड़ भी दिया गया है।

(१६) अजयवर्मा (सं० १५ का छोटा भाई)—वह अपने बड़े भाई का उत्तराधिकारी हुआ होगा या उसका राज्य उसने छीना होगा। उसके समय से मालवे के परमारों की दो शाखाएं हो गईं, बड़ी शाखावाले अपने को मालवे के स्वामी मानते रहे और छोटी शाखावाले 'महाकुमार' कहलाते थे। महाकुमार उदयवर्मा के वि० सं० १२५६ (ई० स० ११९९) के दानपत्र में लिखा है—'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर जयवर्मा का राज्य अस्त होने (छूटने) पर महाकुमार लक्ष्मीवर्मा ने तलवार के बल से अपना राज्य

---

(१) सं० ११९५ ज्येष्ठ व १४ गुरावद्येह श्रीमदणहिलपाटकावस्थितमहाराजाधिराजपरमेश्वरत्रिभुवनगण्डसिद्धचक्रवर्तिअवंतीनाथबर्बरकजिष्णुश्रीजयसिंहदेवविजयराज्ये······
मालवराजश्रीयशोविर्मनामानं च जित्वा
श्रीमदवंतीमंडले·········तन्निरूपितनागरकुलान्वये······
श्रीमहादेव(वो) मालवव्यापारं कुर्वति················
(उज्जैन का शिलालेख, अप्रकाशित)।

(२) महाकुमार लक्ष्मीवर्मदेव के वि० सं० १२०० के दानपत्र में यशोवर्मा के वि० सं० ११९१ के दान का उल्लेख है (इं. एँ; जि० १९, पृ० ३५३)।

(३) इं. एँ; जि० १९, पृ० ३४९।

जमाया[१]। इससे अनुमान होता है कि अजयवर्मा ने जयवर्मा का राज्य छीना उस समय लक्ष्मीवर्मा जयवर्मा के पक्ष में रहा होगा और कुछ इलाके दबा बैठा। महाकुमार हरिश्चंद्रवर्मा के दानपत्र में जयवर्मा की कृपा से उसका राज्य पाना लिखा है, जो ऊपर के कथन की पुष्टि करता है। हम यहां पर मालवे के परमारों की दोनों शाखाओं का संबध नीचे लिखे हुए वंशवृक्ष में बतलाकर छोटी शाखा का परिचय पहिले देंगे, तदनंतर बड़ी शाखा का।
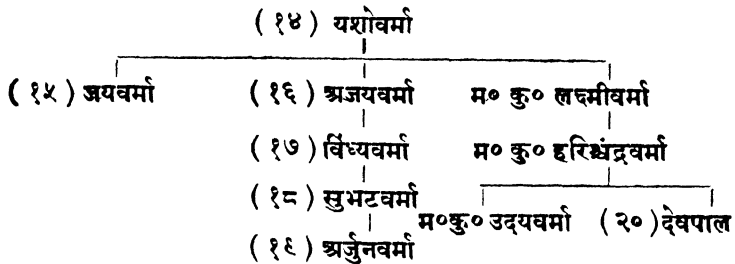
महाकुमार लक्ष्मीवर्मा का एक दानपत्र वि० सं० १२०० श्रावण सुदि १५ (ई० स० ११४३ ता० २८ जुलाई) का मिला है[२]। उसके पुत्र महाकुमार हरिश्चंद्रवर्मा का एक दानपत्र पीपलिया नगर (भोपाल राज्य) से मिला है, जिसमें दो दानों का उल्लेख है। एक वि० सं० १२३५ पौष वदि अमावस्या (ई० स० ११७८ ता० ११ दिसम्बर) को और दूसरा वि० सं० १२३६ वैशाख सुदि १५ (ई० स० ११७९ ता० २३ अप्रेल) को दिया गया था[३]। उसके पुत्र महाकुमार उदयवर्मा का दानपत्र वि सं० १२५६ वैशाख सुदि १५ (ई० स० ११९९ ता० १२ अप्रेल) का मिला है[४]। वि० सं० १२७२ (ई० स० १२१५) तक बड़ी शाखा का राजा अर्जुनवर्मा विद्यमान था, जैसा कि आगे बतलाया जायगा। उसके निःसंतान मरने पर उदयवर्मा का भाई देवपाल मालवे का राजा हो गया। अब आगे बड़ी शाखा परिचय दिया जाता है।

(१) इं. ऐं. जि० १६, पृ० २५४।
(२) इं. ऐं. जि० १९, पृ० ३५२-५३।
(३) बंगा. ए. सो. ज; जि० ७, पृ० ७३६।
(४) इं. ऐं; जि० १६, पृ० २५४-५५।

(१७) विंध्यवर्मा (सं० १६ का पुत्र)—गुजरात के सोलंकी राजा कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल के समय से ही गुजरात का राज्य शिथिल होने लगा था और वि० सं० १२३३ (ई० स० ११७६) में उसके मरने पर उसका बालक पुत्र मूलराज (बालमूलराज) गुजरात के राज्य-सिंहासन पर बैठा; वह दो वर्ष राज्य कर वि० सं० १२३५ (ई० स० ११७८) में मर गया। उसके पीछे उसका छोटा भाई भीमदेव (दूसरा) बाल्यावस्था में ही गुजरात के राज्यसिंहासन पर बैठा। तभी से गुजरात के राज्य की दशा बिगड़ती गई और सामंत लोग स्वतंत्र होते गये। उसके राज्य की अवनति के समय विंध्यवर्मा गुजरात से स्वतंत्र हो गया हो, यह संभव है। वि० सं० १२७२ के अर्जुनवर्मा के दानपत्र में विंध्यवर्मा को वीरमूर्धन्य (वीरों का अग्रणी) और गुजरातवालों का उच्छेद करनेवाला कहा है[1]। सोमेश्वर कवि अपने 'सुरथोत्सव' काव्य में गुजरात के सेनापति से पराजित होकर राजा विंध्यवर्मा का रणखेत छोड़ जाना, उक्त सेनापति का गोगास्थान नामक पत्तन को तोड़ना तथा वहां महल के स्थान पर कुआँ खुदवाना लिखता है[2]। विंध्यवर्मा भी विद्यानुरागी था। उसका सांधिविग्रहिक बिल्हण कवि (कश्मीरी बिल्हण से भिन्न) था। सपादलक्ष (अजमेर के चौहानों के अधीन का देश) के अंतर्गत मंडलकर (मांडलगढ़, उदयपुर राज्य) का रहनेवाला जैन पंडित आशाधर सपादलक्ष पर मुसलमानों का अधिकार हो जाने तथा उनके अत्याचार के कारण अपना निवास-स्थान छोड़कर

---

(१) तस्मादजयवर्माभूज्जयश्रीविश्रुतः सुतः ॥
तत्सूनुर्वीरमूर्द्धन्यो धन्योत्पत्तिरजायत ।
गुर्जरोच्छेदनिर्बंधी विंध्यवर्मा महासुतः ॥
अमेरिकन ओरिएंटल् सोसाइटी का जर्नल; जि० ७, पृ० ३२-३३।

(२) धाराधीशे विन्ध्यवर्मण्यवन्ध्यक्रोधाध्मातेऽप्याजिमुत्सृज्य याते।
गोगस्थानं पत्तनं तस्य भङ्क्त्वा सौधस्थाने खानितो येन कूपः ॥३६॥
सुरथोत्सव; सर्ग १५।

विंध्यवर्मा के समय मालवे में जा रहा और उक्त बिल्हण पंडित से उसकी मैत्री हुई[1]।

(१८) सुभटवर्मा (सं० १७ का पुत्र)—उसको सोहड़ भी कहते थे, जो सुभट का प्राकृत रूप है। उसके समय में मालवे के परमार केवल स्वतंत्र ही नहीं हुए वरन् गुजरात पर चढ़ाई करने को भी समर्थ होगये थे। 'प्रबंधचिंतामणि' में लिखा है—'गुजरात के राजा भीमदेव (दूसरे, भोला-भीम) के समय मालवे के राजा सोहड़ (सुभटवर्मा) ने गुजरात को नाश करने की इच्छा से उसपर चढ़ाई कर दी, परंतु भीमदेव के मंत्री ने उसको समझाकर लौटा दिया[2]।' 'कीर्तिकौमुदी' के अनुसार धारा के राजा (सुभट-वर्मा) ने गुजरात पर चढ़ाई की, जिसको बघेल लवणप्रसाद ने लौटा दिया। लवणप्रसाद भीमदेव का सामंत था और उसके राज्य की बिगड़ी हुई दशा में गुजरात के राज्य का कुल काम उसी की इच्छा के अनुसार होता था। अर्जुनवर्मा के दानपत्र में सुभटवर्मा के प्रताप की दावाग्नि का गुजरात में जलने का जो उल्लेख है[3], उसकी पुष्टि ऊपर लिखे हुए गुजरातवालों के दोनों कथनों से होती है।

(१९) अर्जुनवर्मा (सं० १८ का पुत्र)—उसके वि० सं० १२७२ के दानपत्र में लिखा है कि उसने युद्ध में जयसिंह को खिलवाड़ में ही भगा दिया[4]। उसके राजगुरु मदन (बालसरस्वती) की रची हुई 'पारिजात-मंजरी' (विजयश्री) नाटिका के मत से उसका गुजरात के राजा जयसिंह

---

(१) आशाधर के धर्मामृतशास्त्र के अंत की प्रशस्ति; श्लोक १—७।

(२) प्रबंधचिंतामणि; पृ० २४९।

(३) भूपः सुभटवर्मेति धर्म्मे तिष्ठन्महीतलम् ॥
यस्य ज्वलति दिग्जेतुः प्रतापस्तपनद्युतेः।
दावाग्निसुमनाद्यापि गर्जन्गुर्जरपत्तने ॥

बंगा. ए. सो. ज; जि० ५, पृ० ३७८-७९।

(४) बाललीलाहवे यस्य जयसिंहे पलायिते।

जर्नल आव् दी अमेरिकन् ओरिएंटल् सोसाइटी; जि० ७, पृ० २५—२७।

के साथ पर्व-पर्वत (पावागढ़) के पास युद्ध हुआ। उसमें जयसिंह भाग गया। गुजरात के निर्बल राजा भीमदेव (दूसरे) से उसका राज्य उसके कुटुंबी जयसिंह ने कुछ काल के लिए छीन लिया था। वही जयसिंह अर्जुन-वर्मा से हारा होगा। उसका एक दानपत्र वि० सं० १२८० (ई० स० १२२३) का[1] मिल चुका है, जिसमें उसका नाम जयंतसिंह लिखा है, जो जयसिंह का रूपान्तरमात्र है।

'प्रबंधचिन्तामणि' में लिखा है—'राजा भीमदेव (दूसरे) के समय अर्जुनवर्मा ने गुजरात का नाश किया[2]।' अर्जुनवर्मा विद्वान्, कवि और गानविद्या में निपुण था। उसके समय के तीन दानपत्र मिले हैं, जिनमें से एक वि० सं० १२६७ फाल्गुण सुदि १० (ई० स० १२११ ता० २४ फरवरी) का मंडपदुर्ग (मांडू) से दिया हुआ, दूसरा वि० सं० १२७० वैशाख वदि अमावास्या (ई० स० १२१३ ता० २२ अप्रेल) का भृगुकच्छ (भड़ौच, गुजरात) में और तीसरा वि० सं० १२७२ भाद्रपद सुदि १५ (ई० स० १२१५ ता० ६ सितम्बर) का रेवा (नर्मदा) और कपिला के संगम पर अमरेश्वर तीर्थ से दिया हुआ है। इन तीनों दानपत्रों की रचना राजगुरु मदन ने ही की थी। पहले दो ताम्रपत्रों के लिखे जाने के समय अर्जुनवर्मा का महासांधिविग्रहिक बिल्हण पंडित था, परंतु तीसरे दानपत्र के समय उस पद पर राजा सल-खण था। उसके मंत्री का नाम नारायण था। अर्जुनवर्मा का देहांत वि० सं० १२७२ और १२७५ (ई० स० १२१५ और १२१८) के बीच किसी वर्ष हुआ होगा, क्योंकि वि० सं० १२७५ मार्गशीर्ष सुदि ५ (ई० स० १२१८ ता० २४ नवम्बर) के हरसोड़ा गांव (मध्य प्रदेश के होशंगाबाद ज़िले में) से मिले हुए देवपाल के समय के शिलालेख में उस(देवपाल)को धारानगरी का राजा, परमभट्टारक, महाराजाधिराज और परमेश्वर लिखा है।

(२०) देवपाल (सं० १९ का कुटुंबी)—अर्जुनवर्मा के पुत्र न होने से उसके पीछे छोटी शाखा के वंशधर महाकुमार हरिश्चंद्रवर्मा का दूसरा

---

(१) इं. एँ; जि० ६, पृ० १९६–९८।

(२) प्रबंधचिंतामणि; पृ० २५०।

पुत्र देवपाल मालवे का राजा हुआ। उसका उपनाम (विरुद) 'साहसमल्ल' था। उसके समय के तीन शिलालेख और एक दानपत्र मिला है। पहला शिलालेख वि० सं० १२७५ (ई० स० १२१८) का[1] ऊपर लिखा हुआ हरसोड़ा गांव का और दो उदयपुर (ग्वालियर राज्य) से मिले हैं, जो वि० सं० १२८६[2] और १२८६[3] (ई० स० १२२६ और १२३२) के हैं। उसका एक दानपत्र मांधाता से भी मिला है, जो वि० सं० १२६२ भाद्रपद सुदि १५ (ई० स० १२३५ ता० २६ अगस्त) का है[4]। उसके समय हि० सन् ६२६ (वि० सं० १२८८-८६= ई० स० १२३१-३२) में दिल्ली के सुलतान शमशुद्दीन अल्तमश ने मालवे पर चढ़ाई कर साल भर की लड़ाई के बाद ग्वालियर को विजय किया, फिर भेलसा और उज्जैन लिया तथा उज्जैन में महाकाल के मंदिर को तोड़ा, परंतु मालवे पर सुलतान का क़ब्ज़ा न हुआ। सुलतान के लूटमार कर चले जाने पर वहां का राजा देवपाल ही रहा[5]। देवपाल के समय आशाधर पंडित ने वि० सं० १२८५ में नलकच्छपुर (नालछा, धार से २० मील) में 'जिनयज्ञ-कल्प' तथा वि० सं० १२६२ (ई० स० १२३५) में 'त्रिषष्टिस्मृति' नाम की पुस्तकें रचीं और वि० सं० १३०० (ई० स० १२४३) में सटीक 'धर्मामृत-शास्त्र' की रचना की जब कि मालवे का राजा जयतुगिदेव था[6] अतएव

(१) इं. ऐं; जि० २०, पृ० ३११।

(२) वही; जि० २०, पृ० ८३।

(३) वही; जि० २०, पृ० ८३।

(४) ए. इं; जि० ६, पृ० १०८-१३।

(५) ब्रिग; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० २१०-११।

(६) पंडिताशाधरश्चक्रे टीकां क्षोदक्षमामिमां ॥ २८ ॥

प्रमारवंशवार्धींदुदेवपालनृपात्मजे।

श्रीमज्जैतुगिदेवेसिस्थाम्नावंतीनवत्यलं ॥ ३० ॥

नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेसिधत्।

विक्रमाब्दशतेष्वेषा त्रयोदशसु कार्तिके ॥ ३१ ॥

धर्मामृतशास्त्र के अंत की प्रशस्ति।

देवपाल की मृत्यु वि० सं० १२९२ और १३०० (ई० स० १२३५ और १२४३) के बीच किसी समय हुई होगी। उसके दो पुत्र-जयतुगिदेव और जयवर्मा-थे, जो उसके पीछे क्रमशः राजा हुए।

(२१) जयतुगिदेव (सं० २० का पुत्र)—उसको जयसिंह और जैत्रमल्ल भी कहते थे। उसके समय का एक शिलालेख राहतगढ़ से (वि०सं० १३१२ (ई० स० १२५५) का[1] और दूसरा (वि० सं० १४ अर्थात् १३१४ का, जिसमें शताब्दी के अंक छोड़ दिये गये हैं) कोटा राज्य के अटू नामक स्थान से मिला है[2]। मेवाड़ का गुहिलवंशी राजा जैत्रसिंह अर्थूणा (बांसवाड़ा राज्य) में जयतुगिदेव से लड़ा था[3]। उसका देहांत वि० सं० १३१४ (ई० स० १२५७) में हुआ।

(२२) जयवर्मा दूसरा (सं० २१ का छोटा भाई)—उसके समय का एक शिलालेख वि० सं० १३१४ माघ वदि १ (ई० स० १२५७ ता० २३ दिसंबर) का और एक दानपत्र वि० सं० १३१७ ज्येष्ठ सुदि ११ (ई० स० १२६० ता० २२ मई) का[4] मंडप दुर्ग (मांडू) से दिया हुआ मिला है, जिसमें उसके सांधिविग्रहिक का नाम मालाधर पंडित और महाप्रधान का नाम राजा अजयदेव होना लिखा है।

(२३) जयसिंह तीसरा (सं० २२ का उत्तराधिकारी)—वि०सं० १३४५ (ई० स० १२८८) के कवालजी के कुंड (कोटा राज्य) के शिलालेख में, जो रणथंभोर के प्रसिद्ध चौहान राजा हंमीर के समय का है, लिखा है कि जैत्रसिंह (हंमीर के पिता) ने मंडप (मांडू) के जयसिंह को बार बार सताया। मालवे के उस राजा के सैकड़ों योद्धाओं को झंपाइथा घट्ट (झपायता के घाटे) में हराया और उनको रणस्तंभपुर (रणथंभोर) में क़ैद रक्खा[5]। जयसिंह

श्वेतांबर जैन साधुओं में जैसे अनेक ग्रंथों के रचयिता हेमचंद्राचार्य हुए वैसे ही दिगंबर जैनों में आशाधर पंडित ने भी अनेक ग्रंथों की रचना की।

(१) इं. ऐं; जि० २०, पृ० ८४।

(२) भारतीय प्राचीनलिपिमाला; पृ० १८२ का टिप्पण ६।

(३) ना० प्र० प०; भाग ३, पृ० १३२–३४।

(४) ए. इं; जि० ६, पृ० १२०–२३।

(५) ततोभ्युदयमासाद्य जैत्रसिंहरविर्नवः।

(तीसरे) के समय का एक शिलालेख वि० सं० १३२६ वैशाख सुदि ७ (ई० स० १२६९ ता० १० अप्रेल) का मिला है[1]।

(२४) अर्जुनवर्मा दूसरा (सं० २३ का उत्तराधिकारी)—उपर्युक्त कवालजी के कुंड के शिलालेख में रणथंभोर के चौहान राजा हंमीर के विषय में लिखा है कि उसने युद्ध में अर्जुन (अर्जुनवर्मा) को जीतकर बल-पूर्वक उससे मालवे की लक्ष्मी को छीन लिया[2]। 'हंमीरमहाकाव्य' में हंमीर की गद्दीनशीनी का संवत् १३३९ और 'प्रबंधकोष' के अंत की वंशावली में १३४२ दिया है। कवालजी के कुंडवाला शिलालेख वि० सं० १३४५ (ई० स० १२८८) का है, इसलिए हंमीर ने वि० सं० १३३९ (या १३४२) और १३४५ के बीच अर्जुन (अर्जुनवर्मा) से मालवा या रणथंभोर के राज्य से मिला हुआ मालवे का कुछ अंश छीना होगा।

(२५) भोज दूसरा (सं० २४ का उत्तराधिकारी)—'हंमीरमहाकाव्य' में हंमीर की विजययात्रा के वर्णन में लिखा है—"मंडलकृत् दुर्ग (मांडू का क़िला) लेकर वह शीघ्र ही धारा को पहुंचा और परमार भोज को, जो मानो भोज (प्रथम) के तुल्य था, नवाया[3]।" यदि इस कथन में सत्यता हो तो इस घटना का कवालजी के कुंडवाले लेख के खुदे जाने वि० सं० १३४५ (ई० स० १२८८) और हंमीर की मृत्यु वि० सं० १३५८ (ई० स०

अपि मंडपमध्यस्थं जयसिंहमतीतपत् ॥ ७ ॥
येन झंपाइथाघट्टे मालवेशभटाः शतं ।
व(ब)द्धा रणस्तंभपुरे क्षिप्ता नीताश्च दासतां ॥ ८ ॥

कवालजी के कुंड की प्रशस्ति की छाप से।

(१) ए. इं; जि० ५ का परिशिष्ट, लेखसंख्या २३२।

(२) सां(सा)म्राज्यमाज्यपरितोषितहव्यवाहो
हंमीरभूपतिरविंव(द)त भूतधात्र्याः ॥ १० [॥]
निर्जित्य येनार्जुनमाजिमूर्द्धनि श्रीर्म्मालवस्योज्जगृहे हठेन ॥११॥

कवालजी के कुंड की प्रशस्ति की छाप से।

(३) हंमीरमहाकाव्य; सर्ग ९, श्लोक १८–१९।

१३०१) के बीच किसी वर्ष में होना संभव है । धार में अब्दुल्लाशाह चंगाल की क़बर के दरवाज़े में एक फ़ारसी शिलालेख लगा हुआ है, जिसमें चंगाल की प्रशंसा के साथ यह भी लिखा है कि उस क़बर के ऊपर के गुंबज की, जो अलाउद्दीन ग़ोरी ने बनवाया था, महमूदशाह ख़िलजी ने मरम्मत करवाई। वह क़बर हिजरी सन् ८५७ (वि० सं० १५१०=ई० स० १४५३) में बनी थी। उसमें यह भी लिखा है कि राजा भोज उस(चंगाल)की करामात देखकर मुसलमान हो गया था[1]। भोज (प्रथम) के समय तो मालवे में मुसलमान आये भी नहीं थे संभव है कि पिछले अर्थात् दूसरे भोज की स्मृति होने के कारण पीछे से शिलालेख तैयार करनेवाले ने उक्त भोज के मुसलमान होने की कल्पना खड़ी कर दी हो।

(२६) जयसिंह चौथा (सं० २५ का उत्तराधिकारी)—उसके समय का एक शिलालेख उदयपुर (ग्वालियर राज्य) से मिला है, जो वि० सं० १३६६ श्रावण वदि १२ (ई० स० १३०९ ता० ५ जुलाई) का है[2]। उसके अंतिम समय के आसपास बहुधा सारा मालवा मुसलमानों के अधीन हो गया, जिससे हिन्दू राजा उनके सरदारों की स्थिति में रह गये, परंतु समय पाकर वे लड़ते भी रहे।

जलालुद्दीन फ़ीरोज़शाह ख़िलजी ने हि० स० ६९० (वि० सं० १३४८= ई० स० १२९१) में उज्जैन को लिया और वहां के कई मंदिरों को तोड़ा[3]। दो वर्ष बाद फिर उसने मालवे पर चढ़ाई कर उसे लूटा और उसके भतीजे अलाउद्दीन ने भेलसा फतह कर मालवे का पूर्वी हिस्सा भी जीत लिया। अनुमान होता है कि मुहम्मद तुग़लक के समय मालवे के परमार-राज्य का अंत हुआ। 'मिराते सिकंदरी' से पाया जाता है कि मुहम्मद तुग़लक ने हि० स० ७४४ (वि० सं० १४००=ई० स० १३४३) के आसपास मालवे

(१) बंब. ए. सो. ज; ई० स० १९०५ का एक्स्ट्रा नंबर, पृ० ३५२।

(२) इं. ऐं; जि० २०, पृ० ८४।

(३) ब्रिग; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० ३०१। इलियट; हिस्टरी ऑव् इंडिया; जि० ३, पृ० १४७।

का सारा इलाक़ा अज़ीज़ हिमार के सुपुर्द किया, जो पहले केवल धार का हाकिम नियत किया गया था।

मालवे के परमारों का राज्य मुसलमानों के हस्तगत होने पर वहां की एक शाखा अजमेर ज़िले में आ बसी। उस शाखावालों का एक शिलालेख पीसांगण के तालाव की पाल पर खड़ा है, जो वि० सं० १५३२ का है[१]। उसमें लिखा है कि जिस परमार वंश में मुंज और भोज हुए उसी वंश में हंमीरदेव हुआ। उसका पुत्र हरपाल और हरपाल का महीपाल (महपा) और उसका पुत्र रघुनाथ (राघव) था। रघुनाथ की राणी राजमती ने, जो बाहड़मेर के राठोर दुर्जनशल्य (दुर्जनसाल) की पुत्री थी, यह तालाव बनवाया। ऊपर लिखा हुआ महीपाल (महपा) मेवाड़ के महाराणा मोकल के मारनेवाले चाचा और मेरा से मिल गया था, जब राठोड़ राव रणमल्ल ने चाचा और मेरा को मारा तब महपा भागकर मांडू के सुलतान के पास चला गया। तदनन्तर उसने महाराणा कुंभा से अपना अपराध क्षमा कराया और उनकी सेवा में रहने लगा। राव रणमल्ल को मारने में भी महपा शामिल था। उक्त लेख के रघुनाथ (राघव) का बेटा कर्मचंद था, जिसके यहां मेवाड़ का महाराणा सांगा अपने कुंवरपदे के आपत्तिकाल में रहा था। कर्मचंद के जगमल्ल आदि पुत्र थे। उक्त तालाव के लेख से उस[२] (कर्मचंद) की पत्नी रामादेवी ने वि० सं० १५८० आश्विन सुदि ५ (ई० स० १५२३ ता० १४ सितम्बर) को अपने नाम से रामासर (रामासर गांव में) तालाव बनवाया। कहा जाता है कि पहले उक्त गांव का नाम अंबासर था, परंतु रामासर तालाव बनने के पीछे वह गांव रामसर कहलाया।

मालवे के परमार राजा कृष्णराज (उपेंद्र) के दूसरे पुत्र डंबरसिंह के वंश में वागड़ के परमार हैं। उनके अधिकार में बांसवाड़ा और डूंगरपुर के राज्य थे। इस शाखा के कई

वागड़ के परमार

(१) राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९११-१२ की रिपोर्ट, पृ० २, लेखसंख्या २।

(२) मूल लेख की छाप से।

शिलालेख मिले हैं, जिनमें से दो में उनकी वंशावली दी है। अर्थूणा से मिले हुए वि० सं० १२३६ (ई० स० ११७६) के चामुंडराज के शिलालेख के अनुसार इस शाखा का मूलपुरुष डंबरसिंह मालवे के राजा वैरिसिंह (प्रथम) का छोटा भाई था। उसके वंश में कंकदेव हुआ[1], जो मालवे के राजा श्रीहर्ष (सीयक) के समय कर्णाट के राजा (खोट्टिगदेव, राठोड़) के साथ युद्ध में मारा गया। वि० सं० १११६ (ई० स० १०५६) के पाणाहेड़ावाले लेख में डंबरसिंह का नाम नहीं दिया और उसमें वंशावली धनिक से प्रारंभ होती है। धनिक के भाई का पुत्र चच्च हुआ। उसके पुत्र (कंकदेव) का खोट्टिगदेव के साथ लड़ाई में मारा जाना उक्त लेख से पाया जाता है। इन दोनों तथा अन्य लेखों के अनुसार वागड़ के परमारों की नामावली नीचे लिखी जाती है—

(१) डंबरसिंह (कृष्णराज का दूसरा पुत्र)।

(२) धनिक (संख्या १ का उत्तराधिकारी)—उसने महाकाल के मंदिर के पास धनेश्वर का मंदिर बनवाया[2]।

(३) चच्च (संख्या २ का भतीजा[3])

(४) कंकदेव (सं० ३ का उत्तराधिकारी या पुत्र)—वह हाथी पर

---

(१) तस्यान्वये क्रमवशादुदपादि वीरः श्रीवैरिसिंह इति संभृतसिंहनादः।···॥
तस्यानुजो डम्व(म्ब)रसिंह इति प्रचंडदोर्दंडचंडिमवशीकृतवैरिवृंदः।···।
तस्यान्वये करिकरोद्धुरवा(बा)हुदण्डः श्रीकंकदेव इति लव्ध(ब्ध)जयो व(ब)भूव

अर्थूणा के लेख की छाप से।

(२) अत्रासीत्परमारवंशवितततो लव्धा(ब्धा)न्वयः पार्थिवो
नाम्ना श्रीधनिको धनेश्वर इव त्यागैककल्पद्रुमः।···॥ २६॥
श्रीमहाकालदेवस्य निकटे हिमपांडुरं।
श्रीधनेश्वर इत्युच्चैः कीर्तनं यस्य राजते॥ २७॥

पाणाहेड़ा के शिलालेख की छाप से।

(३) चच्चनामाभवत्तस्माद् भ्रातृसूनुर्महानृपः।···॥

पाणाहेड़ा के लेख की छाप से।

चढ़कर मालवराज श्रीहर्ष के शत्रु कर्णाट के राजा खोट्टिगदेव की सेना का संहार करता हुआ नर्मदा के किनारे मारा गया। मालवे के परमार राजा जयसिंह (प्रथम) और वागड़ के सामन्त मन्डलीक के समय (वि० सं० १११६) के पाणाहेड़ा(बांसवाड़ा राज्य)वाले लेख के अनुसार[1] यह लड़ाई खलिघट्ट नामक स्थान में हुई थी।

(५) चंडप (सं० ४ का पुत्र)।

(६) सत्यराज (सं० ५ का पुत्र)—उसका वैभव राजा भोज ने बढ़ाया और वह गुजरातवालों से लड़ा। उसकी स्त्री राजश्री चौहान वंश की थी[2]।

(७) लिंबराज (सं० ६ का पुत्र)।

(८) मंडलीक (सं० ७ का छोटा भाई)—उसको मंडनदेव भी कहते थे। वह मालवे के परमार राजा भोज और जयसिंह (प्रथम) का सामंत था। उसने बड़े बलवान सेनापति कन्ह को पकड़कर उसके घोड़ों और हाथियों सहित जयसिंह के सुपुर्द किया और अपने नाम से पाणाहेड़ा गांव में मंडलेश्वर का मंदिर वि० सं० १११६ (ई० स० १०५९) में बनवाया[3]।

(९) चामुंडराज (सं० ८ का पुत्र)—उसने वि० सं० ११३६ (ई० स० १०७९) में अर्थूणा (बांसवाड़ा राज्य) गांव में मंडलेश्वर का शिव-मंदिर बनवाया, जिसके शिलालेख के अनुसार उसने सिंधुराज को नष्ट किया था। सिंधुराज से अभिप्राय या तो सिंध के राजा या उक्त नाम के राजा से होगा, परंतु उसका ठीक पता नहीं लगा। उसने अपने पिता मंड-लीक (मंडनदेव) के नाम से मंडनेश (मंडलेश्वर) नामक शिवालय और मठ बनवाया। उसके समय के चार शिलालेख अर्थूणा से मिले हैं, जो

---

(१) देखो ऊपर पृष्ठ २०७ और टिप्पण १।

(२) पाणाहेड़ा का शिलालेख, श्लो० ३२।

(३) राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९१६–१७ की रिपोर्ट, पृ० २, लेखसंख्या २।

वि० सं० ११३६[1], ११३७[2], ११५७[3] और ११५९[4] (ई० स० १०७९, १०८०, ११००, ११०२) के हैं।

(१०) विजयराज (सं० ९ का पुत्र)—उसका सांधिविग्रहिक वालभ जाति के कायस्थ राजपाल का पुत्र वामन था। उसके समय के दो शिलालेख वि० सं० ११६५[5] और ११६६[6] (ई० स० ११०८ और ११०९) के मिले हैं। विजयराज के वंशजों के नामों का पता नहीं लगा, क्योंकि विजयराज के पीछे का कोई शिलालेख अब तक नहीं मिला। वि० सं० १२३६ (ई० स० ११७९) से कुछ पूर्व मेवाड़ के गुहिल राजा सामन्तसिंह ने, मेवाड़ का राज्य छूट जाने के पीछे वागड़ के वड़ौदे पर अपना अधिकार जमाया। तदनन्तर उसने तथा उसके वंशजों ने क्रमशः सारा वागड़ इन परमारों से छीन लिया। अब वागड़ के परमारों के वंश में सौंथ (मही-कांठा इलाक़ा, गुजरात) के राजा हैं।

वागड़ के परमारों की राजधानी उत्थूणक नगर (अर्थूणा) थी। अब तो वह प्राचीन नगर नष्ट हो गया है और उसके पास अर्थूणा गांव नया बसा है, परंतु परमारों के समय में वह बड़ा वैभवशाली नगर था। अब भी वहां कई एक बड़े बड़े मंदिर खड़े हैं और कई एक को गिराकर उनके द्वार आदि को लोग उठा ले गये, जो दूर दूर के गांवों के नये मन्दिरों में लगे हुए देखने में आते हैं। अर्थूणा गांव का नया जैनमन्दिर भी वहीं के पुराने मंदिरों से स्तंभ आदि लाकर खड़ा किया गया है।

(१) राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९१४-१५ की रिपोर्ट; पृ० २, लेखसंख्या १।

(२) वही; ई० स० १९१४-१५; पृ० २, लेखसंख्या २।

(३) इस शिलालेख के ऊपर का आधा अंश राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में सुरक्षित है (इसका नीचे का आधा अंश, जो पहले विद्यमान था, अब नहीं रहा)।

(४) राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) की ई० स० १९१४-१५ की रिपोर्ट; पृ० २, लेखसंख्या ३।

(५) वही; ई० स० १९१७-१८ की रिपोर्ट; पृ० २, लेखसंख्या २।

(६) यह शिलालेख राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में सुरक्षित है।

मालवा और वागड़ के परमारों का वंशवृक्ष ।

मालवे के परमारों का वंशवृक्ष (अवशेष)

१४ यशोवर्मा — वि० सं० ११९१–९२
- १५ जयवर्मा
- १६ अजयवर्मा
  - १७ विंध्यवर्मा
    - १८ सुभटवर्मा
      - १९ अर्जुनवर्मा — वि० सं० १२६७–७२
- म० कु० लक्ष्मीवर्मा — वि० सं० १२००
  - म० कु० हरिश्चन्द्रवर्मा — वि० सं० १२३५–३६
    - म० कु० उदयवर्मा — वि० सं० १२५६
    - २० देवपाल — वि० सं० १२७५–९२
      - २१ जयसिंह (दूसरा) जयतुगिदेव, जैत्रमल्ल — वि० सं० १३००–१४
      - २२ जयवर्मा (दूसरा) — वि० सं० १३१४–१७
        - २३ जयसिंह (तीसरा) — वि० सं० १३२६
          - ⋮ २४ अर्जुनवर्मा (दूसरा)
          - ⋮ २५ भोज (दूसरा)
          - ⋮ २६ जयसिंह (चौथा) — वि० सं० १३६६
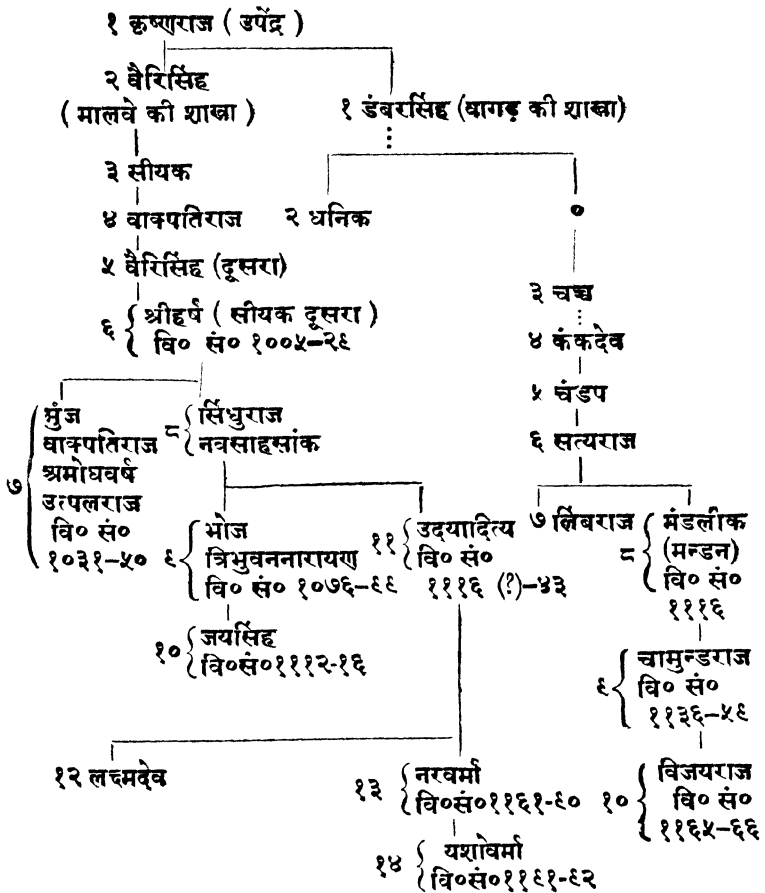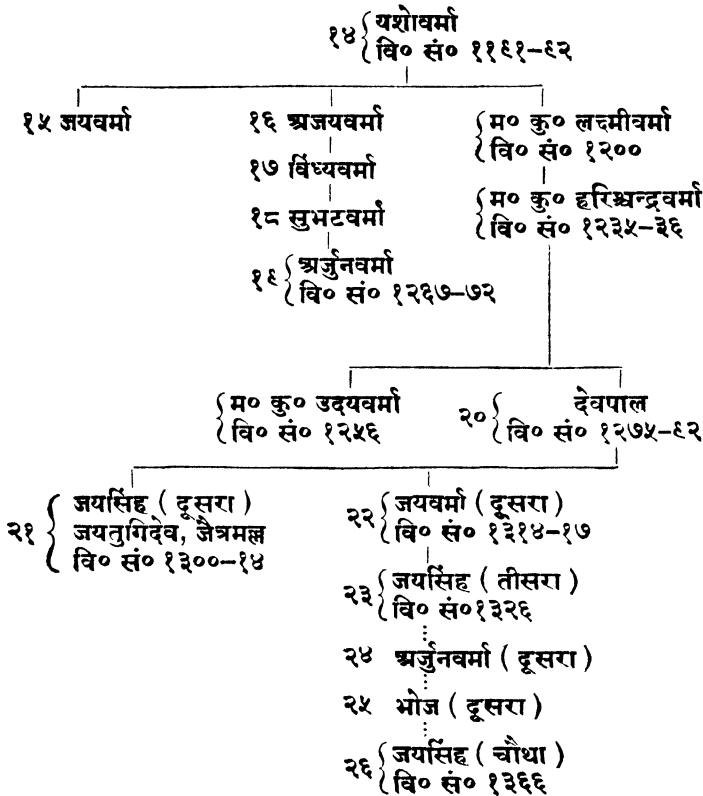
मुंहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात में परमारों की नीचे लिखी हुई ३६ शाखाएं दी हैं—

१–पंवार (परमार) । २–सोढा । ३–सांखला । ४–भाभा । ५–भायल । ६–पेस । ७–पाणीसवल । ८–बहिया । ९–बाहल । १० छाहड़ । ११–मोटसी । १२–हुंबड़ (हुरड़)। १३–सीलोरा । १४–जैपाल । १५–कंगवा । १६–काबा । १७–ऊंमट । १८–धांधु । १९ घुरिया । २०–भाई । २१–कछोड़िया । २२–काला । २३–कालमुहा । २४–खैरा । २५–खूंटा । २६–ढल । २७–ढेखल ।

२८–जागा। २९–हूंठा। ३०–गूंगा। ३१– गैहलड़ा। ३२–कलीलिया। ३३–कूंकणा। ३४–पीथलिया। ३५–डोडा। ३६–बारड़[1]।

इन शाखाओं में से अब परमार, सोढ़ा, सांखला, ऊमट और बारड़ मुख्य हैं। नैणसी के कथन से मालूम होता है कि किराडू (आबू) के राजा धरणीवराह का पुत्र छाहड़ हुआ, जिसके तीन पुत्र—सोढ़ा, सांखला और बाघ—थे। सोढ़ा से सोढ़ा शाखा और सांखला से सांखला शाखा चली। ऊमट शाखा किससे चली यह अनिश्चित है, परंतु उस शाखा के राजगढ़ के राजाओं की जो वंशावली भाटों ने लिखाई वह विश्वास के योग्य नहीं है, क्योंकि उसमें पहले के नाम बहुधा कृत्रिम धरे हुए हैं और संवत् भी अशुद्ध हैं, जैसे कि मालवे के प्रसिद्ध राजा भोज का वि० सं० ३९३ श्रावण वदि १४ (ई० स० ३३६) को गद्दी पर बैठना आदि। इसी तरह भोज के वंशजों की जो नामावली दी है वह भी कृत्रिम ही है। उक्त वंशावली में भोज की नवीं पीढ़ी में धरतीदरहाक राजा का नाम दिया है, जो संभव है आबू का प्रसिद्ध धरणीवराह रहा हो। भाटों ने ऊमट

(१) मुंहणोत नैणसी की ख्यात; जि० १, पृ० २३० तथा मूलपुस्तक; पत्र २१। २। नैणसी ने जो ३६ शाखाओं के नाम दिये हैं उनमें से अधिकतर का तो अब पता ही नहीं चलता। भाटों की भिन्न-भिन्न पुस्तकों में दिये हुए इन शाखाओं के नाम भी परस्पर नहीं मिलते। वंशभास्कर में भी परमारों की ३५ शाखाएं होना लिखा है, परंतु उसमें दिये हुए १७ नाम नैणसी से नहीं मिलते, जो ये हैं—डाभी, हूण, सामंत, सुजान, कुंता, सरवडिया, जोरवा, नल, मयन, पोसवा, सालाउत, रव्बडिया, भलवा, सिंघण, कुरड, उल्लंगा और बावला (वंशभास्कर; प्रथम भाग, पृ० ४१७–१८)। वंशभास्कर में परमार से लगाकर शिवसिंह तक २१४ पीढ़ियां लिखी हैं। उनमें अंत के थोड़े से नामों को, जो बीजोल्यां के परमारों के हैं, छोड़कर बाक़ी के बहुधा सब नाम कल्पित हैं। आबू के परमारों में तो पृथ्वीराज रासे के अनुसार सलख और जैतराव नाम ही दिये हैं। ये दोनों नाम भी कल्पित हैं। ऐसे ही मालवे के प्रसिद्ध राजा भोज का परमार से १६० वीं पीढ़ी में होना लिखा है और उसके दादा का नाम शिवराज दिया है। सिंधुल, भोज और मुंज के वृत्तान्त के लिए 'भोजप्रबंध' की दुहाई दी है। इन बातों से स्पष्ट है कि भाटों को प्राचीन इतिहास का कुछ भी ज्ञान न था, जिससे उन्होंने झूठी वंशावलियां गढ़ ली हैं।

शाखा को धरणीवराह के वंशज उमरसुमरा (सिंध के राजा) की शाखा में बतलाया है, जो विश्वास के योग्य नहीं है। संभव है कि धरणीवराह के ऊमट नामक किसी वंशधर से ऊमट शाखा चली हो। बारड़ शाखा किससे चली यह अनिश्चित है। बारड़ शाखा में इस समय दांता के महाराणा हैं, जो आबू के परमार राजा धंधुक के पुत्र कृष्णराज (कान्हड़देव) दूसरे के वंशज हैं, अतएव संभव है कि बारड़ शाखा उक्त कृष्णराज के किसी वंशधर से चली हो। आबूरोड रेल्वे स्टेशन से ३ मील दूर हृषीकेश के मन्दिर के निकट एक दूसरे मंदिर में सभामंडप के एक ताक में एक राजपूत वीर और उसकी स्त्री की खड़ी मूर्तियां एक ही आसन पर बनी हुई हैं। पुरुष की मूर्ति के नीचे 'बारड़ जगदेव' और स्त्री की मूर्ति के नीचे 'बाड़ केसरदेवी' नाम खुदे हुए हैं। बाड़ शब्द का 'ड़' अक्षर पुरानी शैली का होने से अनुमान होता है कि बारड़ शाखा वि० सं० की १३ वीं शताब्दी के आसपास या उससे भी पूर्व निकली होगी।

नैणसी ने लिखा है कि सोढ़ा से सातवीं पीढ़ी में धारावरिस (धारा वर्ष) था, जिसका एक पुत्र आसराव पारकर का स्वामी और दूसरा दुर्जन-साल उमरकोट का स्वामी हुआ। सोढ़ा पहले सिंध में सुमरों के पास चला गया। सुमरों ने उसे राताकोट जागीर में दिया। पीछे हंमीर सोढ़ा को जाम तमाइची ने उमरकोट की जागीर दी।

नैणसी ने सांखलों के संबंध में पहले तो धरणीवराह के पुत्र छाहड़ के एक बेटे का नाम सांखला दिया, परंतु आगे चल कर यह भी लिख दिया कि छाहड़ के तीसरे पुत्र बाघ के बेटे वैरसी ने मुंदियाड़ के पड़िहारों से लड़ते समय ओसियां (नगरी) की माता की शपथ ले प्रतिज्ञा की थी कि पड़िहारों पर मेरी विजय हुई तो कमलपूजा (अपना सिर काटकर चढ़ाना) करूंगा। विजयी होने पर जब वह अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार देवी को अपना मस्तक चढ़ाने लगा तब माता ने उसका हाथ पकड़ लिया और प्रसन्न होकर अपना शंख उसे दिया और कहा कि शंख बजाकर सांखला कहला। तब से सांखला नाम प्रसिद्ध हुआ। यह कथा भाटों की गढ़ंत है।

वास्तव में छाहड़ के दूसरे पुत्र सांखला के वंशज सांखले कहलाये। उनका ठिकाना पहले रूणकोट (मारवाड़) था। पीछे सांखले महीपाल के पुत्र रायसी (राजसिंह) ने दहियों से जांगलू लिया। फिर सांखले मेहराज को जोधपुर के राठोड़ राव चूंड़ा ने नागोर इलाके का गांव भुंडेल जागीर में दिया। राव जोधा ने मेहराज के पुत्र हरभम (हरबू) को, जो सिद्ध (पीर) माना जाता है, बेंगटी गांव का शासक बना दिया और उसके वंशज वहां रहने लगे। बिलोचों के दबाव से तंग आकर राणा माणकराव का पुत्र नापा जोधपुर जाकर राव जोधा के पुत्र बीका को ले गया और उसको जांगलू का स्वामी बनाया।

इस समय ऊमट शाखा में राजगढ़ और नरसिंहगढ़ के राज्य मालवे (ऊमटवाड़ा) में हैं। बारड़ शाखा का एक राज्य दांता (गुजरात) है। सोढ़ों की जागीरें अब तक उमरकोट इलाक़े में हैं। टेहरी (गढ़वाल) के राजा, बख़तगढ़ के ठाकुर और मथवार के राणा (दोनों मालवे में), बाघल (सिमला हिल स्टेट्स) के राजा, बीजोल्यां (मेवाड़) के राव तथा अन्य छोटे छोटे जागीरदार परमार वंश के हैं। सूंथ (महीकांठा एजेन्सी) के महाराणा वागड़ के परमारों के वंशधर हैं और वे अपने को लिंबदेव (लिंबराज) की परम्परा में बतलाते हैं। बुंदेलखंड में छतरपुर के महाराजा और बेरी के जागीरदार परमार वंश के हैं, परन्तु अब वे बुन्देलों में मिल गये हैं। ऐसे ही देवास (दोनों) और धार के महाराजा तथा फल्टन के स्वामी भी परमारवंशी हैं,।

सोलंकी वंश ।

गुप्तों के पीछे एक समय ऐसा था कि उत्तरी भारत में थाणेश्वर के प्रतापी राजा हर्ष (हर्षवर्द्धन) का और दक्षिणी भारत में सोलंकी पुलुकेशी (दूसरा) का राज्य था। इस प्रतापी (सोलंकी) वंश के राजा बड़े दानी और विद्यानुरागी हुए हैं। उनके सैकड़ों शिलालेख और दानपत्र मिले हैं। अनेक विद्वानों ने उनकी गुणग्राहकता के कारण उनका थोड़ा बहुत इतिहास अपनी-अपनी पुस्तकों में लिखा है। ऐसा माना जाता है कि उनका

राज्य प्रारंभ में अयोध्या में था, जहां से वे दक्षिण में गये, फिर गुजरात, काठियावाड़, राजपूताना और बघेलखंड में उनके राज्य स्थापित हुए। हमारे इस ग्रंथ का संबंध राजपूताने से ही है और गुजरात के सोलंकियों का अधिकार राजपूताने में सिरोही राज्य और जोधपुर राज्य के अधिकांश पर बहुत समय तक और चित्तोड़ तथा उसके आसपास के प्रदेश एवं वागड़ पर थोड़े समय तक रहा, इसलिए केवल गुजरात के सोलंकियों का, जिनका इतिहास बहुत मिलता है, यहां बहुत ही संक्षेप से परिचय दिया जाता है और उसमें भी विशेष कर राजपूताने के संबंध का।

इस समय सोलंकी और बघेल (सोलंकियों की एक शाखा) अपने को अग्निवंशी बतलाते हैं और वशिष्ठ ऋषि के द्वारा आबू पर के अग्निकुंड से अपने मूलपुरुष चुलुक्य (चालुक्य, चौलुक्य) का उत्पन्न होना मानते हैं, परंतु सोलंकियों के वि० सं० ६३५ से १६०० (ई० स० ५७८–१५४३) तक के अनेक शिलालेखों, दानपत्रों तथा पुस्तकों में कहीं उनके अग्निवंशी होने की कथा का लेश भी पाया नहीं जाता। उनमें उनका चंद्रवंशी और पांडवों की वंशपरंपरा में होना लिखा है[1]। वि० सं० १६०० (ई० स० १५४३) के आसपास 'पृथ्वीराज रासा' बना, जिसके कर्त्ता ने इतिहास के अज्ञान से इनको भी अग्निवंशी ठहरा दिया और ये भी अपने प्रचीन इतिहास की अज्ञानता में उसी को ऐतिहासिक ग्रंथ मानकर अपने को अग्निवंशी कहने लगे। गुजरात के सोलंकी राजाओं की नामावली नीचे दी जाती है—

(१) मूलराज (राजि का पुत्र)—उसने अणहिलवाड़े (पाटण) के अन्तिम चावड़ावंशी राजा सामंतसिंह को, जो उसका मामा था, मारकर गुजरात का राज्य उससे छीन लिया। यह घटना वि० सं० ९९८ (ई० स० ९४१) में हुई। उसने गुजरात से उत्तर में अपना अधिकार बढ़ाना शुरू कर आबू के परमार राजा धरणीवराह पर चढ़ाई की, उस समय हथुंडी (जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ इलाक़े में) के राष्ट्रकूट (राठोड़) राजा धवल

(१) सोलंकियों की उत्पत्ति के लिए देखो मेरा 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास'; प्रथम भाग, पृ० ३–१४।

ने उस(धरणीवराह)को अपनी शरण में रक्खा[१]। मूलराज के वि० सं० १०५१ (ई० स० ९९४) के दानपत्र के अनुसार उक्त संवत् में उसने सत्यपुर (सांचोर, जोधपुर राज्य) ज़िले का वरणक गांव दान में दिया था। इससे स्पष्ट है कि आबू के परमारों का राज्य उसने अपने अधीन किया, क्योंकि उस समय सांचोर परमारों के राज्य में था। मूलराज को इस प्रकार उत्तर में आगे बढ़ता देखकर सांभर के चौहान राजा विग्रहराज (वीसलदेव दूसरा) ने उसपर चढ़ाई कर दी, जिससे मूलराज अपनी राजधानी छोड़कर कंथादुर्ग (कंथकोट का क़िला, कच्छ राज्य) में भाग गया। विग्रहराज साल भर तक गुजरात में रहा और उसको जर्जर करके लौटा[२]। उसी समय के आस पास कल्याण के सोलंकी राजा तैलप के सेनापति बारप ने भी, जिसको तैलप ने लाट देश जागीर में दिया था, उसपर चढ़ाई की, परंतु बारप युद्ध में मारा गया। मूलराज सोरठ (दक्षिणी काठियावाड़) के चूडासमा (यादव) राजा ग्रहरिपु पर भी चढ़कर गया। उस समय ग्रहरिपु का मित्र कच्छ का जाड़ेजा (जाड़ेचा, यादव) राजा लाखा फूलाणी (फूल का बेटा) उसकी सहायता के लिए आया। लड़ाई में ग्रहरिपु क़ैद हुआ और लाखा मारा गया[3]। हेमचन्द्र (हेमाचार्य) के 'द्व्याश्रयकाव्य' के अनुसार इस लड़ाई में आबू का राजा, जो मूलराज की सेना में था, वीरता से लड़ा। मूलराज ने सिद्धपुर में 'रुद्रमहालय' नामक बड़ा ही विशाल शिवालय बनवाया तथा उसकी प्रतिष्ठा के समय थाणेश्वर, कन्नौज आदि उत्तरी प्रदेशों के ब्राह्मणों को बुलाया और गांव आदि जीविका देकर उनको वहीं रक्खा। वे उत्तर (उदीची) से आने के कारण औदीच्य कहलाये और गुजरात में बसने के कारण औदीच्य ब्राह्मणों की गणना पीछे से पंचद्रविड़ों में हो गई, परन्तु वास्तव में वे उत्तर के गौड़ ही हैं। उस समय तक ब्राह्मण जाति एक ही थी और उसमें गौड़ और द्रविड़ का भेद

(१) देखो ऊपर पृ० १९२ और टिप्पण २।

(२) ना० प्र० प०; भाग १, पृ० ४२०-२४।

(३) बंब० गै० जि० १, पृ० १५९-६०।

न था। यह भेद उससे बहुत पीछे हुआ। मूलराज ने वि० सं० ६६८[1] से १०५२ (ई० स० ६४१ से ६६५) तक राज्य किया। उसके समय के चार दानपत्र[2] मिले हैं, जो वि० सं० १०३० से १०५१ (ई० स० ६७३ से ६६४) तक के हैं।

(२) चामुंडराज (सं० १ का पुत्र)—उसने मालवे के राजा सिंधुराज (भोज का पिता) को युद्ध में मारा[3], तभी से गुजरात के सोलंकियों और मालवे के परमारों के बीच वंशपरंपरागत वैर हो गया और वे बराबर लड़ते तथा अपनी बरबादी कराते रहे। चामुण्डराज बड़ा कामी राजा था, जिससे उसकी बहिन वाचिणीदेवी (चाचिणीदेवी) ने उसको पदच्युत कर उसके ज्येष्ठ पुत्र वल्लभराज को गुजरात के राज्यसिंहासन पर बैठाया। उसके तीन पुत्र—वल्लभराज, दुर्लभराज और नागराज—थे। उसने वि० सं० १०५२ से १०६६ (ई० स० ६६५ से १००६) तक राज्य किया।

(३) वल्लभराज (सं० २ का पुत्र)—उसने मालवे पर चढ़ाई की, परंतु वह मार्ग में ही बीमार होकर मर गया। उसने प्रायः ६ मास तक राज्य किया। उसका उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई दुर्लभराज हुआ।

(४) दुर्लभराज (सं० ३ का भाई)—उसका विवाह नाडौल के

---

(१) वसुनन्दनिधो(धौ) वर्षे व्यतीते विक्रमार्कतः ॥
मूलदेवनरेशस्तु[चूडाम]णिरभूद्भुवि ॥६॥ (इं. ऐं; जि० ५८, पृ० २३५)।

(२) (क) बड़ौदे का वि० सं० १०३० (ई० स० ६७३) का दानपत्र (वियेना ओरिएण्टल जर्नल; जि० ५, पृ० ३००)।

(ख) वि० सं० १०३३ (ई० स० ६७६) का (अप्रकाशित)। इसका हाल अहमदाबाद निवासी दीवानबहादुर केशवलाल हर्षदराय ध्रुव के पत्र से ज्ञात हुआ।

(ग) कड़ी (बड़ौदा राज्य) का वि० सं० १०४३ (ई० स० ६८६) का दानपत्र (इं. ऐं; जि० ६, पृ० १६१)।

(घ) बालेरा (जोधपुर राज्य) का वि० सं० १०५१ (ई० स० ६६४) का दानपत्र (ए. इं.; जि० १०, पृ० ७८–७६)।

(३) देखो ऊपर पृ० २१०।

चौहान राजा महेंद्र की बहिन दुर्लभदेवी से हुआ था। उसने वि० सं० १०६६ से १०७८ (ई० स० १००६ से १०२१) तक राज्य किया और उसका उत्तराधिकारी उसके छोटे भाई नागराज का पुत्र भीमदेव हुआ।

(५) भीमदेव (सं० ४ का भतीजा)— उसने आबू के परमार राजा धंधुक से, जो उसका सामंत था, विरोध होजाने पर अपने मंत्री पोरवाड़ (प्राग्वाट) जाति के महाजन विमल (विमलशाह) की अधीनता में आबू पर सेना भेजी, जिससे धंधुक, जो उस समय चित्तोड़ में रहता था, मालवे के परमार राजा भोज के पास चला गया। विमलशाह ने धंधुक को चित्तोड़ से बुलवाया और भीमदेव के साथ उसका मेल करा दिया। फिर उसने वि० सं० १०८८ (ई० स० १०३१) में आबू पर देलवाड़ा गांव में विमलवसही नामक आदिनाथ का अपूर्व मंदिर बनवाया[1]। भीम ने सिंध के राजा हंमुक (?) पर चढ़ाई कर उसे परास्त किया। जब वह सिंध की लड़ाई में लगा हुआ था तब मालवे के परमार राजा भोज के सेनापति कुलचंद्र ने अणहिलवाड़े पर चढ़ाई कर उस नगर को लूटा, जिसका बदला लेने के लिए भीम ने मालवे पर चढ़ाई की। उन्हीं दिनों में भोज रोगग्रस्त होकर मर गया। भीम ने आबू के परमार राजा कृष्णराज को भी क़ैद किया, परंतु नाडौल के चौहान राजा बालप्रसाद ने उसे क़ैद से छुड़वाया[2] था। नाडौल के चौहानों का भी भीमदेव के अधीन होना पाया जाता है। वि० सं० १०८२ ई० स० १०२५) में जब ग़ज़नी के सुलतान महमूद ने गुजरात पर चढ़ाई कर सोमनाथ के प्रसिद्ध मंदिर को तोड़ा, जो काठियावाड़ के दक्षिण में समुद्र तट पर है, उस समय भीमदेव ने अपनी राजधानी को छोड़कर एक क़िले (कंथकोट, कच्छ में) की शरण ली। उसने वि० सं० १०७८ से ११२० (ई० स० १०२१ से १०६३) तक राज्य किया। उसके तीन पुत्र मूलराज, क्षेमराज और कर्ण थे। मूलराज का देहांत अपने पिता की जीवित दशा में होगया था। भीमदेव ने अंतिम समय में क्षेमराज को राज्य

(१) देखो ऊपर पृ० १६३।

(२) देखो ऊपर पृ० १६५।

देना चाहा, परंतु उसने स्वीकार न किया और अपने छोटे भाई कर्ण को राज्य देकर वह सरस्वती-तट के एक तीर्थस्थान (मंडूकेश्वर) में जाकर तपस्या करने लगा। भीमदेव के समय के अब तक तीन दानपत्र मिले हैं, जिनमें से दो वि० सं० १०८६[1] (ई० स० १०२६) के और तीसरा वि० सं० ११२० (ई० स० १०६३) का[2] है।

(६) कर्ण (सं० ५ का पुत्र)—मालवे के राजा उदयादित्य ने सांभर के चौहान राजा विग्रहराज (वीसलदेव, तीसरा) से सहायता पाकर कर्ण को जीता था[3]। उसकी राणी मयणल्लदेवी (मीनलदेवी) गोआ के कदम्ब-वंशी राजा जयकेशी की पुत्री थी। कर्ण ने गुजरात के कोली और भीलों को अपने वश किया, जो वहां उपद्रव किया करते थे। वि० सं० ११२० से ११५०, (ई० स० १०६३ से १०६३) तक उसने राज्य किया। 'विक्रमांक-देवचरित' आदि के कर्ता बिल्हण पंडित ने 'कर्णसुन्दरी' नामक नाटिका रची, जिसका नायक यही कर्ण है। कर्णदेव के समय के दो दानपत्र मिले हैं, जिनमें से एक नवसारी[4] (बड़ोदा राज्य) का वि० सं० ११३१ (ई० स० १०७४) का और दूसरा सूनक[5] (बड़ोदा राज्य) का वि० सं० ११४८ (ई० स० १०९१) का है।

(७) जयसिंह (सं० ६ का पुत्र)—गुजरात के सोलंकियों में वह बड़ा ही प्रतापी राजा हुआ। उसका प्रसिद्ध विरुद 'सिद्धराज' था, जिससे वह

---

(१) वि० सं० १०८६ (ई० स० १०२६) का पहला राधनपुर का (भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० १६४) और दूसरा वि० सं० १०८६ (ई० स० १०२६) का मुंडक गांव (गुजरात) का दानपत्र (जर्नल ऑव दी बांबे ब्रांच रॉयल एशियाटिक सोसाइटी; जि० २०, पृ० ४६)।

(२) वि० सं० ११२० (ई० स० १०६३) का पालनपुर का दानपत्र (एपिग्राफिया इंडिका; जि० २१, पृ० १७२)।

(३) देखो ऊपर पृ० २१५।

(४) जर्नल ऑव दी बाम्बे ब्रांच रॉयल एशियाटिक सोसाइटी; जिल्द २६, पृ० २५७।

(५) एपिग्राफिया इंडिका; जि० १, पृ० ३१७-१८।

सिद्धराज जयसिंह नाम से अधिक विख्यात है। जिस समय वह सोमनाथ की यात्रा को गया था तब मालवे के परमार राजा नरवर्मा ने गुजरात पर चढ़ाई कर दी, जिसके वैर में मालवे पर चढ़ाई कर जयसिंह १२ वर्ष तक उससे लड़ता रहा। इस लड़ाई में नरवर्मा का देहान्त हुआ और उसके पुत्र यशोवर्मा के समय इस युद्ध की समाप्ति हुई। अंत में यशोवर्मा हारा, क़ैद हुआ और मालवा कुछ समय तक के लिए गुजरात के राज्यांतर्गत हो गया[1]। इसके साथ चित्तोड़ का क़िला तथा उसके आसपास के प्रदेश, एवं वागड़ पर भी जयसिंह का अधिकार हुआ[2], जो कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल के समय तक किसी प्रकार बना रहा। आबू के परमार तथा नाडौल के चौहान तो पहले ही से गुजरात के राजाओं की अधीनता में चले आते थे। जयसिंह ने महोबा के चंदेल राजा मदनवर्मा पर भी चढ़ाई की थी, परंतु उसमें उसको विजय प्राप्त हुई हो, यह संदिग्ध है। उसने सोरठ पर चढ़ाई कर गिरनार के यादव (चूडासमा) राजा खंगार (दूसरा) को क़ैद किया, बर्बर आदि जंगली जातियों को अपने अधीन किया और अजमेर के चौहान राजा आना (अर्णोराज, आनाक, आनल्लदेव) पर विजय प्राप्त की, परंतु पीछे से सुलह हो जाने के कारण उसने अपनी पुत्री कांचन-देवी का विवाह आना के साथ कर दिया, जिससे सोमेश्वर का जन्म हुआ[3]। सिद्धराज सोमेश्वर को बचपन में ही अपने यहां ले गया था और उसका देहान्त होने पर उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल ने उसका पालन किया। सिद्धराज बड़ा ही लोकप्रिय, न्यायी, विद्यारसिक और जैनों का भी विशेष सम्मान करनेवाला हुआ। प्रसिद्ध विद्वान् जैन आचार्य हेमचंद्र (हेमाचार्य) का यह बड़ा सम्मान करता था। उसके दरबार में कई विद्वान् रहते थे, जैसे—'वैरोचनपराजय' का कर्त्ता श्रीपाल, 'कविशिक्षा' का कर्त्ता जयमंगल (वाग्भट), 'गणरत्नमहोदधि' का कर्त्ता वर्द्धमान तथा सागरचंद्र आदि।

(१) देखो ऊपर पृ० २१६-२०।

(२) ना० प्र० प०; भाग ३, पृ० ६ का टिप्पण १

(३) वही; भाग १, पृ० ३६३-६४

श्रीपाल तो उसके दरबार का मुख्य कवि था, जो कुमारपाल के समय भी उसी पद पर रहा। वर्द्धमान ने 'सिद्धराजवर्णन' नामक ग्रंथ लिखा था[1]। सागरचंद्र ने भी सिद्धराज की प्रशंसा में कोई काव्य लिखा हो ऐसा गण-रत्नमहोदधि' में उससे उद्धृत किये हुए श्लोकों से पाया जाता है[2]। वि० सं० ११५० से ११९९ (ई० स० १०९३ से ११४२) तक सिद्धराज ने राज्य किया। उसके कोई पुत्र न होने के कारण[3] उसके पीछे उपर्युक्त राजा कर्ण के बड़े भाई क्षेमराज के पुत्र देवप्रसाद का पौत्र (त्रिभुवनपाल का पुत्र) कुमारपाल गुजरात के राज्यसिंहासन पर बैठा।

---

(१) ना० प्र० प०; भाग ३, पृ० ८, टिप्पण २।

(२) वही; भाग ३, पृ० ९ के नीचे का टिप्पण।

(३) भाटों की ख्यातों मे सिद्धराज जयसिंह के ७ पुत्र—कुमारपाल, बाघराव, गहिलराव, तेजसी (तूनराव), मलग्वान, जोवर्नाराव और सगतिकुमार (शक्तिकुमार)—होना लिखा है और कुमारपाल को उसका उत्तराधिकारी तथा बाघराव से बघेल शाखा का चलना बतलाया है, परंतु सिद्धराज के ७ पुत्र होने और बाघराव से बावेला (बघेल) शाखा का चलना, ये दोनों कथन विश्वास के योग्य नहीं हैं। हेमचंद्रसूरि (हेमाचार्य) ने, जो सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल दोनों के समय जीवित था, अपने द्व्याश्रयकाव्य मे लिखा है कि जयसिंह को पुत्रमुखदर्शन का सुख न मिला। वह पैदल चलता हुआ देवपाटण (वेरावल) पहुंचा। वहां उसने सोमनाथ का पूजन किया, तदनंतर अकेला मंदिर में बैठकर समाधिस्थ हो गया। शंकर ने प्रत्यक्ष हो उसे दर्शन दिया, परंतु जब उसने पुत्र के लिए याचना की तो यही उत्तर मिला कि तेरे पीछे तेरे भाई त्रिभुवनपाल का पुत्र कुमारपाल राजा होगा ('द्व्याश्रयकाव्य,' सर्ग १५, श्लोक ३७–५६)। चित्तोड़ के क़िले से मिले हुए स्वयं कुमारपाल के शिलालेख में पुत्रप्राप्ति के लिए जयसिंह के सोमनाथ जाने तथा शंकर से याचना करने पर उसके पीछे कुमारपाल के राजा होने का उत्तर मिलना कहा है और वही भीमदेव से लगाकर कुमारपाल तक का संबंध भी बतलाया है—

पुत्रार्थं चरणप्र[चा]रविधिना श्रीसोमनाथं ययौ।
देवोप्यादिशतिस्म··· ··· ··· ··· ॥
पूर्वं श्रीभीमदेवस्य क्षेमराजसुतोभवत्।
क्षमाक्षेमक्षमैर्मुख्यैर्यो रराज गुणैरपि ॥

जयसिंह के समय के ८ शिलालेख[1] मिले हैं, जो वि० सं० ११८६ (ई० स० ११२९) से वि० सं० ११९८ (ई० स० ११४१) तक के हैं।

(८) कुमारपाल (सं० ७ का कुटुंबी)-वह गुजरात के सोलंकियों में सब से प्रतापी हुआ, परंतु राज्य पाने से पहले का समय उसने बड़ी ही आपत्ति में व्यतीत किया था, क्योंकि जयसिंह (सिद्धराज) उसको मरवाना चाहता था, जिससे वह भेष बदलकर प्राण बचाता फिरता था। उसने

तस्माद्देवप्रसादोभूद्देवाराधन···।···॥
कौस्तुभ इव रत्ननिधिस्त्रिभुवनपालाह्वयोभवत्तस्मात्।···॥
कुमारपालदेवाख्यः श्रीमानस्यास्ति नंदनः।···॥
इति देवे··· ··· ··· ··· ···॥

कुमारपाल का चित्तोड़ का शिलालेख (अप्रकाशित)। ऐसा ही कृष्णकवि के 'रत्नमाल', जिनमंडन के 'कुमारपालप्रबंध', जयसिंहसूरि के 'कुमारपालचरित' आदि ग्रन्थों में लिखा है; वही विश्वास के योग्य है। कुमारपाल जयसिंह का पुत्र नहीं, किन्तु कुटुम्बी था।

(१) (क) गाला (ध्रांगध्रा राज्य) का वि० सं० ११९३ का (ज० बा० ब्रा० रो० ए० सो०; जि० २५, पृ० ३२४)।

(ख) गाला का वि० सं० ११९३ का (राजकोट के वाटसन म्यूज़ियम् की रिपोर्ट; ई० स० १९२२-२३, पृ० ७)।

(ग) उज्जैन का वि० सं० ११९५ का (मूल लेख की छाप से)।

(घ) भद्रेश्वर (कच्छ राज्य) का वि० सं० ११९५ का (आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑव् वेस्टर्न इण्डिया; नं० २, शेष संग्रह पृ० १३, सं० ५६)।

(ङ) दोहद (गुजरात) का वि० सं० ११९६ का (इं. ऐ.; जि० १०, पृ० १५९)।

(च) भीनमाल (जोधपुर राज्य) का वि० सं० ११९६ (ई० स० ११३९) का (प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑव दी आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, वेस्टर्न सर्केल; ई० स० १९०७—८, पृ० ३८)।

(छ) किराडू (जोधपुर राज्य) का वि० सं० ११९८ का (मूल लेख की छाप से)।

(ज) तलवाड़ा (बांसवाड़ा राज्य) से (बिगड़ा हुआ) राजपूताना म्यूज़ियम् अजमेर की रिपोर्ट; (ई० स० १९१४-१५, पृ० २, लेख संख्या ४)।

अजमेर के चौहान राजा आना (अर्णोराज) पर दो चढ़ाइयां कीं, जिनमें से पहली वि० सं० १२०१ (ई० स० ११४४) के आसपास हुई। उसमें कुमारपाल को विजय प्राप्त हुई हो ऐसा निश्चित नहीं। दूसरी चढ़ाई वि० सं० १२०७ (ई० स० ११५०) में की, जिसमें वह विजयी हुआ था। पहली चढ़ाई में आबू का परमार राजा विक्रमसिंह आना से मिल गया, जिससे कुमारपाल ने विक्रमसिंह को कैद कर उसके भतीजे यशोधवल को आबू का राज्य दिया[1]। कुमारपाल ने मालवे के राजा बल्लाल को मारा और कोंकण के शिलारावंशी राजा मल्लिकार्जुन पर दो बार चढ़ाइयां कीं। पहली चढ़ाई में उसकी सेना को हारकर लौटना पड़ा, परंतु दूसरी चढ़ाई में विजय प्राप्त हुई। इस चढ़ाई में चौहान सोमेश्वर (पृथ्वीराज का पिता) ने, जिसने बाल्यावस्था ननिहाल में व्यतीत की थी और जयसिंह (सिद्धराज) तथा उसके क्रमानुयायी कुमारपाल ने बड़े स्नेह से जिसका पालन किया था, मल्लिकार्जुन का सिर काटा था[2]। कुमारपाल बड़ा प्रतापी और नीतिनिपुण था। उसके राज्य की सीमा दूर दूर तक फैल गई थी और मालवा तथा राजपूताने का अधिकांश उसके अधीन था। प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचंद्र (हेमाचार्य) के उपदेश से उसने जैन धर्म स्वीकार कर अपने राज्य में जीवहिंसा रोक दी। कुमारपाल के समय का एक दानपत्र[3] और १४ शिलालेख[4] गुजरात, राजपूताना और मालवे में मिले हैं, जो वि० सं० १२०२

(१) देखो ऊपर पृ० १९६।

(२) ना० प्र० प; भाग १, पृ० ३९९।

(३) नाडौल (जोधपुर राज्य) का वि० सं० १२१३ (ई० स० ११५६) का दानपत्र (इं० ऐं० जि० ४१, पृ० २०३)।

(४) (क) मांगरोल (काठियावाड़) का वि० सं० १२०२ (ई० स० ११४५) का (भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स; पृ० १५८)।

(ख) किराडू (जोधपुर राज्य) का वि० सं० १२०५ (ई० स० ११४८) का (मूल लेख की छाप से)।

(ग) चित्तोड़गढ़ (उदयपुर राज्य) का वि० सं० १२०७ (ई० स० ११५०) का (ए० इं०; जि० २, पृ० ४२२)।

(ई० स० ११४५) से वि० सं० १२३० (ई० स० ११७३) तक के हैं। उसने वि० सं० ११६६ से १२३० (ई० स० ११४२ से ११७३) तक राज्य किया। उसके सब से बड़े भाई महीपाल का पुत्र अजयपाल उसके पीछे राज्य-सिंहासन पर बैठा।

(६) अजयपाल (सं० ८ का भतीजा)—उस निर्बुद्धि राजा के समय से ही गुजरात के सोलंकियों के राज्य की अवनति प्रारंभ हुई। मेवाड़ के राजा सामंतसिंह के साथ युद्ध में हारकर वह बुरी तरह से घायल हुआ उस समय आबू के परमार राजा धारावर्ष के छोटे भाई

(घ) वड़नगर (बड़ौदा राज्य) का वि० सं० १२०८ (ई० स० ११५१) का (ए० इं०; जि० १, पृ० २९६)।

(ङ) किराडू का वि० सं० १२०९ (ई० स० ११५२) का (ए० इं० जि० ११, पृ० ४४–४६)।

(च) पाली (जोधपुर राज्य) का वि० सं० १२०९ का (प्रो० रि० आ० स० वे० इं०; ई० स० १९०७–८, पृ० ४५)।

(छ) भाटूंद (जोधपुर राज्य) का वि० सं० १२१० (ई० स० ११५३) का (वही; ई० स० १९०७–८; पृ० ५२)।

(ज) बाली (जोधपुर राज्य) का वि० सं० १२१६ (ई० स० ११५९) का (वही; ई० स० १९०७–८, पृ० ५५)।

(झ) किराडू का वि० सं० १२१८ (ई० स० ११६१) का (पूर्णचंद्र नाहर; जैनलेख संग्रह; जि० १, पृ० २५३)।

(ञ) उदयपुर (ग्वालियर राज्य) का वि० सं० १२२० (ई० स० ११६३) का (इं० ऐं० जि० १८, पृ० ३४३)।

(ट) जालोर (जोधपुर राज्य) का वि० सं० १२२१ (ई० स० ११६४) का (ए. इं.; जि० ११, पृ० ५५)।

(ठ) नारलाई (जोधपुर राज्य) का वि० सं० १२२८ (ई० स० ११७१) का (ए. इं.; जि० ४, पृ० १२२)।

(ड) चित्तौड़गढ़ का विना संवत् का।

(मूल लेख की छाप से)।

(ढ) रतनगढ़ (जोधपुर राज्य) का विना संवत् का।

(भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० २०६)।

प्रल्हादन ने गुजरात की रक्षा की[1]। उसने जैन धर्म का विरोध कर बहुत अत्याचार किया और वि० सं० १२३३ (ई० स० ११७६) में अपने ही एक द्वारपाल के हाथ से वह मारा गया। उसके समय का एक शिलालेख और एक दानपत्र मिला है, जो क्रमशः वि० सं० १२२६ और १२३१ (ई० स० ११७२ और ११७४) के हैं[2]।

(१०) मूलराज दूसरा (सं० ६ का पुत्र)—वह बाल्यावस्था में ही गुजरात का राजा हुआ, जिससे उसको बालमूलराज भी कहते हैं। उसके समय में सुलतान शहाबुद्दीन गोरी ने गुजरात पर चढ़ाई की थी और आबू के नीचे (कायद्रां गांव के पास) लड़ाई हुई, जिसमें सुलतान घायल हुआ और हारकर लौट गया[3]। फ़ारसी इतिहासलेखक उस लड़ाई का भीमदेव के समय होना लिखते हैं, परंतु संस्कृत ग्रंथकारों ने उसका मूलराज के समय में होना माना है, जिसका कारण यही है कि उसी समय में मूलराज का देहांत और भीमदेव (दूसरा) का राज्याभिषेक हुआ था। मूलराज ने वि० सं० १२३३ से १२३५ (ई० स० ११७६ से ११७८) तक गुजरात पर राज्य किया।

(११) भीमदेव दूसरा (सं० १० का छोटा भाई)—वह भोलाभीम के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसने भी बाल्यावस्था में राज्य पाया था, जिससे उसके मंत्रियों तथा सामंतों ने उसका बहुतसा राज्य दबा लिया[4]। कितने ही सामंत स्वतन्त्र हो गये और उसके संबंधी जयंतसिंह (जैत्रसिंह) ने उससे अणहिलवाड़े की गद्दी भी छीन ली थी, परंतु अंत में उसको वहां से हटना पड़ा। सोलंकियों की बघेल शाखा का राणा अर्णोराज का पुत्र

---

(१) देखो ऊपर पृ० १६६।

(२) (क) उदयपुर (ग्वालियर राज्य) का वि० सं० १२२६ (ई० स० ११७२) का शिलालेख (इं० ऐं०; जि० १८, पृ० ३४७)।

(ख) वि० सं० १२३१ (? १२३२) का दानपत्र (इं० ऐं०; जि० १८, पृ० ८२)।

(३) देखो ऊपर पृ० १६७।

(४) देखो ऊपर पृ० १६८।

लवणप्रसाद और उसका पुत्र वीरधवल दोनों भीमदेव के पक्ष में रहे। भीम-देव के समय कुतुबुद्दीन ऐबक ने गुजरात पर चढ़ाई की और आबू के नीचे (कायद्रां गांव के पास) अपने मार्ग-अवरोधक परमार धारावर्ष तथा गुजरात के अन्य सामंतों को हराकर गुजरात को लूटा[1]। भोलाभीम ने वि० सं० १२३५ से १२९८ (ई० स० ११७८ से १२४१) तक राज्य किया। वह नाममात्र का राजा रहा, क्योंकि सारी राज्यसत्ता लवणप्रसाद और उसके पुत्र वीरधवल के हाथ में थी। उसके पीछे उसका कुटुंबी त्रिभुवनपाल अणहिलवाड़े की गद्दी पर बैठा, जिसका उसके साथ क्या संबंध था यह अब तक ज्ञात नहीं हुआ।

भीमदेव (दूसरा) के समय के ११ ताम्रपत्र[2] और ६ शिलालेख[3]

---

(१) देखो ऊपर पृ० १९७।

(२) (क) वीरपुर (गातोड़, उदयपुर राज्य) का वि० सं० १२४२ का (अप्रकाशित)। सारांश के लिए देखो रा. म्यू. अ. की ई० स० १९२९-३० की रिपोर्ट, पृ० २, लेख संख्या २।

(ख) पाटण (बड़ौदा राज्य) का वि० सं० १२५६ का (इं० ऐं०; जि० ११, पृ० ७१)।

(ग) आहाड़ (उदयपुर राज्य) का वि० सं० १२६३ का। सातवीं ओरि-एन्टल कान्फ्रेन्स (बड़ौदा) की कार्यवाही में प्रकाशित होगा।

(घ) कड़ी (बड़ौदा राज्य) का वि० सं० १२६३ का (इं० ऐं०; जि० ६, पृ० १९४)।

(ङ) टिमाणा (भावनगर राज्य) का वि० सं० १२६४ का (इं० ऐं०; जि० ११, पृ० ३३७)।

(च) रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के संग्रह का वि० सं० १२६६ का। वही; जि० १८, पृ० ११२।

(छ) कड़ी का वि० सं० १२८३ का (इं० ऐं०; जि० ६, पृ० १९९)।

(ज) कड़ी का वि० सं० १२८७ का। वही; जि० ६, पृ० २०१।

(झ) कड़ी का वि० सं० १२८८ का। वही; जि० ६, पृ० २०३।

(ञ) कड़ी का वि० सं० १२९५ का। वही; जि० ६; पृ० २०५।

(ट) कड़ी का वि० सं० १२९६ का। वही; जि० ६, पृ० २०६।

(३) (क) किराडू (जोधपुर राज्य) का वि० सं० १२३५ का (मूल लेख की छाप से)।

अब तक मिले हैं, जो वि० सं० १२३५ (ई० स० ११७८) से वि० सं० १२६६ (ई० स० १२३६) तक के हैं।

(१२) त्रिभुवनपाल (सं० ११ का उत्तराधिकारी)—वह मेवाड़ के राजा जैत्रसिंह के साथ कोट्टडक (कोटड़ा) के पास लड़ा[1] और वि० सं० १३०० (ई० स० १२४३) के आसपास सोलंकियों की बघेल शाखा के वीरधवल के पुत्र वीसलदेव ने उससे गुजरात का राज्य छीन लिया। उसका एक ताम्रपत्र[2] वि० सं० १२९९ (ई० स० १२४२) का मिला है।

बघेल या बघेले (वाघेले) गुजरात के सोलंकियों की छोटी शाखा में हैं, परंतु अब तक किसी पुस्तक या शिलालेख आदि से यह पता नहीं लगा कि उनकी शाखा किस राजा से निकली। भाटों की ख्यातों में तो यह लिखा है कि सिद्धराज जयसिंह के ७ पुत्र थे, जिनमें से दूसरे पुत्र बाघराव के वंशज बघेल कहलाये। सिद्धराज जयसिंह के कोई पुत्र न होने से ही उसका कुटुंबी कुमारपाल उसका उत्तराधिकारी हुआ जैसा कि ऊपर (पृ० २४५ में) बतलाया जा चुका है।

बघेल सोलंकी

(ख) पाटण (बड़ौदा राज्य) का वि० सं० १२३६ का।

(ग) बड़ा दीवड़ा (डूंगरपुर राज्य) का वि० सं० १२५३ का। रा० म्यू० अ० की ई० स० १९१४–१५ की रिपोर्ट; पृ० २।

(घ) कनखल (माउंट आबू) का वि० सं० १२६५ का (इं० ऐं०; जि० ११, पृ० २२१)।

(ङ) वेरावल (काठियावाड़) का वि० सं० १२७३ का (ए० इं०; जि० २, पृ० ४३९)।

(च) भराणा (काठियावाड़) का वि० सं० १२७५ का (भावनगर इंस्क्रिप्शन्स, पृ० २०५)।

(छ) नाणा (जोधपुर राज्य) का वि० सं० १२८३ का। प्रॉ० रि० आ० स० वे० स०; ई० स० १९०७–८।

(ज-झ) देलवाड़ा (आबू) के वि० सं० १२८७ के दो लेख (ए० इं०; जि० ८, पृ० २०८–१२ और २१९–२२२)।

(१) ना० प्र० प०; भाग ३, पृ० २, टि० १।

(२) कड़ी (बड़ौदा राज्य) का वि० सं० १२९९ का (इं० ऐं०; जि० ६, पृ० २०८)।

ऐसी दशा में भाटों का कथन विश्वास के योग्य नहीं हो सकता। सोलंकियों के इतिहास से संबंध रखनेवाली पुस्तकों के अनुसार सोलंकी वंश की दूसरी शाखा के धवल नामक पुरुष का विवाह कुमारपाल की मौसी के साथ हुआ था, जिसके गर्भ से अर्णोराज (आनाक, आना) ने जन्म लिया। उस (अर्णोराज) ने कुमारपाल की अच्छी सेवा की, जिससे प्रसन्न होकर कुमारपाल ने उसको व्याघ्रपल्ली (वघेल, अणहिलवाड़े से १० मील पर) गांव दिया और उक्त गांव के नाम पर उसके वंशज 'व्याघ्रपल्लीय' या बघेल कहलाये[1]। इस कथन को हम भाटों के उपर्युक्त कथन से अधिक विश्वसनीय समझते हैं।

अर्णोराज का पुत्र लवणप्रसाद भीमदेव (दूसरा) का मंत्री बना और उसको जागीर में धोलके का परगना आया। लवणप्रसाद की स्त्री मदनराज्ञी से वीरधवल का जन्म हुआ। वृद्धावस्था में लवणप्रसाद ने राज-काज वीरधवल के सुपुर्द कर दिया, जिससे वही (वीरधवल) भीमदेव के राज्य का संचालक हुआ। वह वीर प्रकृति का पुरुष था। उसने भद्रेश्वर (कच्छ), वामनस्थली (वंथली, काठियावाड़) और गोधरा के राजाओं पर विजय प्राप्त की। आबू का परमार धारावर्ष तथा जालोर का चौहान उदयसिंह आदि मारवाड़ के चार राजा गुजरात से स्वतंत्र हो गये थे, परंतु जब दक्षिण से यादव राजा सिंहण और उत्तर से दिल्ली का सुलतान शमशुद्दीन अल्तमश गुजरात पर चढ़ाई करनेवाले थे, तब वीरधवल ने उन चारों राजाओं को फिर से गुजरात के पक्ष में करलिया[2]। उसके मंत्री वस्तुपाल और तेजपाल नामक दो भाई (पोरवाड़ जाति के महाजन) थे, जिन्होंने उसके राज्य की बड़ी उन्नति की और जैन धर्म के कामों में अगणित द्रव्य व्यय किया। ये दोनों भाई बड़े ही नीतिनिपुण थे। वस्तुपाल वीरपुरुष था इतना ही नहीं, किंतु प्रसिद्ध विद्वान् भी था और अनेक विद्वानों को उसने बहुत कुछ धन दिया था। सोमेश्वर ने 'कीर्तिकौमुदी' में, बालचंद्रसूरि ने

(१) बाम्बे० गै०; जि० १, भाग १, पृ० १९८।

(२) ना० प्र० प०; भाग ३, पृ० १२४ और टिप्पण ४।

'वसंतविलास' में, अरिसिंह ने 'सुकृतसंकीर्तन' में और जिनहर्ष ने 'वस्तुपालचरित' में उसका विस्तृत चरित्र लिखकर उसकी कीर्ति अमर कर दी है। 'उपदेशतरंगिणी', 'प्रबंधचिन्तामणि', 'प्रबंधकोष' (चतुर्विंशतिप्रबंध), 'हंमीरमदमर्दन', 'वस्तुपालतेजःपालप्रशस्ति', 'सुकृतकल्लोलिनी' आदि पुस्तकों तथा अनेक शिलालेखों में इन दोनों भाइयों का बहुत कुछ वर्णन मिलता है। वस्तुपाल ने 'नरनारायणानंद' महाकाव्य लिखा और उसकी कविता सुभाषित ग्रंथों में भी मिलती है। तेजपाल ने आबू पर देलवाड़ा गांव में अपने पुत्र लूणसिंह के नाम से करोड़ों रुपये लगाकर लूणवसही नामक नेमिनाथ का अपूर्व मंदिर वि० सं० १२८७ (ई० स० १२३०) में बनवाया। वीरधवल का देहान्त वि० सं० १२९४ या १२९५ (ई० स० १२३७ या ३८) में हुआ। उसके तीन पुत्र प्रतापमल्ल, वीरम और वीसल थे। प्रतापमल्ल का देहांत वीरधवल की जीवित दशा में हो गया था, जिससे उसकी जागीर का हक़दार वीरम था। उसने पिता के मरते ही अपने को उसका उत्तराधिकारी मान लिया, परंतु उसके उद्धत होने के कारण मंत्री वस्तुपाल ने वीसलदेव का पक्ष लेकर उसी को धोलके की जागीर दी। वीरम कुछ इलाक़ा दबाकर एक दो वर्ष गुजरात में रहा। फिर वहां से भागकर अपने श्वसुर जालोर के चौहान उदयसिंह के यहां जाकर रहने लगा, परंतु वस्तुपाल के यत्न से वहीं मारा गया[1]। यहां तक इन धोलका के बघेलों का राजपूताने से कोई संबंध न था और वे राजा नहीं, किंतु गुजरात के राजाओं के सामंत थे। वीसलदेव धोलके का स्वामी होने के पीछे वि० सं० १३०० (ई० स० १२४३) के आसपास अणहिलवाड़े के राजा त्रिभुवनपाल का राज्य छीनकर गुजरात के राज्य-सिंहासन पर बैठ गया तब से उसका संबंध राजपूताने से हुआ।

(१) वीसल (धोलके के राणा वीरधवल का तीसरा पुत्र)—उसको विश्वमल्ल और विश्वल भी कहते थे। गुजरात का राज्य छीनने के पीछे वह मेवाड़ और मालवे के राजाओं से लड़ा। उस समय मेवाड़ का राजा

(१) ना० प्र० प०; भाग ४, पृ० २७० का टिप्पण।

जैत्रसिंह या उसका पुत्र तेजसिंह और मालवे का राजा परमार जयतुगिदेव या जयवर्मा (दूसरा) होना चाहिये। मालवे के उक्त राजा के साथ की लड़ाई के संबंध में गणपति व्यास ने 'धाराध्वंस' नामक काव्य भी लिखा था। वि० सं० १३०० से १३१८ (ई० स० १२४३ से १२६१) तक उसने गुजरात पर राज्य किया। उसके पीछे उस(वीसल)के बड़े भाई प्रतापमल्ल का पुत्र अर्जुनदेव गुजरात का राजा हुआ। उसके समय के तीन शिलालेख[1] और एक ताम्रपत्र[2] मिला है, जो वि० सं० १३०८-१३१७ (ई० स० १२५१-१२६०) तक के हैं।

(२) अर्जुनदेव का विरुद निःशंकमल्ल था। उसके समय का एक शिलालेख वि० सं० १३२० (ई० स० १२६३) का अजारी गांव (सिरोही राज्य) में गोपालजी के मंदिर की फ़र्श में लगा हुआ है, जिसके अनुसार उसके समय तक आबू के परमार किसी प्रकार गुजरात के सोलंकियों की अधीनता में थे। उसका राजत्वकाल वि० सं० १३१८ से १३३१ (ई० स० १२६१ से १२७४) तक रहा। उसके दो पुत्र-रामदेव और सारंगदेव-थे। अजारी के शिलालेख के अतिरिक्त अर्जुनदेव के तीन शिलालेख[3] और मिले हैं, जो वि० सं० १३२० से १३३० (ई० स० १२६३ से १२७३) तक के हैं।

(१) (क) अहमदाबाद (गुजरात) का वि० सं० १३०८ का (ए० इं०; जि० ५, पृ० १०३)।

(ख) डभोई (बड़ौदा राज्य) का वि० सं० १३११ का। वही; जि १, पृ० २५।

(ग) पोरबन्दर (काठियावाड़) का वि० सं० १३१५ का। वाट्सन म्यूज़ियम (राजकोट) की ई० स० १९२१-२२ की रिपोर्ट; पृ० १५।

(२) कड़ी (बड़ौदा राज्य) का वि० सं० १३१७ का (इं० ऐं०; जि० ६, पृ० २१०)।

(३) (क) वेरावल (काठियावाड़) का वि० सं० १३२० का (इं० ऐं०; जि० ११, पृ० २४२)।

(ख) कांटेला (काठियावाड़) का वि० सं० १३२० का। बुद्धिप्रकाश (गुजराती); जनवरी ई० स० १९१४।

(ग) गिरनार (काठियावाड़) का वि० सं० १३३० का। माइथोलॉजीकल सोसाइटी का जर्नल; जि० १४, पृ० २४३।

(३) रामदेव (सं० २ का पुत्र)—उसने थोड़े ही समय तक राज्य किया, जिससे उसका नाम किसी ने छोड़ दिया और किसी ने लिखा भी है।

(४) सारंगदेव (सं० ३ का छोटा भाई)—उसने गोगदेव को, जो फ़ारसी तवारीख़ों के अनुसार पहले मालवे के राजा का प्रधान था; परंतु पीछे से अवसर पाकर जिसने वहां का आधा राज्य बंटवा लिया था, हराया। सारंगदेव ने वि० सं० १३३१ से १३५३ (ई० स० १२७४ से १२९६) तक शासन किया। उसके समय के आठ शिलालेख[1] मिले हैं, जो वि० सं० १३३२ से १३५२ (ई० स० १२७५ से १२९५) तक के हैं।

(५) कर्णदेव (सं० ४ का पुत्र)—गुजरात में वह करणघेला (घेला=पागल) के नाम से अबतक प्रसिद्ध है। उसके समय वि० सं० १३५६ (ई० स० १२९९) में दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन ख़िलजी के छोटे भाई उलगख़ां तथा नस्रतख़ां जलेसरी ने गुजरात पर चढ़ाई कर कर्णदेव का राज्य छीन लिया। राजा भागकर देवगिरी के यादव राजा रामदेव के साथ रहने लगा था। इसप्रकार गुजरात के सोलंकी-राज्य की समाप्ति हुई।

---

(१) (क) खोखरा (कच्छ राज्य) का वि० सं० १३३२ का (इं. ऐं; जि० २१, पृ० २७७)।

(ख) आमरां (काठियावाड़) का वि० सं० १३३३ का। पुरातत्व (गुजराती); जि० १, भा० १, पृ० ३७।

(ग) ब्रिटिश म्यूज़ियम् (लन्दन) का वि० सं० १३३५ का (ए. इं; जि० ५, शेष संग्रह पृ० ३४, नं० २३७)।

(घ) वेरावल (जूनागढ़ राज्य) का वि० सं० १३४३ का। वही; जि० १, पृ० २८०।

(ङ) वंथली (काठियावाड़) का वि० सं० १३४६ का (ऍनल्स ऑव दी भंडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट; जि० ५, पृ० १७४)।

(च) अनावाड़ा (बड़ौदा राज्य) का वि० सं० १३४८ का (इं. ऐं; जि० ४१, पृ० २१)।

(छ) आबू का वि० सं० १३५० का विमलशाह के मंदिर का (मूललेख की छाप से)।

(ज) खंभात (बॉम्बे प्रेसीडेन्सी) का वि० सं० १३५२ का (भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स; पृ० २२७)।

गुजरात के सोलंकियों का वंशवृक्ष
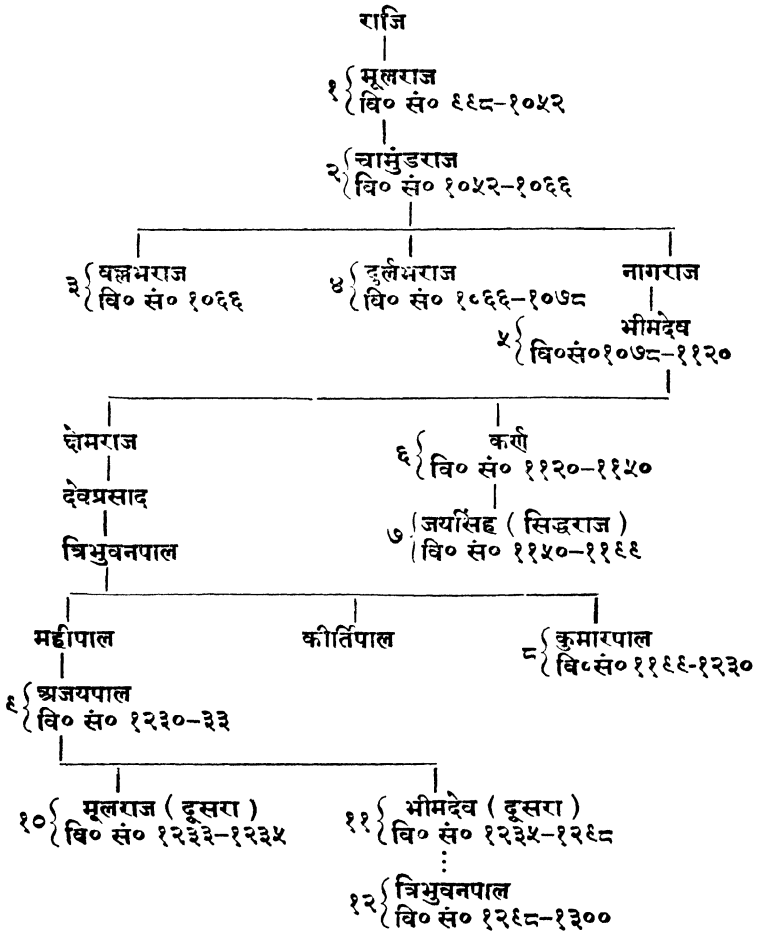
गुजरात के बघेलों का वंशवृक्ष
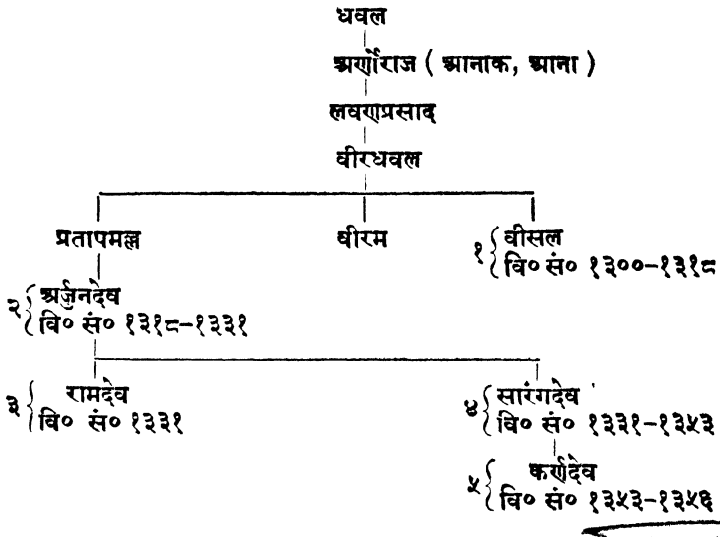
सोलंकियों की शाखाएं—मुंहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात में सोलंकियों की नीचे लिखी हुई १२ शाखाएं बतलाई हैं—

१—सोलंकी। २-वाघेला (बघेल)। ३-खालत। ४-रहवर। ५-वीरपुरा। ६-खैराड़ा। ७-वहेला। ८-पीथापुरा। ९-सोभतिया। १०-डहर, ये सिंध में तुर्क (मुसलमान) हो गये। ११-भूहड़, ये भी सिंध में मुसलमान हो गये। १२-रूभा, ये मुसलमान हो गये और ठट्ठे की तरफ हैं[1]।

कर्नल टॉड के गुरु यति ज्ञानचंद्र के मांडल (मेवाड़) के उपासरे में मुझे दो ऐसे पत्र मिले, जिनमें सोलंकियों की शाखाओं के ये नाम अधिक हैं—

महीड़ा, अलमेचा, थोकडेडा, कंठपाहिडा, तंबकरा, टीला, हींसघाटा, राणकरा (राणकिया), भसुंडरा, डाकी, बड़सूका, कुणीदरा, भुंणगोता, भडंगरा, डाहिया, बुवाला, खोढोरा, ल.क पार लगोत, सुरकी, नाथावत, राया, बालनोत और कटूकड़ा। वां वंश

(१) नैणसी की ख्यात, जि० १, पृ० २०१

सोलंकियों के एक भाट की पुस्तक में नीचे लिखी हुई उनकी और शाखाएं मिलीं—

लंघा, तोगरू, सरवरिया, तातिया और कुलमोर। ये शाखाएं तथा ऐसे ही राजपूतों के अन्य वंशों की भिन्न-भिन्न शाखाएं भी अधिकतर उनके निवासस्थानों के नामों पर प्रसिद्ध हुई हैं, जैसे कि राण या राणक (भिणाय) में रहने से राणकरा या राणकिया, बघेल गांव में रहने से बघेला आदि; परंतु कुछ शाखाएं प्रसिद्ध पुरुषों के नामों से भी चली हैं, जैसे कि नाथासिंह से नाथावत, बालन से बालनोत आदि।

मुसलमानों के गुजरात छीनने के पीछे का सोलंकियों का वृत्तांत भाटों की ख्यातों में एकसा नहीं मिलता। एक ख्यात से पाया जाता है कि सोलंकियों के एक वंशधर देवराज ने देलणपुर बसाया। उसके पीछे उसका ज्येष्ठ पुत्र सूजादेव देलणपुर का स्वामी हुआ और उसके भाई वीरधवल ने अपना राज्य लूणावाड़े में स्थापित किया। सूजादेव का १० वां वंशधर देपा, राण या राणक (भिणाय, अजमेर ज़िले में) में आ बसा। यहां बहुत समय तक सोलंकी रहे[1]। देपा का पुत्र भोज या भोजराज राणक से लास (लाछ) गांव (सिरोही राज्य में माळ-मगरे के पास) में जा बसा। मुंहणोत नैणसी ने लिखा है कि भोज देपावत (देपा का पुत्र) और सिरोही के राव लाखा के बीच शत्रुता हुई और उनमें लड़ाइयां होती रहीं। राव लाखा ने ५ या ६ लड़ाइयों में हारने के पीछे ईडर के राव की सहायता से भोज को मारा और लास पर अधिकार प्राप्त किया। फिर वे मेवाड़ के राणा रायमल के पास कुंभलगढ़ पहुंचे। उस समय देसूरी का इलाक़ा मादड़ेचे चौहानों के अधिकार में था। वहां के चौहान राणा की आज्ञा का पालन नहीं करते थे, जिससे राणा तथा उसके कुंवर पृथ्वीराज ने भोज के पुत्रों से कहा कि मादड़ेचों को मारकर देसूरी का इलाक़ा ले लो। इसपर सोलंकी रायमल तथा उसके पुत्र सांवतसी ने अर्ज़ की कि मादड़ेचे तो हमारे

---

(१) यह वृत्तान्त . टॉड के गुरु यति ज्ञानचन्द्र के उपासरे से मिली हुई सोलंकियों की एक ख्यात से उद्धृत किया गया है।

रिश्तेदार हैं। राणा ने उत्तर दिया कि मेरे पास दूसरी जागीर तो देने के लिए नहीं है, इसपर उन्होंने मादड़ेचों को मारकर १४० गांव सहित देसूरी की जागीर अपने अधिकार में कर ली[1]। रायमल के पुत्र सांवतसी के वंश में रूपनगर (मेवाड़) के और उस (सांवतसी) के भाई शंकर के वंश में जीलवाड़े (मेवाड़) के सोलंकी हैं। जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ इलाक़े में कोट नाम का ठिकाना भी इन्हीं देसूरी के सोलंकियों का है।

देसूरी के सोलंकी रायमल के पौत्र और सांवतसी के दूसरे पुत्र देला ने जावरे (मालवे) में जाकर वहां अपना राज्य स्थापित किया और मांडू के सुलतान से रावत का ख़िताब और ८४ गांवों का पट्टा पाया। उसके वंशज अब तक जावरे मे रहते हैं और उनकी वहां जागीर भी है। जावरे से ऊबरवाड़ा और खोजनखेड़ा के वंश निकले। आलोट (देवास का बड़ा हिस्सा) का वंश भी जावरे से निकला हुआ माना जाता है और जावरे से ही खड़गूण (नीमाड़, इंदौर राज्य) की शाखा निकली।

ऊपर लिखे हुए देवराज से आठवीं पीढ़ी में सूरजभाण या सूर्यभाण हुआ, जिसके छोटे भाई गढ़माल ने देलणपुर से जाकर प्रथम नरवरगढ़ में और वहां से टोड़े (जयपुर राज्य) में अपना अधिकार जमाया[2]।

मुंहणोत नैणसी लिखता है कि नागरचाल (जयपुर राज्य) का टोड़ा सोलंकियों का मूल निवासस्थान[3] है और वहीं से सोलंकी अन्यत्र फैले हैं। टोड़े के सोलंकियों का ख़िताब राव था और वे कीलहणोत (कीलहण[4] के वंशज) कहलाते थे। टोडड़ी में महिलगोते सोलंकियों का राज्य था। नैणसी ने सिद्धराज से ७ वें पुरुष कान्हड़ के बेटे महलू[5] का

(१) मुंहणोत नैणसी की ख्यात; जि० १, पृ० २१७।

(२) यति ज्ञानचन्द्र के उपासरे से मिली हुई सोलंकियों की ख्यात से।

(३) गुजरात छूटने के पीछे टोड़े से कई शाखाएं निकलीं इसलिए टोड़े को उनका मूल निवासस्थान कहा है।

(४) नैणसी ने कीलहण का अधिक परिचय नहीं दिया, परंतु यति ज्ञानचंद्र की ख्यात में कीलहण को उपर्युक्त गढ़माल का नवां वंशधर कहा है।

(५) ज्ञानचन्द्र के यहां की ख्यात में महलू नाम नहीं है, परंतु गढ़माल के

टोड़े में राज्य करना लिखा है (इसी महलू से महिलगोते सोलंकी कहलाये होंगे)। महलू का पुत्र दुर्जनसाल, उसका हरराज और हरराज का सुरताण हुआ। राव सुरताण हरराजोत टोडड़ी छोड़कर राणा रायमल के पास चित्तोड़ में आकर रहने लगा[1] और राणा ने उसको बदनोर का पट्टा जागीर में दिया। राव सुरताण की बेटी प्रसिद्ध तारादेवी का विवाह राणा रायमल के कुंवर पृथ्वीराज (उडणा पृथ्वीराज) के साथ हुआ था। रायमल का छोटा पुत्र जयमल राव सुरताण से अप्रसन्न था, जिससे उसने बदनोर पर चढ़ाई कर दी। राव सुरताण पहले ही से बदनोर छोड़कर चला गया था। मार्ग में रात के समय दोनों की मुठभेड़ हुई, जिसमें राव के साले रतना सांखला के हाथ से जयमल मारा गया[2]। नीमाड़ (इंदौर राज्य) में धर-गांव, डही और धर्मराज नामक स्थानों के सोलंकी टोड़े के सोलंकियों के वंशधर हैं। भोपाल इलाक़े में मैंगलगढ़, गढ़ा, सनोड़ा, कोलूखेड़ी और चांदवड़ (सातलवाड़ी) के वंश भी टोड़े के सोलंकियों से ही निकले हैं। मांडलगढ़ (मेवाड़) और बूंदी राज्य के सोलंकी भी टोड़े के सोलंकियों के ही वंशधर थे।

इस समय सोलंकियों के राज्य रीवां (बघेलखण्ड), लूणावाड़ा और बांसदा (दोनों गुजरात) में हैं। रीवांवाले किस बघेल राजा के वंश-धर हैं, यह अब तक निश्चित रूप से मालूम नहीं हुआ। बघेलखंड में रीवां के

पांचवें वंशधर का नाम महीपाल दिया है। शायद महीपाल और महलू एक ही रहे हों।

(१) टोड़े और टोडड़ी के सोलंकी एक ही शाखा के वंशधर थे। टोड़े का इलाक़ा छोड़कर उनके मेवाड़ में आने का कारण नैणसी ने नहीं लिखा, परंतु कारण यही प्रतीत होता है कि टोड़े का सारा इलाक़ा पठानों ने छीन लिया था, जिससे राव सुरताण हरराजोत मेवाड़ के राणा रायमल के पास आकर रहने लगा। राव सुरताण ने यह प्रण किया था कि जो मुझे अपना टोड़े का राज्य पुनः दिलावेगा उसके साथ मैं अपनी पुत्री तारा का विवाह करूंगा। राणा रायमल के पुत्र प्रसिद्ध पृथ्वीराज ने उसका प्रण पूरा करने का वचन देकर तारा के साथ विवाह किया था, जिसका सविस्तर वृत्तांत मेवाड़ के इतिहास में लिखा जायगा।

(२) नैणसी की ख्यात; जि० १, पृ० २१४।

अतिरिक्त सुहावल, जिरोहा, क्योंटी, सुहागपुर आदि बहुत से ठिकाने बघेलों के हैं, जो रीवां से ही निकले हैं। पालणपुर इलाक़े में थराद, दियोदर; महीकांठा इलाक़े में पेथापुर; रेवाकांठे में भादरवा, छालियेर और धरी सोलंकियों के तथा पोइछा बघेलों का स्थान है। बांसदे का राज्य कहां से अलग हुआ यह ठीक-ठीक ज्ञात नहीं हो सका। जब से गुजरात सोलंकियों के अधिकार से छूटा तब से उनका ठीक-ठीक वृत्तांत नहीं मिलता। यति ज्ञानचंद्र के यहां की ख्यात में भी पुराने नाम तो बहुधा कल्पित ही हैं, परंतु पिछली वंशावलियों तथा कई शाखाओं के पृथक् होने का वर्णन विस्तार से दिया है। नैणसी की ख्यात में सोलंकियों का पिछला इतिहास बहुत कम मिलता है।

'वंशभास्कर' में चालुक्य या चौलुक्य से लगाकर अर्जुनसिंह तक २१७ पीढ़ियों का उल्लेख है[1], परंतु पीछे के कुछ नामों को छोड़कर बहुधा पुराने नाम कृत्रिम ही हैं तथा उनका इतिहास भी विश्वास के योग्य नहीं है। गुजरात पर सोलंकियों का राज्य स्थापित करनेवाले मूलराज से जयसिंह (सिद्धराज) तक जो नाम दिये हैं वे भी बहुधा कल्पित हैं और सिद्धराज का वि० सं० ४४१ में राजा होना लिखा है[2]। ऐसी दशा में हमने उक्त पुस्तक में दिये हुए सोलंकियों के वृत्तांत से कुछ भी उद्धृत करना उचित नहीं समझा।

नाग वंश

नाग वंश का अस्तित्व महाभारत-युद्ध के पहले से पाया जाता है। महाभारत के समय अनेक नागवंशी राजा विद्यमान थे। तक्षक नाग के द्वारा परीक्षित का काटा जाना और जनमेजय के सर्पसत्र में हज़ारों नागों की आहुति देना, एक रूपक माना जाय तो आशय यही निकलेगा कि परीक्षित नागवंशी तक्षक के हाथ से मारा गया, जिससे उसके पुत्र ने अपने पिता के वैर में हज़ारों नागवंशियों को मारा। नागों की अलौकिक शक्ति के

(१) वंशभास्कर; प्रथम भाग, पृ० ४४२-७२।

(२) वही; प्रथम भाग, पृ० ४६१।

उदाहरण बौध ग्रंथों तथा राजतरंगिणी आदि में मिलते हैं। तक्षक, कर्कोटक, धनंजय, मणिनाग आदि इस वंश के प्रसिद्ध राजाओं के नाम हैं। तक्षक के वंशज तक्ख, ताक, टक्क, टाक, टांक आदि नामों से प्रसिद्ध हुए। यह वंश भारतवर्ष के बड़े हिस्से में फैला हुआ था। विष्णुपुराण में नव नागवंशी राजाओं का पद्मावती (पेहोआ, ग्वालियर राज्य), कांतिपुरी और मथुरा में राज्य करना लिखा है[1]। वायु और ब्रह्मांडपुराण नागवंशी नव राजाओं का चंपापुरी में और सात का मथुरा में होना बतलाते हैं[2]। पद्मावती के नागवंशियों के सिक्के भी मालवे में कई जगह पर मिले हैं। बाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' में जहां कई राजाओं के भिन्न-भिन्न प्रकार से मारे जाने का उल्लेख किया है वहां नागवंशी राजा नागसेन का, सारिका (मैना) द्वारा गुप्तभेद प्रकट हो जाने के कारण मारा जाना माना है[3]। कई नागकन्याओं के विवाह क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों के साथ होने के उल्लेख भी मिलते हैं। मालवे के परमार राजा भोज के पिता सिंधुराज का विवाह नागवंश की राजकन्या शशिप्रभा के साथ हुआ था। नागवंशियों की अनेक शाखाएं थीं। टांक या टाक शाखा के राजाओं का छोटासा राज्य वि० सं० की १४ वीं और १५ वीं शताब्दी तक यमुना के तट पर काष्ठा या काठा नगर में था[4]।

मध्य प्रदेश के चक्रकोट्य में वि० सं० की ११ वीं से १४ वीं और कवर्धा में १० वीं से १४ वीं शताब्दी तक नागवंशियों का अधिकार रहा[5]।

(१) नवनागाः पद्मावत्यां कांतीपुर्यां मथुरायां
विष्णुपुराण; अंश ४, अध्याय २४।

(२) नवनागास्तु भोक्ष्यन्ति पुरीं चम्पावतीं नृपाः।
मथुरां च पुरीं रम्यां नागा भोक्ष्यन्ति सप्त वै ॥
वायुपुराण; ६६। ३८२; और ब्रह्मांडपुराण; ३। ७४। १६४।

(३) नागकुलजन्मनः सारिकाश्रावितमन्त्रस्यासीन्नाशो नागसेनस्य पद्मावत्याम्। हर्षचरित; उच्छ्वास ६, पृ० १६८।

(४) हिं. टॉ. रा, प्रथम खंड, पृ० ४६४।

(५) रायबहादुर; हीरालाल डिस्क्रिप्टिव लिस्ट ऑव् इंस्क्रिपशन्स इन दी सेंट्रल प्राविन्सीज़ ऐंड बरार; पृ० १६४-६५

सिंद नामक पुरुष से चली हुई नागवंश की सिंद शाखा का राज्य दक्षिण में कई जगह रहा। इस शाखा के वंशधर ग्वालियर के वर्तमान शासक हैं। येलबुर्ग (निज़ाम राज्य) के सिंदवंशियों का राज्य वि० सं० की दसवीं से तेरहवीं शताब्दी तक विद्यमान था[1]। नागवंशियों का कुछ न कुछ अधिकार पुराने समय से राजपूताने में भी था। नागोर (नागपुर, जोधपुर राज्य), जिसको अहिच्छत्रपुर भी कहते थे, नागों का वहां अधिकार होना प्रकट करता है। कोटा राज्य में शेरगढ़ क़स्बे के दरवाज़े के पास एक शिलालेख वि० सं० ८४७ माघ सुदि ६ (ई० स० ७९१ ता० १५ जनवरी) का लगा हुआ है[2], जिसमें नीचे लिखे हुए नागवंशियों के चार नाम क्रमशः मिलते हैं—

बिन्दुनाग, पद्मनाग, सर्वनाग और देवदत्त। सर्वनाग की राणी का नाम श्री (श्रीदेवी) था। देवदत्त वि० सं० ८४७ (ई० स० ७९१) में विद्यमान था। उसने वहां कौशवर्द्धन पर्वत के पूर्व में एक बौद्ध मंदिर और मठ बनवाया था, जिससे अनुमान होता है कि वह बौद्धधर्मावलंबी था और उस समय तक राजपूताने में बौद्ध मत का अस्तित्व किसी प्रकार बना हुआ था। देवदत्त को उक्त लेख में सामंत कहा है अतएव संभव है कि ये नागवंशी कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहारों के सामंत रहे हों।

अब तो राजपूताने में नागवंशियों का न तो कोई स्थान है और न कोई वंशधर ही है।

यौधेय

यौधेय भारतवर्ष की एक बहुत प्राचीन क्षत्रिय जाति है[3], जो बड़ी ही वीर मानी जाती थी। यौधेय शब्द 'युध्' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'लड़ना' है। मौर्य राज्य की स्थापना से भी कई शताब्दी पूर्व होनेवाले प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने भी अपने व्याकरण में इस जाति का उल्लेख किया है।

---

(१) हिं. टॉ. रा; प्रथम खंड, पृ० ४६२—६४।

(२) इं. ऐं; जि० १४, पृ० ४५।

(३) युधिष्ठिर की एक स्त्री देवकी (जो शिबि जाति के गोवसेन की पुत्री थी)

यौधेयों का मूल निवासस्थान पंजाब था। अब इनको जोहिया कहते हैं। इन्हीं के नाम से सतलज नदी के दोनों तटों पर का बहावलपुर राज्य के निकट का प्रदेश जोहियावार कहलाता है। जोहिये राजपूत अब तक पंजाब के हिसार और मॉंटगोमरी (साहिवाल) ज़िलों में पाये जाते हैं। प्राचीन काल में ये लोग सदा स्वतंत्र रहते थे और इनके अलग-अलग दलों के मुखिये ही इनके सेनापति और राजा माने जाते थे। पंजाब से दक्षिण में बढ़ते हुए ये लोग राजपूताने में भी पहुंच गये थे। महाक्षत्रप रुद्रदामा के गिरनारवाले लेखानुसार उसने क्षत्रियों में वीर का ख़िताब धारण करनेवाले यौधेयों को नष्ट किया था[1]। उसके पीछे गुप्तवंशी राजा समुद्रगुप्त ने उनको अपने अधीन किया[2]। इनके सिक्के भी मिलते हैं। ये लोग स्वामिकार्तिक के उपासक थे। राजपूताने में भरतपुर राज्य के बयाना नगर के पास विजयगढ़ के क़िले से वि० सं० की छठी शताब्दी के आसपास की लिपि में इनका एक टूटा हुआ लेख भी मिला है (यौधेयगणपुरस्कृतस्य महाराजमहासेनापतेः[3] पु...)। बीकानेर के राजाओं ने जोहियों से कई लड़ाइयां लड़ी थीं, जिनका वृत्तांत बीकानेर के इतिहास में लिखा जायगा। अधिकतर जोहिये मुसलमान हो गये और अब तक बीकानेर राज्य में वे पाये जाते हैं।

तंवर वंश

तंवर नाम को संस्कृत-लेखक तोमर लिखते हैं और भाषा की पुस्तकों में तंवर मिलता है। जिस समय कन्नौज पर रघुवंशी प्रतिहारों का राज्य था उस समय दिल्ली तथा पृथुदक (पिहोआ, कुरुक्षेत्र में सरस्वती नदी के निकट) में तंवरों का राज्य था। उनके शिलालेखों के अनुसार वे कन्नौज

से जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम यौधेय रक्खा गया था, ऐसा महाभारत से पाया जाता है (महाभारत, आदिपर्व, ९३। ७५)।

(१) देखो ऊपर पृ० ७१ और उसी का टिप्पण ३।

(२) देखो ऊपर पृ० १३२।

(३) फ्लीट; गु. इं; पृ० २५२।

के प्रतिहारों के अधीन थे[1]। संभव है कि दिल्ली के तंवर भी उन्हीं के अधीन रहे हों। तंवरों का अब तक कोई ऐसा शिलालेख या ताम्रपत्र नहीं मिला, जिसमें उनकी शुद्ध वंशावली दी हो। भाटों की ख्यातों में उनकी नामावली मिलती है, परंतु एक ख्यात के नाम दूसरी से नहीं मिलते, इसलिए उन नामों पर और भाटों आदि के दिये हुए संवतों पर विश्वास नहीं हो सकता[2]। अबुलफ़ज़ल ने 'आइने अक़बरी' में जो उनकी वंशावली दी है वह भी भाटों से ही ली गई है, अतएव वह दूसरी वंशावलियों के समान ही निकम्मी है। भाटों की ख्यातों के कुछ नाम अवश्य ठीक होंगे, तो भी सारी वंशावली को ठीक करने के लिए अब तक कोई साधन उपस्थित नहीं हुआ। सांभर के चौहान राजा विग्रहराज के समय के वि० सं० १०३० (ई० स० ९७३) के बने हुए शेखावाटी के हर्षनाथ के मंदिर के शिलालेख में उक्त राजा के पूर्वज चंदनराज के विषय में लिखा है कि उसने तोमर (तंवर) राजा रुद्रेन को मारा था[3]। उसी शिलालेख में विग्रहराज के पिता सिंहराज को तोमर नायक सलवण (शालिवाहन) को हरानेवाला (या मारनेवाला) कहा है[4], परंतु भाटों आदि की किसी नामावली में रुद्रेन (रुद्रपाल) या सलवण का नाम नहीं है। तंवरों ने पुराने इंद्रप्रस्थ के स्थान में दिल्ली बसाई, यह प्रसिद्धि चली आती है। दिल्ली के बसानेवाले राजा का नाम अनंगपाल प्रसिद्ध है। फ़िरिश्ता हि० स० ३०७ (वि० सं० ९७६-७७) में तंवर वंश के राजा वादित्य (या वादपित्ता? नाम अशुद्ध है) का क़स्बा इंद्रप्रस्थ बसाना, उसका ढिल्ली (दिल्ली) नाम से प्रसिद्ध होना तथा उस राजा के पीछे आठ

---

(१) हिं. टा. रा.; पृ० ३४९।

(२) वही; पृ० ३४८-४९।

(३) सूनुस्तस्याथ भूपः प्रथम इव पुनर्गूवकाख्यः प्रतापी।
तस्माच्छ्रीचंदनोभूत्क्षितिपतिभयदस्तोमरेशं सदर्प्पं
हत्वा रुद्रेनभूपं समर[भुवि] [ब]लाद्ये[न लब्धा] जयश्रीः॥

ए. इं.; जि. २, पृ० १२१।

(४) देखो ऊपर पृ० १७३ और टिप्पण १।

तंवर राजाओं का होना लिखता है। उसने अंतिम राजा का नाम शालिवान (शालिवाहन) बतलाया है। तंवरों के पीछे वहां चौहानों का राज्य होना तथा उस वंश के मानकदेव, देवराज, रावलदेव, जाहरदेव, सहरदेव और पिथोरा (पृथ्वीराज) का वहां क्रमशः राज्य करना भी फ़िरिश्ता ने लिखा है, परंतु फ़िरिश्ता का लिखा हुआ हिंदुओं का पुराना इतिहास जैसा कल्पित है वैसा ही यह कथन भी कल्पित ही है, क्योंकि तंवरों से दिल्ली, चौहान आना के पुत्र विग्रहराज (वीसलदेव चौथा) ने वि० सं० १२०७ (ई० स० ११५०) के लगभग ली और तब से ही दिल्ली का राज्य अजमेर के राज्य का सूबा बना[१]। विग्रहराज के पीछे ऊपर लिखे हुए राजा नहीं, किंतु अमरगांगेय (अपरगांगेय, अमरगंगू), पृथ्वीराज दूसरा (पृथ्वीभट), सोमेश्वर और पृथ्वीराज (तीसरा) क्रमशः अजमेर के राज्य के स्वामी हुए[२]। अबुलफ़ज़ल दिल्ली के बसाये जाने का संवत् ४२९ मानता है, यह भी विश्वास के योग्य नहीं है। यह प्रसिद्धि चली आती है कि तंवर अनंगपाल ने दिल्ली को बसाया। उसी ने वहां की विष्णुपद नाम की पहाड़ी पर से प्रसिद्ध लोहे की लाट को, जिसको 'कीली' भी कहते हैं और जो वर्त्तमान दिल्ली से ९ मील दूर मिहरोली गांव के पास कुतुब-मीनार के निकट खड़ी है, उठाकर वहां खड़ी करवाई थी। उक्त लाट पर का प्रसिद्ध लेख राजा चंद्र (चंद्रगुप्त दूसरा) का है, जिसने उस लाट को उक्त पहाड़ी पर विष्णु के ध्वजरूप स्थापित किया था[३]। उसपर पीछले समय के छोटे-छोटे और भी लेख खुदे हैं, जिनमें से एक 'संवत् दिल्ली ११०९ अनंगपाल वही' है। उसके अनुसार उक्त लेख के खुदवाये जाने के समय अनंगपाल को उक्त संवत् में दिल्ली बसाना माना जाता था। कुतुबुद्दीन ऐबक की मसजिद के पास एक तालाब की पाल पर अनंगपाल के बनाये हुए एक मंदिर के स्तंभ अब तक खड़े हैं, जिनमें से एक पर अनंगपाल का नाम भी खुदा हुआ है। पृथ्वीराज रासे

---

(१) ना. प्र. प.; भाग १, पृ० ४०५ और टिप्पण ४३।

(२) वहीं; भाग १, पृ० ३९३।

(३) देखो ऊपर पृ० १३३-३४।

के कर्त्ता ने अनंगपाल की पुत्री कमला का विवाह अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के साथ होना और उसी से पृथ्वीराज का जन्म तथा उसका अपने नाना अनंगपाल का राज्य पाना आदि जो लिखा है, वह सारी कथा कल्पित है। पृथ्वीराज की माता दिल्ली के अनंगपाल की पुत्री कमला नहीं, किंतु चेदि देश के राजा की पुत्री कर्पूरदेवी थी[1]। जयपुर राज्य का एक अंश अब तक तंवरों के नाम से तोरावाटी या तंवरावाटी कहलाता है और वहां तंवरों के ठिकाने हैं। वहां के तंवर दिल्ली के तंवरों के वंशधर माने जाते हैं और उनका मुख्य स्थान पाटण है। दिल्ली के तंवरों के वंशजों की दूसरी शाखा के तंवर वीरसिंह ने, वि० सं० १४३२ (ई० स० १३७५) के आसपास दिल्ली के सुलतान फीरोज़शाह तुग़लक की सेवा में रहकर, ग्वालियर पर अपना अधिकार जमाया और अनुमान १८० वर्ष बाद मानसिंह के पुत्र विक्रमादित्य के समय वह क़िला फिर से मुसलमानों ने ले लिया। विक्रमादित्य के पीछे उसके पुत्र रामसाह ने ग्वालियर का क़िला फिर लेना चाहा, परन्तु उसमें सफलता न पाने पर वह अपने तीन पुत्रों—शालिवाहन, भवानीसिंह और प्रतापसिंह—सहित मेवाड़ के महाराणा उदयसिंह के पास चला गया[2] और वि० सं० १६३३ (ई० स० १५७६) में महाराणा प्रतापसिंह के पक्ष में रहकर हल्दीघाटी की प्रसिद्ध लड़ाई में अकबर की सेना से लड़कर अपने दो पुत्रों सहित काम आया। केवल उसका एक पुत्र शालिवाहन बच गया। शालिवाहन के दो पुत्र श्यामसाह और मित्रसेन अकबर की सेवा में रहे। श्यामसाह के दो पुत्र संग्रामसाही और नारायणदास हुए। संग्रामसाही का पुत्र किशनसिंह और उसके दो पुत्र विजयसिंह और हरिसिंह हुए, जो मेवाड़ के महाराणा के पास जाकर रहे थे। विजयसिंह का देहान्त वि० सं० १७८१ (ई० स० १७२४) में हुआ।

भाटों को कछवाहों की ख्यात लिखते समय इतना तो ज्ञात था कि कछवाहे ग्वालियर से राजपूताने में आये और पीछे ग्वालियर पर तंवरों

---

(१) ना. प्र. प.; भाग १, पृ० ३९९–४००।

(२) ग्वालियर के तंवरों के लिए देखो हिं. टॉ. रा.; प्रथम खंड, पृ० ३५०–५१।

का राज्य हो गया. परंतु उनको इस बात का पता न था कि कछवाहे ग्वालियर से कब और किस तरह राजपूताने में आये और तंवर कब तथा कैसे ग्वालियर के स्वामी हुए, जिससे उन्होंने यह कथा गढ़ ली कि ग्वालियर के कछवाहे राजा ईशासिंह ने वृद्धावस्था में अपना राज्य अपने भानजे जैसा (जयसिंह) तंवर को दान में दे दिया। फिर ईशासिंह के पुत्र सोढदेव ने ग्वालियर से आकर द्यौसा (जयपुर राज्य) में अपने बाहुबल द्वारा अपना नया राज्य वि० सं० १०२३ (ई० स० ९६६) में स्थापित किया। यह सारी कथा कल्पित है, न तो ईशासिंह ने अपना ग्वालियर का राज्य तंवरों को दिया और न तंवरों का राज्य उस समय वहां था। ईशासिंह के पीछे भी ग्वालियर पर कछवाहों का ही राज्य था। वहां के राजा मंगलराज के पुत्र कीर्तिराज के छोटे भाई सुमित्र का पांचवां वंशधर ईशासिंह द्यौसा में आया और उसे छीनकर वहां का स्वामी हुआ। इस विषय का विशेष वृत्तांत हम जयपुर राज्य के इतिहास के प्रारंभ में लिखेंगे।

दहिया वंश

संस्कृत शिलालेखों में इस वंश का नाम 'दधीचिक', 'दहियक' या 'दधीच' मिलता है और हिन्दी में दहिया कहते हैं। जोधपुर राज्य में पर्वतसर से चार मील उत्तर किनसरिया गांव के पास की पहाड़ी पर केवाय माता के मंदिर के सभामंडप में लगे हुए दहियावंशी सामंत चच्च के वि० सं० १०५६ (ई० स० ९९९) के शिलालेख में उक्त वंश की उत्पत्ति के विषय में लिखा है—'देवताओं के द्वारा प्रहरण (शस्त्र) की प्रार्थना किये जाने पर जिस दधीचि ऋषि ने अपनी हड्डियां दे दी थीं उनके वंशज दधीचिक कहलाये।' उक्त शिलालेख में दहियों का वृत्तांत नीचे लिखे अनुसार मिलता है—

'दधीचिक वंश में मेघनाद हुआ, जिसने युद्धक्षेत्र में बड़ी वीरता दिखाई। उसकी स्त्री मासटा से बड़े दानी और वीर वैरिसिंह का जन्म तथा उसकी धर्मपत्नी दुंदा से चच्च उत्पन्न हुआ। उसने वि० सं० १०५६ वैशाख सुदि ३ (ई० स० ९९९ ता० २१ अप्रेल) को ऊपर लिखा हुआ

भवानी का मंदिर बनवाया[1]। उसके दो पुत्र यशःपुष्ट और उद्धरण हुए। चच्च सांभर के चौहान राजा सिंहराज के पुत्र दुर्लभराज का सामंत था।

दहियों का दूसरा शिलालेख उसी मंदिर के पास के एक स्मारक-स्तंभ पर है, जिसका आशय यह है कि वि० सं० १३०० ज्येष्ठ सुदि १३ (ई० स० १२४३ ता० १ जून) सोमवार के दिन दहिया रा (राणा) कीर्तसी (कीर्तिसिंह) का पुत्र रा विकंन (विक्रम) राणी नाइलदेवी सहित स्वर्ग सिधारा। उक्त राणा के पुत्र जगधर ने अपने माता पिता के निमित्त वह (स्थान, स्मारक) बनवाया[2]।

दहियों का तीसरा शिलालेख मंगलाणे (जोधपुर राज्य के मारोठ ज़िले में) से वि० सं० १२७२ ज्येष्ठ वदि ११ (ई० स० १२१५ ता० २६ अप्रेल) रविवार का मिला है, जो उस वंश के महामंडलेश्वर कदुवराज के पुत्र पदमसिंह (पद्मसिंह) के बेटे महाराजपुत्र जयत्रस्यंह (जयंतसिंह) का है। उस समय रणस्तंभपुर (रणथंभोर, जयपुर राज्य) का राजा चौहान वाल्हणदेव था[3]। अब तक दहियों के येही तीन शिलालेख मिले हैं।

मुंहणोत नैणसी ने पर्बतसर (जोधपुर राज्य) में रहकर दहियों का वृत्तान्त अपनी ख्यात के लिए वि० सं० १७२२ (ई० स० १६६५) के आसोज महीने में संग्रह किया। उसने लिखा है कि दहियों का मूल निवास-स्थान नासिक-त्र्यंबक के पास होकर बहनेवाली गोदावरी नदी के निकट थालनेरगढ़ था। दहियों के स्थान देरावर, पर्बतसर (जोधपुर राज्य), सावर, घटियाली (अजमेर ज़िला), हरसोर और मारोठ (दोनों जोधपुर राज्य) थे। नैणसी ने दधीच के पीछे उनकी वंशावली इस प्रकार दी है—

दधीच, विमलराजा, सिवर, कुलखत (?), अतर, अजैवाह (अजयवाह), विजैवाह, सुसल, सालवाहन (शालिवाहन), जिसकी राणी हंसावली थी, नरवाण, देड मंडलीक (देरावर में हुआ), चूहड मंडलीक, गुणरंग

(१) ए. इं.; जि० १२, पृ० ५६–६१।

(२) वही; जि० १२, पृ० ५८।

(३) इं. ऐं.; जि० ४१, पृ० ८७–८८।

मंडलीक, देराव (देवराज) राणा, भरह राणा, रोह राणा, कडवाराव (कडुवराव) राणा, कीरतसी (कीर्तिसिंह) राणा, वैरसी (वैरिसिंह) राणा और चाच राणा । इसने गांव सिणहड़िया (किनसरिया) के पास की पहाड़ी पर देवी का मंदिर बनवाया । उधरण (उद्धरण) पर्वतसर और मारोठ का स्वामी हुआ आदि[1] (आगे १७ नाम और भी दिये हैं) । नैणसी की वंशावली में, जिसको कीरतसी लिखा है, उसको किनसरिया के शिलालेख में मेघनाद कहा है । ये दोनों नाम एक ही राजा के हो सकते हैं, क्योंकि उसके पीछे के तीनों नाम नैणसी और शिलालेख में बराबर मिलते हैं, ऐसी दशा में नैणसी की दहियों की पिछली वंशावली विश्वास के योग्य है । अब तो दहियों का एक स्थान सिरोही राज्य में कैर नाम का है । जालोर का गढ़ (जोधपुर राज्य) भी दहियों का बनाया हुआ माना जाता है । अब जोधपुर राज्य के जालोर, बाली, जसवंतपुरा, पाली, सिवाना, सांचोर और मालानी ज़िलों में दहिये हैं, परंतु वहां उनकी जागीरें नहीं हैं ।

दाहिमा वंश

जोधपुर राज्य के गोठ और मांगलोद गांवों के बीच दधिमती माता का बहुत प्राचीन प्रसिद्ध मंदिर है । इस मंदिर के आसपास का प्रदेश प्राचीन काल में दधिमती (दाहिम) क्षेत्र कहलाता था । उस क्षेत्र से निकले हुए ब्राह्मण, राजपूत, जाट आदि दाहिमे ब्राह्मण, दाहिमे राजपूत, दाहिमे जाट कहलाये, जैसे कि श्रीमाल (भीनमाल) नगर के नाम से श्रीमाली ब्राह्मण, श्रीमाली महाजन, श्रीमाली जड़िये आदि । दाहिमे राजपूतों का प्राचीन काल में कोई बड़ा राज्य नहीं था, वे सामंतों की दशा में ही रहे । राजपूताने में इस वंश का अब तक कोई शिलालेख या ताम्रपत्र नहीं मिला । चौहान पृथ्वीराज के मंत्री कैमास (कदंबवास) का दाहिमा होना माना जाता है । अब तो उनकी कोई जागीर भी नहीं है ।

---

(१) नैणसी की ख्यात; पत्र २४ ।

निकुंप वंश

निकुंप या निकुंभ राजपूत सूर्यवंशी हैं। वे अपनी उत्पत्ति सूर्यवंशी राजा निकुंभ से मानते हैं। निकुंभवंशियों का राज्य वि० सं० की १२ वीं और १३ वीं शताब्दी में बंबई इहाते के खानदेश ज़िले में रहा, जिनके ताम्रपत्रादि में वहां के राजाओं की वंशावली मिलती है[1]। राजपूताने में भी पहले निकुंभवंशी थे। अलवर और जयपुर राज्य के उत्तरी विभाग पर उनका अधिकार होना तथा वहां पर उनका कई गढ़ बनवाना अब तक प्रसिद्ध है। पहले जयपुर की तरफ का उनका इलाक़ा मुसलमानों ने छीन लिया था; तो भी अलवर की ओर उनका अधिकार बना रहा, परंतु लोदियों के समय में वह भी मुसलमानों के हाथ में चला गया। मेवाड़ के मांडलगढ़ ज़िले में भी पहले उनकी जागीर थी। अब तो राजपूताने में न तो निकुंभों की कोई जागीर है और न कोई निकुंभवंशी रहा है। हरदोई ज़िले (युक्त प्रान्त) में निकुंभों का ठिकाना बिरवा-हथौरा है। पहले ये दोनों ठिकाने अलग अलग थे, परंतु पीछे से मिल गये। वहां के निकुंपवंशी अलवर के इलाक़े से अपना वहां जाना बतलाते हैं। सरनेत भी निकुंपों की एक शाखा मानी जाती है, जिनके ठिकाने सतासी, आंवला और गोरखपुर (ज़िला गोरखपुर, युक्त-प्रान्त) हैं।

डोडिया वंश

संस्कृत शिलालेखों तथा एक दानपत्र में इस वंश का नाम डोड मिलता है और राजपूताने में डोडिया नाम प्रसिद्ध है। डोडिये परमारों की शाखा में माने जाते हैं और वे भी अपनी उत्पत्ति आबू पर वसिष्ठ के अग्निकुण्ड के मंडप में लगे हुए केले के डोडे से होना बतलाते हैं, जो असंभव है, परंतु यह कथन उनका परमारों की शाखा में होना प्रकट करता है। बुलंदशहर से, जिसका प्राचीन नाम वारण था, मिले हुए वि० सं० १२३३ (ई० स० ११७६) के दानपत्र में डोड वंश के राजाओं की १६ पीढ़ियों के

(१) हिं. टॉ. रा.; प्रथम खण्ड, पृ० ४६०-६१।

नाम मिलते हैं[1]। वि० सं० १०७५ (ई० स० १०१८) में ग़ज़नी के सुलतान महमूद (ग़ज़नवी) ने मथुरा पर चढ़ाई की उस समय मथुरा नगर बुलंदशह्र (बारण) के राजा हरदत्त डोड के अधिकार में था[2]। अजमेर के चौहान राजा विग्रहराज (वीसलदेव) ने वि० सं० १२०७ (ई० स० ११५०) के आस-पास दिल्ली का राज्य और हांसी का क़िला लेकर उनको अजमेर के राज्य में मिलाया। विग्रहराज के पीछे पृथ्वीराज (दूसरा, पृथ्वीभट) के समय हांसी का क़िला उसके मामा गुहिलवंशी किल्हण के शासन में था। पृथ्वीराज (दूसरा) के समय के वि० सं० १२२४ माघ सुदि ७ (ई० स० ११६८ ता० १६ जनवरी) के हांसी के शिलालेख से पाया जाता है कि वहां का क़िला किल्हण ने डोडवंशी वल्ह के पुत्र लक्ष्मण की अध्यक्षता में तैयार कराया था[3]। उदयपुर राज्य में जहाज़पुर ज़िले के आंवलदा गांव से मिले हुए चौहान राजा सोमेश्वर के समय के वि० सं० १२३४ भाद्रपद सुदि ४ (ई० स० ११७७ ता० २६ अगस्त) के शिलालेख में डोड रा(राव) सिंघ रा (सिंहराव) के पुत्र सिंद्राउ (सिंद्राव) का नाम मिलता है[4]। गागरौन (कोटा राज्य) में भी पहले डोडियों का अधिकार होना माना जाता है। अब राजपूताने में उदयपुर राज्य के अंतर्गत डोडियों का एक स्थान सरदारगढ़ (लावा[5]) है, जो वहां के प्रथम श्रेणी के सरदारों में है

---

(१) उक्त शिलालेख में डोडवंशी राजाओं के ये नाम क्रमशः दिये हैं—

चंद्रक (?), धरणीवराह, प्रभास, भैरव, रुद्र, गोविंदराज, यशोधर, हरदत्त, त्रिभुवनादित्य, भोगादित्य, कुलादित्य, विक्रमादित्य, पद्मादित्य, भोजदेव, सहजादित्य (राजराज) और अनंग। अनंग वि० सं० १२३३ के वैशाख में विद्यमान था।

(२) इलियट्; 'हिस्टरी ऑव् इंडिया'; जि० २, पृ० ४५६।

(३) इं. ऐं; जि० ४१, पृ० १६।

(४) ना. प्र. प.; भाग १, पृ० ४०३, टिप्पण ४०। मेवाड़ (उदयपुर राज्य) के पूर्वी विभाग तथा हाड़ोती में चौहानों के समय डोडियों की जागीरें थीं, जो खीचियों ने छीन लीं और उनसे हाड़ों ने लीं ऐसी प्रसिद्धि है (इं. ऐं.; जि० ४१, पृ० १८)।

(५) श्रीयुत देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने हांसी के शिलालेख का संपादन करते समय लावा (टोंक के निकट) के जागीरदार को डोडिया लिखा है यह भ्रम है। उक्त लावा के सरदार तो नरूका शाखा के कछवाहा राजपूत हैं।

और वहां के डोडियों का काठियावाड़ से मेवाड़ में आना माना जाता है। अब डोडियों की जागीरें मध्यभारत में चांपानेरं (पूरावत), गुदरखेड़ा (सादावत), मुंडावल (पूरावत), पिपलोदा, ताल और ऊणी (सभी मालवा एजेंसी में) हैं।

गौड़ वंश

प्राचीन काल में भारतवर्ष में गौड़ नाम के दो देश—एक तो पश्चिमी बंगाल, और दूसरा उत्तर कोसल अर्थात् अवध (अयोध्या) का एक विभाग—थे। अवधवाले गौड़ देश[1] के निवासी ब्राह्मण, राजपूत आदि गौड़ ब्राह्मण, गौड़ राजपूत, गौड़ कायस्थ, गौड़ चमार आदि नामों से प्रसिद्ध हुए। राजपूताने के गौड़ राजपूत और ब्राह्मण संभवतः अवध के गौड़ हैं न कि बंगाल के। उनकी उत्पत्ति भाटों की ख्यातों में स्वायंभुव मनु से बतलाई गई है और वे चंद्रवंशी माने जाते हैं। प्रतीत होता है कि राजपूताने में गौड़ बहुत प्राचीन काल में आये हों। जोधपुर राज्य का एक इलाक़ा गोड़वाड़ नाम से प्रसिद्ध है, जहां प्राचीन काल में गौड़ों का अधिकार रहा होगा। अजमेर ज़िले में गौड़ों की जागीरें पहले थीं, अब तो केवल एक स्थान राजगढ़ ही उनके अधिकार में रह गया है। अजमेर के गौड़ प्रसिद्ध चौहान पृथ्वीराज के समय अपना राजपूताने में आना मानते हैं और उनका कथन है कि उनके पूर्वज वछराज और वामन यहां आये। वछराज की संतान अजमेर ज़िले में

---

(१) पुराणों से पाया जाता है कि श्रावस्ती नगरी गौड़ देश में थी—

श्रावस्तश्च महातेजा वत्सकस्तत्सुतोऽभवत्।
निर्मिता येन श्रावस्ती गौडदेशे द्विजोत्तमाः ॥ ३० ॥

मत्स्यपुराण; अध्याय १२।

अवध के गोंडा (गौड़) ज़िले में सहेठ और महेठ गांवों की सीमा पर कोसल (उत्तर कोसल) देश का प्रसिद्ध श्रावस्ती नगर था और इक्ष्वाकुवंशी राजा श्रावस्त (शावस्त) ने उसे बसाया था। बौद्धों का प्रसिद्ध जेतवन विहार यहीं था, जहां बुद्धदेव ने निवास किया था, जिससे वह विहार बौद्धों में बड़ा ही पवित्र माना जाता था। अलबेरूनी ने थाणेश्वर देश का नाम गोड़ (गौड़) दिया है (एडवर्ड साचू; अलबेरूनीज़ इंडिया; जि० १, पृ० ३००)। थाणेश्वर के राज्य का विस्तार दूर दूर तक फैला हुआ था और कन्नौज तथा श्रावस्ती नगर श्रीहर्ष के समय उसी के अंतर्गत थे।

और वामन की कुचामण (जोधपुर राज्य) में रही। अजमेर के गौड़ों के अधीन पहले जूनिया, सावर, देवलिया और श्रीनगर के इलाक़े थे, परंतु पीछे से श्रीनगर के सिवा सब इलाक़े उनके अधिकार से निकल गये। उनकी शृंखलाबद्ध नामावली नहीं मिलती। जसा का पौत्र और जोगा का पुत्र गौड़ राजा गोपालदास (मांधातृराज) बादशाह जहांगीर के समय आमेर का क़िलेदार था और जब बादशाह तथा उसके बेटे खुर्रम (शाहजहां) में अनबन हुई, उस समय गोपालदास अपने ज्येष्ठ पुत्र विक्रम सहित शाहज़ादे के साथ था और ठट्टे की लड़ाई में वे दोनों बड़ी वीरता से लड़कर काम आये। गोपालदास के मारे जाने पर उसका दूसरा बेटा विट्ठलदास जूनिया में शाहज़ादे के पास हाज़िर हुआ तो शाहज़ादे ने उसकी बहुत कुछ तसल्ली की और बहुतसा इनाम इक़राम दिया। शाहजहां ने तख़्त पर बैठने के पीछे उसको ३००० ज़ात और १५०० सवार का मनसब[१]

(१) बादशाह अकबर के पहले के दिल्ली के तुर्क, गुलाम, ख़िलजी, तुग़लक, सैयद, लोदी (अफ़ग़ान) और सूरवंशियों में से किसी का राज्य सौ वर्ष भी रहने न पाया, जिसका मुख्य कारण यह था कि उन सुलतानों ने हिन्दुओं को सैनिक-सेवा के उच्च पदों पर बहुधा नियत नहीं किया था। अकबर ने उनकी इस नीति को हानिकारक जानकर अपनी सेना में सुन्नी, शिया और राजपूतों (हिंदुओं) के तीन दल इसी विचार से रक्खे कि यदि कोई एक दल बादशाह के प्रतिकूल हो जाय, तो दूसरे दो दल उसको दबाने में सहायक हो सकें। इस सिद्धान्त को सामने रखकर अकबर ने सैनिक सेवा के लिए मनसब का तरीक़ा जारी किया और कई हिंदू राजाओं, सरदारों तथा योग्य राजपूतों आदि को भिन्न भिन्न पदों के मनसबों पर नियत किया।

पहले तो अमीरों के दर्जे नियत न थे और न यह नियम था कि कौनसा अमीर कितना लवाज़मा रक्खे और क्या तनख़्वाह पावे। अकबर ने फ़ौजी प्रबन्ध के लिए ६६ मनसब नियत किये और अपने अमीरों, राजाओं, सरदारों और जागीरदारों आदि को अलग अलग दर्जे के मनसब देकर भिन्न भिन्न मनसबों के अनुसार मनसब-दारों की तनख़्वाह और लवाज़मा नियत कर दिया। ये मनसब १०००० से लगाकर १० तक थे। प्रारंभ में शाहज़ादों के सिवा किसी को ५००० से ऊपर का मनसब नहीं मिलता था, परंतु पीछे इस नियम का पालन नहीं हुआ, क्योंकि राजा टोडरमल तथा कछवाहा राजा मानसिंह को भी सातहज़ारी मनसब मिला था और शाहज़ादों का मनसब १०००० से ऊपर बढ़ा दिया गया था।

दिया। फिर उसकी प्रतिदिन उन्नति होती गई और बादशाह के चौथे राज्यवर्ष अर्थात् सन् ४ जुलूस (वि० सं० १६८७–८८) में वह रणथंभोर के क़िले का हाकिम नियत हुआ। सन् ६ जुलूस (वि० सं० १६८६–६०) में वह मिरज़ा मुज़फ्फ़र किरमानी की जगह अजमेर का फ़ौजदार और सन् ८ जुलूस (वि० सं० १६६१–६२) में अजमेर का सूबेदार नियत हुआ। वही इलाक़ा उसकी जागीर का था। सन् १४ जुलूस (वि० सं० १६६७–६८) में वज़ीरख़ां सूबेदार के मरने पर वह अक़बराबाद (आगरे) का क़िलेदार और सूबेदार बना और उसका मनसब ५००० ज़ात और ४००० सवार का हो गया। मरने से पहले उसका मनसब ५००० ज़ात और ५००० सवार तक पहुंच गया था। वह कई लड़ाइयों में शाहज़ादे शुजा और औरंगज़ेब के साथ था। सन् २५ जुलूस (वि० सं० १७०६) में उसका देहान्त हुआ। उसके ४ पुत्र अनिरुद्ध, अर्जुन, भीम और हरजस थे। अनिरुद्ध अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ। वह बादशाही सेवा में रहकर अपने अच्छे कामों से ३५०० ज़ात व

ये मनसब ज़ाती थे और इनके सिवा सवार अलग होते थे, जिनकी संख्या ज़ाती मनसब से अधिक नहीं, किंतु कम ही रहती थी; जैसे हज़ारी ज़ात, ७०० सवार; तीन हज़ारी ज़ात, २००० सवार आदि। कभी कभी ज़ाती मनसब के बराबर सवारों की संख्या भी, लड़ाई आदि में अच्छी सेवा बजाने पर बढ़ा दी जाती, परंतु ज़ात से सवारों की संख्या प्रायः न्यून ही रहती थी। अलबत्ता सवार दो अस्पा, से (तीन) अस्पा कर दिये जाते थे। दो अस्पा सवारों की तनख़्वाह मामूल से डेढ़ी और से अस्पा की दूनी मिलती थी, जिससे मनसबदारों को फ़ायदा पहुंच जाता था। बादशाह के प्रसन्न होने पर मनसब बढ़ा दिया जाता और अप्रसन्न होने पर घटा दिया या छीन भी लिया जाता था। मनसब के अनुसार माहवारी तनख़्वाह या जागीर मिलती थी। प्रत्येक मनसब के साथ घोड़े, हाथी, ऊंट, खच्चर और गाड़ियों की संख्या नियत होती थी और मनसबदार को ठीक उतनी ही संख्या में वे रखने पड़ते थे, जैसे कि—

दस हज़ारी मनसबदार को ६६० घोड़े, २०० हाथी, १६० ऊंट, ४० खच्चर और ३२० गाड़ियां रखनी पड़ती थीं और उसकी माहवार तनख़्वाह ६०००० रुपये होती थी।

पांच हज़ारी को ३३७ घोड़े, १०० हाथी, ८० ऊंट, २० खच्चर और १६० गाड़ियां रखनी पड़ती थीं और उसका मासिक वेतन ३०००० रुपये होता था।

एक हज़ारी को १०४ घोड़े, ३० हाथी, २१ ऊंट, ४ खच्चर और ४२ गाड़ियां रखनी पड़ती थीं और उसे ८००० रुपये मासिक तनख़्वाह मिलती थी।

३००० सवार तक के मनसब तक पहुंच गया था। आलमगीर (औरंगज़ेब) के शासन-काल में शुजा पर जो चढ़ाई हि० स० १०६६ (वि० सं० १७१६-१७) में हुई थी उसमें वह नियत हुआ और आगरे से रवाना होकर रास्ते में ही मर गया। उसके वंशजों का वृत्तांत हम अजमेर के इतिहास में लिखेंगे। अनिरुद्ध के तीनों भाई भी बादशाही चाकरी में रहे और उन्होंने भी मनसब पाये थे। अनिरुद्ध के भाई अर्जुन ने जोधपुर के राजा गजसिंह के ज्येष्ठ पुत्र प्रसिद्ध अमरसिंह राठोड़ को—जिसने शाहजहां बादशाह के

एक सदी (१००) वाले को १० घोड़े, ३ हाथी, २ ऊंट, १ खच्चर और ५ गाड़ियां रखनी पड़ती थीं और उसका मासिक वेतन ७०० रुपये होता था।

घोड़े अरबी, इराक़ी, मुजन्नस, तुर्की, टट्टू, ताज़ी और जंगली रक्खे जाते थे। उनमें से प्रत्येक जाति की संख्या भी नियत रहती और जाति के अनुसार प्रत्येक घोड़े की तनख़्वाह अलग अलग होती थी जैसे कि अरबी की १८ रुपये माहवार तो जंगली की ६ रुपये। इसी तरह हाथी भी अलग अलग जाति के अर्थात् मस्त, शेरगीर, सादा, मंझोला, करहा, फुंदरकिया और म्योकल होते थे और उनकी तनख़्वाह भी जाति के अनुसार अलग अलग नियत थी, जैसे मस्त के ३३ रुपये माहवार तो म्योकल की ७ रुपये माहवार तनख़्वाह थी। ऊंट की माहवार तनख़्वाह ६ रुपये, खच्चर की ३ और गाड़ी की १५ रुपये थी।

सवारों के अनुसार मनसब के तीन दर्जे होते थे। जिसके सवार मनसब (ज़ात) के बराबर होते वह प्रथम श्रेणी का; जिसके सवार मनसब से आधे या उससे अधिक होते वह दूसरी श्रेणी का; और जिसके आधे से कम होते वह तीसरी श्रेणी का माना जाता था। इन श्रेणियों के अनुसार मनसबदार की माहवारी तनख़्वाह में भी थोड़ासा अंतर रहता था, जैसे कि प्रथम श्रेणी के ५ हज़ारी मनसबदार की माहवारी तनख्वाह ३०००० रुपये तो दूसरी श्रेणीवाले की २९००० और तीसरी श्रेणीवाले की २८००० होती। इसी तरह घोड़ों के सवारों की तनख़्वाह भी घोड़ों की जाति के अनुसार अलग अलग होती थी। जिसके पास इराक़ी घोड़ा होता उसको ३० रुपये माहवार, मुजन्नस-वाले को २५, तुर्कीवाले को २०, टट्टूवाले को १८, ताज़ीवाले को १५ और जंगलीवाले को १२ रुपये माहवार मिलते थे। घोड़ों के दाग़ भी लगाये जाते थे और उनकी हाज़री भी ली जाती थी। यदि नियत संख्या से घोड़े आदि कम निकलते तो उनकी तनख़्वाह काट ली जाती थी। मनसबदारों का यह तरीक़ा अकबर के पीछे ढीला पड़ गया और बाद में तो नाममात्र का प्रतिष्ठा-सूचक ख़िताब सा हो गया था।

दरबार में मीर बख़्शी सलाबतख़ां का कटार से काम तमाम किया—था।

अजमेर के अतिरिक्त जोधपुर राज्य में मारोठ के आसपास के प्रदेश में भी गौड़ों का पहिले अधिकार था, जिससे वह प्रदेश अब तक गौड़ाटी (गौड़ावाटी) कहलाता है। राजपूताने के बाहर गौड़ों की ज़मींदारियां आगरा, अवध आदि ज़िलों में हैं।

राजपूताने के साथ संबंध रखनेवाले प्राचीन राजवंशों का बहुत ही संक्षिप्त परिचय इस अध्याय में केवल इस अभिप्राय से दिया गया है कि उसके पढ़ने से पाठकों को यह ज्ञात हो जाय कि प्रचलित बड़वे भाटों की ख्यातें और रासा आदि पुस्तकें कितनी अशुद्ध और कपोलकल्पित हैं। इस अध्याय में दिये हुए प्राचीन राजवंशों में से अधिकतर का तो नाम निशान भी भाटों की ख्यातों में नहीं मिलता और जिन वंशों की वंशावलियां तथा संवत् उनमें दिये हैं वे प्रायः कृत्रिम एवं मनमाने हैं। इतिहास के अंधकार में उन लोगों ने कैसी-कैसी निराधार कथाओं को इतिहास के नाम से उनमें भर दिया है और अब तक राजपूत जाति उन्हीं पर विश्वास करती चली आ रही है। वे देशी और विदेशी विद्वान् बड़े धन्यवाद के पात्र हैं, जिनके शोध ने भारत के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालकर उसे किसी प्रकार अन्धकार से निकाला है। प्राचीन शिलालेख और दानपत्र, जो पहले केवल धन के बीजक

मनसब का यह वृत्तान्त पढ़कर पाठकों को आश्चर्य होगा और वे अवश्य ही यह प्रश्न करेंगे कि दस हज़ारी मनसबदार अपने मासिक वेतन ६०००० रुपयों में ६६० घोड़े (सवार और साज सहित), २०० हाथी, १६० ऊंट, ४० खच्चर, और ३२० गाड़ियां सैनिक सेवा के लिए उत्तम स्थिति में कैसे रख सकता था? परंतु इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं है, क्योंकि उस समय प्रत्येक वस्तु बहुत सस्ती मिलती थी अर्थात् जो चीज़ उस वक़्त एक आने में मिलती थी उतनी आज एक रुपये को भी नहीं मिल सकती। बिलकुल साधारण स्थिति के मनुष्य को भी उस समय बहुत ही थोड़े व्यय में उत्तम खाद्य-पदार्थ तथा अन्य आवश्यक वस्तुएं मिल सकती थीं। 'आईने अकबरी' में अकबर के राज्य के प्रत्येक सूबे की उन्नीस वर्ष (सन् जुलूस या राज्यवर्ष ६ से २४=वि० सं० १६१७ से १६३५ तक) की भिन्न भिन्न वस्तुओं की दर नीचे लिखे अनुसार की है—

समझे जाते, जिनके रहस्य प्रायः गुप्त और लुप्त ही से थे और जिनकी लिपि को देखकर लोग आश्चर्य के साथ नाना प्रकार की मिथ्या कल्पनाएं करते थे, उन्हीं के द्वारा आज हमारा सच्चा इतिहास कितने एक अंश में प्राप्त हो

पदार्थ	भाव				पदार्थ	भाव			
	रु०	आ०	पा०			रु०	आ०	पा०	
गेहूं ...	०	४	६	मन	शक्कर (लाल) ...	१	६	६	मन
काबुली चने ...	०	६	३	,,	नमक ...	०	६	६	,,
देशी चने ...	०	३	३	,,	मिरच ...	१	६	६	,,
मसूर ...	०	४	९	,,	पालक ...	०	६	६	,,
जौ ...	०	३	३	,,	पोदीना ...	१	०	०	,,
चावल (बढ़िया)...	२	४	०	,,	कांदा ...	०	२	६	,,
चावल (घटिया)...	१	०	०	,,	लहसुन ...	१	०	०	,,
साठी चावल ...	०	३	३	,,	अंगूर ...	२	०	०	,,
मूंग ...	०	७	३	,,	अनार (विलायती) ...	६	८	० से	,,
उड़द ...	०	६	६	,,		१५	०	०	
मौठ ...	०	४	६	,,	खरबूजा ...	१	०	०	,,
तिल ...	०	६	६	,,	किशमिश ...	०	३	६	सेर
जवार ...	०	४	०	,,	सुपारी ...	०	१	६	,,
मैदा ...	०	८	९	,,	बादाम ...	०	४	६	,,
भेड़ का मांस ...	१	१०	०	,,	पिस्ता ...	०	३	६	,,
बकरे का मांस ...	१	५	६	,,	अखरोट ...	०	२	०	,,
घी ...	२	१०	०	,,	चिरोंजी ...	०	७	६	,,
तेल ...	२	०	०	,,	मिसरी ...	०	२	६	,,
दूध ...	०	१०	०	,,	कंद (सफेद) ...	०	२	३	,,
दही ...	०	७	०	,,	केसर ...	१०	०	०	,,
शक्कर (सफ़ेद) ...	३	३	३	,,	हल्दी ...	०	०	९	,,

अकबर के समय का मन, २६ सेर १० छटांक अंग्रेज़ी के बराबर होता था और अकबरी रुपया भी कलदार से न्यून नहीं था। उपर्युक्त भाव देखकर पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि उस समय मनसबदार और उनके सैनिक साथी अपना निर्वाह भली-भांति किस प्रकार कर सकते थे। मज़दूरों और नौकरों के वेतन का भी अनुमान इसी से किया जा सकता है।

गया है। प्राचीन शोध के पूर्व किसको मालूम था कि मौर्यवंशी महाराजा चन्द्रगुप्त और अशोक किस समय और कैसे प्रतापशाली हुए, गुप्तवंशी समुद्रगुप्त तथा चंद्रगुप्त (दूसरे) ने कहां-कहां विजय प्राप्त की, हर्षवर्द्धन ने कैसे-कैसे काम किये, प्रतिहारों ने मारवाड़ से जाकर कन्नौज का महाराज्य कब लिया, उनका साम्राज्य किस प्रकार बढ़ा चढ़ा रहा और भारत के विविध राजवंशों में कौन-कौन राजा कब-कब हुए। केवल पौराणिक कथाओं और प्रचलित दंतकथाओं में अनेक प्रसिद्ध राजाओं के जो नाम वंशपरंपरा से सुनते आते थे उनके साथ अनेक कल्पित नाम जोड़कर वि० सं० के प्रारंभ से लगाकर नवीं और दसवीं शताब्दी या उससे भी पीछे होनेवाले राजाओं का समय हज़ारों वर्ष पहले का ठहरा दिया तथा उस समय की घटनाओं को सतयुग की बतलाकर कई पुराने महल, मंदिर, गुफ़ा आदि स्थानों को पांडवों, संप्रति, विक्रमादित्य, भर्तरी (भर्तृहरि) आदि राजाओं के बनवाये हुए प्रसिद्ध कर दिये।

हम ऊपर लिख आये हैं कि राजपूताने में प्राचीन शोध का काम अब तक नाममात्र को ही हुआ है। संभव है कि आगे विशेष रूप से खोज होने पर फिर अनेक नवीन वृत्त प्रकट होकर राजपूताने का प्राचीन इतिहास शुद्धता के साथ लिखे जाने में सहायक होंगे। आज तक जो कुछ सामग्री उपलब्ध हुई है उसी के आधार पर हमने राजपूताने से संबंध रखनेवाले प्राचीन राजवंशों का नाम-मात्र का परिचय ही ऊपर दिया है।

चौथा अध्याय

मुसलमानों, मरहटों और अंग्रेज़ों का राजपूताने से संबंध

मुसलमानों का संबंध

विक्रम संवत् की तेरहवीं शताब्दी के मध्य तक राजपूताने के प्रत्येक विभाग पर प्राय: राजपूत राजा ही राज्य करते थे। यद्यपि उससे पूर्व ही मुसलमानों के हमले इस देश पर होने शुरू हो गये थे और उन्होंने सिंध तथा उत्तरी सीमान्त प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया था तो भी वहां के राजपूत अवसर पाकर उनको अपने इलाक़ों में से निकाल भी देते थे। राजपूताने के साथ मुसलमानों के संबंध का वर्णन करने के पूर्व मुसलमानों की उत्पत्ति के विषय में थोड़ासा कथन करना अप्रासंगिक न होगा।

अरब देश में भी पहले हिन्दुस्तान के तुल्य ही भिन्न-भिन्न जातियां थीं और उनमें धर्मभेद भी था। वहां के निवासी कई देवी देवताओं की मूर्तियों को पूजते और देश में कई छोटे बड़े राजा व सरदार थे, जिनमें निरंतर लड़ाई-झगड़े होते रहते थे। वहां की साधारण जनता प्राय: असभ्य और अशिक्षित थी। वि० सं० ६२८ (ई० स० ५७१) में कुरैश जाति में मुहम्मद नामक एक महापुरुष ने जन्म लिया। सयाना होने पर उन्होंने देखा कि मतभेद और लड़ाई-झगड़े देश का नाश कर रहे हैं, पर-स्पर की फूट और वैरभाव ने देशवासियों के हृदय में घर कर रक्खा है और लोग यद्यपि वीरप्रकृति के हैं, परंतु अंधविश्वासों से पदाक्रांत हो रहे हैं। उन महात्मा ने बीड़ा उठाया कि मैं मूर्तिपूजन को उठा दूंगा, अपने देश-बांधवों को एकेश्वरवादी बनाकर उनके मतभेद को तोड़ दूंगा और दीन हीन दशा में डूबे हुए लोगों के लिए एक ही धर्म स्थापित कर उनकी दशा उन्नत कर दूंगा। ऐसा दृढ़ संकल्प कर उन्होंने वि० सं० ६६७

(ई० स० ६१०) में अपने तईं ईश्वर-प्रेरित पैग़ंबर प्रकट किया और क़ुरान को ईश्वरीय आज्ञा बतलाकर किसी प्रकार के भेदभाव के बिना धनी व दीन सब को एक ही ईश्वर की प्रार्थना करने का उपदेश देने लगे। लोगों ने उनको पैग़ंबर मानकर उनकी बातों पर विश्वास किया और शनैः शनैः उनका प्रचारित मत बढ़ने और ज़ोर पकड़ने लगा। स्वार्थी लोगों ने अपने स्वार्थ की रक्षा के निमित्त अपने पक्षवालों को उकसा कर मुहम्मद साहब को नाना भाँति के कष्ट पहुंचाने में कमी न की। यहांतक कि वैर-भाव और आपत्ति के मारे उनको मक्का छोड़कर मदीने जाना पड़ा, तभी से अर्थात् वि० सं० ६७६ (ई० स० ६२२) से हिजरी सन्[1] का प्रारंभ हुआ। इतने पर भी वे अपने सिद्धांतों पर अटल बने रहे और अन्त में विजय प्राप्त कर उन्होंने अपने नाम का मुहम्मदी धर्म प्रचलित कर दिया। उनके अनुयायी परस्पर का वैरभाव छोड़ एकता के सूत्र में बंध गये। सहधर्मी भाई के नाते से उनमें पारस्परिक प्रेम की वृद्धि हुई। उनका सामाजिक बल बढ़ा और अपने नेता का स्वर्गवास होने के पूर्व ही एकमत होकर उन्होंने अन्यान्य देशों में भी अपने धर्म को फैलाने के लिए उत्साह के साथ कार्यारम्भ किया। पैग़म्बर साहब के जीते जी ही इस्लाम धर्म अरब के बहुत से विभागों में फैल चुका था और उनके अनुयायियों की एकता तथा धार्मिक दृढ़ता के कारण उनका बल इतना बढ़ गया कि वे खुल्लम खुल्ला तल-वार के ज़ोर से अपने मत का प्रचार करने लगे और धर्म के नाम से अपना राजनैतिक बल बढ़ाकर अन्त में वे एक वीर जाति के स्वामी और देश के बड़े विभाग के शासक हो गये। उन्होंने अपने देशी भाइयों के साथ भी कई लड़ाइयां लड़ीं और वे धन व ऐश्वर्य प्राप्त करने में सफल-मनोरथ होकर हिजरी सन् ११ (वि० सं० ६८६=ई० स० ६३२) में ६२ बरस की उमर में स्वर्ग को सिधारे। उनके पीछे उनकी गद्दी पर बैठनेवाले ख़लीफा कहलाये। पहला ख़लीफा अबूबक्र सिद्दीक़ हुआ, जो मुहम्मद साहब की स्त्री आयशा का पिता था। वह हि० स० ११ से १३ (वि० सं० ६८६ से

(१) हिजरी सन् के लिए देखो 'भारतीय प्राचीनलिपिमाला'; पृष्ठ १९१–९२।

६६१=ई० स० ६३२-३४) तक ख़लीफ़ा रहा[1]।

मुहम्मद साहब की मृत्यु के पीछे २० ही वर्ष में मुसलमानों का अधिकार सीरिया, पैलेस्तान, मिसर और ईरान पर हो गया, जिसका मुख्य कारण उनके धर्म का यह आदेश था कि विधर्मियों को मारनेवाले को स्वर्ग मिलता है। ये लोग जहां पहुंचते वहां के लोगों को बलपूर्वक मुसलमान बनाते और जो अपना धर्म छोड़ना नहीं चाहते उनको मार डालने में ही वे सवाब (पुण्य) समझते थे। इसी से ईरान के कई कुटुंबों ने अपने धर्म की रक्षा के लिए समुद्र-मार्ग से भागकर हिन्दुस्तान में शरण ली, जिनके वंशज यहां पारसी कहलाते हैं। ऐसे ही ये लोग जहां जहां पहुंचते वहां की प्राचीन सभ्यता को नष्ट कर वहां के महल, मंदिर, मूर्तियों आदि को तोड़कर मटियामेट करते और बड़े बड़े पुस्तकालयों तक को जलाकर भस्म कर देते थे[2]।

---

(१) अबूबक्र और उसके पीछे के तीन ख़लीफ़ा, ये चारों (चहार) यार कहलाते थे—उमर बिन ख़त्ताब (ख़त्ताब का बेटा उमर)–हि० स० १३ से २३ (वि० सं० ६९१ से ७०१=ई० स० ६३४-४४)।
उस्मान–हि० स० २४ से ३५ (वि० सं० ७०१ से ७१२=ई० स० ६४४-५५)।
अली–हि० स० ३५ से ४० (वि० सं० ७१२ से ७१८=ई० स० ६५५-६१) तक।
फिर अली का पुत्र हसन सिर्फ़ ६ मास ख़लीफ़ा रहा तदनंतर उस्मान के सेनापति मुआविया ने उससे गद्दी छीन ली और वह ख़लीफ़ा बन गया। वह उम्मियाद वंश का था, जिससे वह और उसके पीछे के १३ ख़लीफ़ा उम्मियादवंशी कहलाये और उनकी राजधानी दमिश्क रही।

(२) ख़लीफ़ा उमर के सेनापति अम्र-इब्न-उल्-आस ने ई० सन् ६४० (वि० सं० ६९७) में मिसर के प्रसिद्ध नगर अलेगज़ैण्ड्रिया अर्थात् इस्कन्दरिया को विजय करने के समय वहां के प्राचीन पुस्तकालय को, जिसमें कई राजाओं की एकत्र की हुई लाखों पुस्तकें थीं, ख़लीफ़ा की आज्ञा से जलाकर नष्ट कर दिया। यद्यपि इस विषय में कोई कोई यूरोपियन विद्वान् संदेह करते हैं, परंतु मुसलमानों के इतिहास से इसके सत्य होने में कोई संदेह नहीं रहता। 'नासिखुत्तवारीख़' में इसका हाल याहिया नामक विद्वान् के वृत्तान्त में विस्तार से दिया है। याहिया ने अम्र-इब्न उल्-आस से इस पुस्तकालय पर हस्तक्षेप न करने की प्रार्थना की थी और अम्र ने उसके कहने पर ख़लीफ़ा उमर को लिखा भी था, परंतु ख़लीफ़ा ने यही उत्तर दिया कि यदि इन पुस्तकों

फिर तो खिलाफत की गद्दी के लिए आपस ही में लड़ाई झगड़े चलने लगे, सहधर्मी का नाता टूट गया और सांसारिक ऐश्वर्य तथा पद-प्रतिष्ठा के प्रलोभन ने वही कार्य कराया जो राज्यप्राप्ति के लिए संसार की अन्याय जातियों में होता आया है। खलीफा अली जब खिलाफत के तख़्त पर बैठा तो लोग उसको असली वारिस न समझकर उसके खिलाफ हुए। ख़ारिज़िन लोगों के साथ की लड़ाई में वह हारा और अंत में हि० स० ४० (वि० सं० ७१८=ई० स० ६६१) में मारा गया। उसकी मृत्यु के पीछे बहुत से मुसलमानों ने उसका मत इख़्तियार किया और वे शिया नाम से प्रसिद्ध हुए। ईरान के मुसलमान और हिंदुस्तान के दाऊदी बोहरे इसी मत के माननेवाले हैं।

हम यहां मुहम्मदी मत का इतिहास नहीं लिख रहे हैं। हमारा अभिप्राय राजपूताने के साथ मुसलमानों का संबंध बतलाने का है, अतएव अब हम संक्षेप में यह बतलायेंगे कि मुसलमान भारतवर्ष में कब आये और किस प्रकार उन्होंने अपना राज स्थापित किया।

ख़लीफा उमर के समय में अरब सेना समुद्र-मार्ग से बंबई के पास थाने तक आई, जो उमान के हाकिम उस्मान बिन आसी ने खलीफा की आज्ञा के बिना भेजी थी, इसलिए उमर ने उसे वापस बुला लिया और उस्मान को यह भी लिखा कि जो इस सेना ने हार खाई तो उसमें जितने सैनिक मारे जावेंगे उतने ही तेरी क़ौम के आदमियों को मारूंगा[1]।

इसी अर्से में उस्मान के भाई ने भड़ौच पर सेना भेजी तो मार्ग में देवल (सिंध) के पास चच (सिंध के राजा) ने उससे लड़ाई की।

में जो कुछ लिखा है वह कुरान के अनुसार है तब तो हमको इन अनेक भाषाओं की असंख्य पुस्तकों की कोई आवश्यकता नहीं, कुरान ही बस है; यदि इनका आशय कुरान से विरुद्ध है तो बहुत बुरा है; इसलिए सब को नष्ट कर दो। खलीफा की यह आज्ञा पाने पर अम्र ने इन पुस्तकों को इस्कन्दरिया के हम्मामों में भेजकर पानी गरम करने के लिए ईंधन की जगह जलवा दिया। इन पुस्तकों का संग्रह इतना बड़ा था कि ६ महीने तक उनसे जल गरम होता रहा।

(१) इलियट्; हिस्ट्री ऑव् इंडिया; जि० १, पृ० ४१५-१६।

'फतूहुल् बलदान' में तो लिखा है कि अरबों ने शत्रु को शिकस्त दी, परंतु 'चचनामे' में उल्लेख है कि इस युद्ध में अरब सेनापति मुग़ैरा अबुल् आसी मारा गया[1]।

फिर थोड़े ही समय पीछे ईराक़ (बसरा) के हाकिम अबू मूसा अशाकी ने अपने एक अफसर को मकरान व किरमान में भेजा। ख़लीफा ने अबू मूसा को हिन्द व सिंध का खुलासा हाल लिख भेजने की आज्ञा दी, जिसपर उसने उत्तर लिखा कि हिंद व सिंध का राणा ज़बर्दस्त, अपने धर्म का पक्का, परंतु मन का मैला है। इसपर ख़लीफा ने आज्ञा दी कि उसके साथ जिहाद (धर्म के लिए युद्ध) नहीं करना चाहिये[2]।

हि० स० २२ (वि० सं० ७००=ई० स० ६४३) में अब्दुल्ला बिन उमर ने किरमान और सिजिस्तान फ़तह कर सिंध में भी सेना भेजनी चाही, परंतु ख़लीफा ने उसे स्वीकार न किया[3]। ख़लीफा वलीद[4] के समय उसके एक सेनापति हारूं ने मकरान को विजय कर बहुत से बिलोचों को मुसलमान बनाया। इस प्रकार हि० स० ८७ (वि० सं० ७६३=ई० स० ७०५-६) से वहां मुसलमानी धर्म का प्रचार हुआ और मुसलमान हिन्दुस्तान के निकट आ पहुंचे।

फिरिश्ता लिखता है कि पहले सरंदीप (सिंहलद्वीप, लंका) के व्यापारियों के जहाज़ अफ्रीका और लाल समुद्र (Red Sea) के तट पर तथा फारिस (ईरान) की खाड़ी में माल ले जाया करते थे और हिंदू यात्री भी मिसर और मक्का में अपने देवताओं की यात्रा के लिए जाया करते थे[5]। कहते हैं कि सरंदीप के निवासियों में से बहुतेरे शुरू ज़माने ही से मुहम्मदी मत के अनुयायी हो गये और मुसलमानों के मध्य (अरब में) उनका आना

(१) इलियट्; हिस्ट्री ऑव् इंडिया; जि० १, पृ० ४१६।

(२) वही; पृ० ४१६।

(३) वही; पृ० ४१७।

(४) ख़लीफा वलीद ने हि० स० ८६-९६ (वि० सं० ७६२-७७१=ई० स० ७०५-७१४) तक शासन किया था।

(५) ब्रिग्ज़; फिरिश्ता; जि० ४, पृ० ४०२।

जाना जारी हो गया था। एक बार सरंदीप के राजा ने अपने देश की कई अमूल्य वस्तुओं से लदा हुआ एक जहाज़ बगदाद को, ख़लीफा वलीद के वास्ते, भेजा। देवल (सिंध) पहुंचने पर वहां (ठट्टे) के राजा की आज्ञा से वह लूट लिया गया। उसके साथ सात जहाज़ और भी थे, जिनमें कई मुसलमान कुटुम्ब थे, जो करबेला की यात्रा को जा रहे थे; वे भी क़ैद कर लिये गये। उनमें से कई क़ैदी किसी ढब से निकलकर हज्जाज[1] के पास अपनी फरियाद ले गये। उसने मकरान के हाकिम हारूं के द्वारा सिंध के राय सस्सा (चच) के पुत्र दाहिर को चिट्ठी लिखकर भेजी। दाहिर ने टालाटूली का उत्तर दिया, जिसपर हज्जाज ने इस्लाम के प्रचार के लिए हिंदुस्तान पर आक्रमण करने की आज्ञा ख़लीफा वलीद से लेकर बुदमीन नामी एक अफसर को तीन सौ सवारों सहित रवाना किया और मकरान के हाकिम हारूं को लिख दिया कि इसकी सहायता के लिए एक सहस्र सेना देवल पर आक्रमण करने को भेज देना[2]। बुदमीन को सफलता न हुई और वह प्रथम युद्ध में ही मारा गया। फिर हज्जाज ने हि० स० ९३ (वि० सं० ७६८=ई० स० ७११) में अपने चचेरे भाई और जमाई इमादुद्दीन मुहम्मद (बिन) कासिम को ६ हज़ार असीरियन् सेना देकर देवल पर भेजा। वहां पहुंचते ही उसने नगर का घेरा डालने की तैयारी की, परन्तु बीच में पत्थर की सुदृढ़ दीवार से घिरा हुआ १२० फुट ऊंचा एक विशाल मंदिर आ गया था। मुहम्मद कासिम ने मंदिर के जादू भरे ध्वजादंड की ओर पत्थर फेंकने का यंत्र मंजनीक (मर्कटी यंत्र) लगातार तीसरे फेर में दंड को गिरा दिया, थोड़े ही दिनों में मंदिर को तोड़ डाला और १७ वर्ष से अधिक अवस्थावाले तमाम ब्राह्मणों को मार डाला, छोटे बालक तथा स्त्रियां क़ैद की गईं और बुड्ढी औरतों को छोड़

---

(१) हज्जाज बड़ी वीरप्रकृति का अरब सेनापति था, जिसको उम्मियाद वंश के पांचवें ख़लीफा अब्दुल मालिक ने अरब और ईरान का शासक नियत किया था। हज्जाज बड़ा ही निर्दयी था और कहते हैं कि अपने जीवनकाल में उसने १२०००० आदमियों को मरवाया था और उसकी मृत्यु के समय उसके यहां ५०००० आदमी क़ैद थे।

(२) ब्रिग्ज़; फ़िरिश्ता; जि० ४, पृ० ४०१।

दिया। मंदिर में लूट का माल बहुतसा हाथ आया, जिसका पांचवां हिस्सा हज्जाज के पास ७५ लौंडियों सहित भेजा गया और शेष सेना में बांट दिया[1]। फिर देवल पर आक्रमण किया। दाहिर का पुत्र फौजी (?) ब्राह्मणाबाद को चला गया। कासिम ने उसका पीछा किया और उसे कहलाया कि यदि अपना माल असबाब लेकर स्थान रिक्त करदोगे तो तुम्हारे प्राण न लिये जायंगे। वहां से सेहवान आदि स्थानों को विजय करता हुआ वह राजा दाहिर की तरफ बढ़ा। दाहिर के ज्येष्ठ पुत्र हलीरा (हरीराय) ने बहुतसी सेना एकत्र कर कासिम का मार्ग रोका, उसने भी मोर्चे पकड़े, परंतु युद्ध का सामान समाप्त हो गया था और सैनिक भी हताश हो गये थे, जिससे कासिम ने हज्जाज को सहायता के लिए नई सेना भेजने को लिखा और उसके पहुंचने तक वह अपने योद्धाओं को हिम्मत बंधाता रहा। ठीक समय पर एक हज़ार अरब सवार सहायता के निमित्त आ पहुंचे तब फिर जंग छेड़ा। कई लड़ाइयां हुई, परन्तु विजय किसी को भी प्राप्त न हुई। फिर दाहिर ने युद्ध पर कमर बांधी और वह अपने पुत्र की सेना से जा मिला। सेना-संचालन का काम उसने अपने हाथ में लिया और ता० १० रमज़ान हि० स० ९३ (वि० सं० ७६९ आषाढ सुदि १२=ई० स० ७१२ ता० २० जून) को ५०००० राजपूत, सिंधी और मुसलमान योद्धाओं (जो उसकी शरण में आ रहे थे) के साथ कासिम के मुक़ाबले को बढ़ा। पहले तो उसने शत्रु-सेना के निकट पहुंचकर छोटी लड़ाइयों से अरबों को अपने सुदृढ़ मोर्चों से बाहर लाने की कोशिश की, परंतु जब उसमें सफलता न हुई तो धावा कर दिया। घोर संग्राम होने लगा, वीरवर दाहिर शत्रुओं को काटता हुआ अपने साथियों समेत अरब सेना के मध्यभाग तक पहुंच गया। वे लोग नफ़्थे[2] जला जलाकर हिंदुओं पर फेंकने लगे। एक जलता हुआ गोला दाहिर के

(१) ब्रिग्ज़; फ़िरिश्ता; जि० ४, पृ० ४०५।

(२) नफ़्था एक गाढा द्रव पदार्थ होता था जो भूमि से निकलता था। उसकी गोलियां बनाकर जलते हुए तीरों के द्वारा शत्रुओं पर फेंकी जातीं, जिनसे आग लग जाती थी।

श्वेत हाथी के मुख पर आ लगा, जिससे वह घबराकर नदी की तरफ भागा। यह देखकर राजा की सेना में खलबली मचगई और अपने स्वामी को भागा जान उसने भी पीठ दिखा दी। कासिम ने पीछा किया, इतने में राजा का हाथी जल में डुबकियां लगाकर शांत हो लौट आया। दाहिर ने अपने योद्धाओं को ललकारकर लौटाया और वह बहादुरी के साथ डटकर युद्ध करने लगा। इतने में अनायास एक तीर उसके शरीर में आ घुसा और वह घायल होकर गिर पड़ा, इसपर भी उसने हिम्मत न हारी। यद्यपि घाव अनिष्टकारी लगा था तथापि वह घोड़े पर सवार हो शत्रु-सेना पर प्रहार करता हुआ आगे बढ़ा और वीरता के साथ खड्ग झाड़ता वीरगति को प्राप्त हुआ[1]। फिर कासिम अज़्दर (ऊच) पहुंचा तो दाहिर का पुत्र उस गढ़ को छोड़कर ब्राह्मणाबाद चला गया।

अपने पुत्र को क्षात्रधर्म से मुख मोड़ा देखकर दाहिर की राणी ने पति का आसन ग्रहण किया और सच्चे शूरवीर हृदयवाली वह वीराङ्गना पंद्रह सहस्र सेना साथ लेकर पति का वैर लेने शत्रु की ओर चली। उसने अग्निस्नान करने की अपेक्षा असिधारा में तन-त्याग अपने पति के पास पहुंचने का मार्ग उत्तम समझा। पहले तो उसने भूखी बाघिन की तरह वैरियों पर आक्रमण किया और फिर गढ़ में बैठकर शत्रु के दांत खट्टे करने लगी। कई महीनों तक कासिम गढ़ घेरे पड़ा रहा, परन्तु विजय न प्राप्त कर सका। अन्त में राजपूतों का अन्न व लड़ाई का सामान समाप्त हो गया तब उन्होंने अपनी रीति के अनुसार जौहर की आग जलाई। स्त्रियों और बाल-बच्चों को उस धधकती हुई ज्वाला के हवाले किया, फिर राणी रहे सहे राजपूतों को साथ लेकर शत्रुसेना पर टूट पड़ी और अपने संकल्प के अनुसार खड्गधारा में तन-त्याग पतिलोक को प्राप्त हुई[2]। असीरियन् सिपाहियों ने गढ़ में घुसकर छः हज़ार राजपूतों को खेत रक्खा और तीन हज़ार को क़ैद किया। फिरिश्ता ने यह कहीं नहीं लिखा कि कितने मुसलमान मारे गये। क्या सहस्रों राजपूत योद्धाओं ने भेड़ बकरी की भांति अपने गले

(१) ब्रिग्ज़; फिरिश्ता; जि० ४, पृ० ४०८। (२) वही; जि० ४, पृ० ४०६।

काटने दिये होंगे? बंदियों में दाहिर की दो राजकन्याएं स्वरूपदेवी और बरीलदेवी (परिमलदेवी) भी हाथ आईं और मुहम्मद कासिम ने खलीफा के वास्ते उन्हें हज्जाज के पास भेज दिया। हि० स० ६६ (वि० सं० ७७२=ई० स० ७१५) में वे राजदुलारियां दमिश्क में पहुंचाई गईं, जो उस समय उम्मियाद खलीफों की राजधानी थी। एक दिन खलीफा ने उनको बुलाया और उनका रूप-लावण्य देखते ही वह विह्वल हो गया और उनसे प्रेम की याचना की। ये दोनों भी तो दाहिर जैसे वीर पुरुष और उस सती वीराङ्गना माता की पुत्रियां थीं। उनका विचार यह था कि किसी प्रकार अपने पिता के मारनेवाले से वैर लेकर कलेजा ठण्ढा करें और साथ ही अपने सतीत्व की रक्षा भी करें। अपने संकल्प को पूरा करने का अच्छा अवसर जान उन्होंने खलीफा से प्रार्थना की कि हम आपकी शैय्या पर पैर रखने योग्य नहीं हैं, यहां भेजने के पहले ही कासिम ने हमारा कौमार्यव्रत भङ्ग कर दिया है। इतना सुनते ही खलीफा आगबबूला हो गया और उसने तत्काल आज्ञापत्र लिखवाया कि इसके देखते ही मुहम्मद कासिम को बैल के चमड़े में जीता सीकर हमारे पास भेज दो। इस हुक्म की उसी समय तामील हुई, मार्ग में तीसरे दिन कासिम मर गया और उसी अवस्था में खलीफा के पास पहुंचाया गया। खलीफा ने उन दोनों राजकन्याओं को बुलवाया और उन्हीं के सामने बैल का चमड़ा खुलवा कर कासिम का शव उन्हें दिखलाया और कहा कि खुदा के खलीफा का अपमान करनेवालों को मैं इस प्रकार दण्ड देता हूं। कासिम का मृत-शरीर देखते ही स्वरूपदेवी के मुख पर अपना मनोरथ सफल होने की प्रसन्नता छा गई, परंतु साथ ही मंद मुस्कुराहट और कटाक्ष के साथ उसने निधड़क खलीफा को कह दिया कि 'ऐ खलीफा! कासिम ने हमारा सतीत्व नष्ट नहीं किया, वह सदा हमें अपनी सगी भगिनियों के तुल्य समझता रहा और कभी आंख उठाकर भी कुदृष्टि से नहीं देखा, परंतु उसने हमारे माता, पिता, भाई और देशबंधुओं को मारा था इसलिए उससे अपना वैर लेने को हमने यह मिथ्या दोष उसपर लगाया था। तू क्यों अंधा होकर हमारी बातों में आ गया और बिना

किसी प्रकार की छानबीन के तूने अपने एक सच्चे स्वामीभक्त सेवक को मरवा डाला[1]। वीर बालिकाओं के ये वचन सुनते ही खलीफा सन्न हो गया और उनको अपने सामने से दूर किया। कहते हैं कि उसने फिर उन दोनों को जीता ही जलवा दिया।

खलीफा हशाम के समय (हि० स० १०५-२५=वि० सं० ७८१-८००=ई० स० ७२४-४३) जुनैद हिन्दुस्तानी इलाकों का हाकिम नियत होकर आया। जब सिंधु नदी पर पहुंचा तो दाहिर के बेटे जैसिया (जेसा, जयसिंह) से, जो मुसलमान हो गया था, उसका मुकाबला एक झील पर नौकाओं द्वारा हुआ। उस लड़ाई में जैसिया की नौका डूब गई और वह क़ैद करके मारा गया[2]।

इस तरह सिंध पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। राजपूताने की पश्चिमी सीमा सिंध से मिली हुई थी, अतएव उधर से राजपूताने और विशेषकर मारवाड़ पर उनके हमले होने लगे। वहां के राजपूत भी उनसे बराबर लड़ते ही रहे। सिंध के मुसलमान राजपूताने के किसी अंश पर अपना अधिकार न जमा सके, वे केवल जहां मौक़ा मिलता वहां लूटमार करते और राजपूतों का प्रबल सामना होने पर पीछे भाग जाया करते थे। सिंध की ओर से राजपूताने पर कब-कब और किन-किन मुसलमान अफ़सरों ने चढ़ाइयां कीं इसका ब्योरा न तो फारसी तवारीख़ों में और न यहां की ख्यातों में मिलता है। केवल 'फतूहुल् बलदान' में लिखा है कि सिंध के हाकिम जुनैद ने अपना सैन्य मरमाड़[3], मंडल, दालमज[4], बरूस[5], उज़ैन, मालिबा, बहरिमद (?), अल् बेलमाल[6] और जज्र[7] पर भेजा

(१) ब्रिग्ज़; फिरिश्ता; जि० ४, पृ० ४१०-११।

(२) इलियट्; हिस्ट्री ऑव् इंडिया; जि० १, पृ० ४४१।

(३) मरमाड़=मारवाड़।

(४) शायद यह स्थान बंबई इहाते के सूरत ज़िले का कामरेज हो।

(५) बरूस=भड़ौच।

(६) अल् बेलमाल=भीनमाल।

(७) जज्र=गुजरात।

था[1]। बादामी के सोलंकियों के सामंत लाट देश पर भी शासन करते थे। लाट के सोलंकी सामंत पुलकेशी (अवनिजनाश्रय) के कलचुरि सं० ४६० (वि० सं० ७९६=ई० स० ७३९) के दानपत्र में लिखा है कि 'ताजिकों (अरबों) ने तलवार के बल से सैंधव (सिंध), कच्छेल्ल (कच्छ), सौराष्ट्र (सोरठ, दक्षिणी काठियावाड़), चावोटक (चावड़ा), मौर्य, गुर्जर आदि के राज्यों को नष्ट कर दक्षिण के समस्त राजाओं को जीतने की इच्छा से दक्षिण में प्रवेश करते हुए उन्होंने सर्व प्रथम नवसारिका (नवसारी, गुजरात) पर आक्रमण किया। उस समय उस(पुलकेशी)ने घोर संग्राम कर ताजिकों को विजय किया, जिसपर शौर्य के अनुरागी राजा वल्लभ ने उसको 'दक्षिणा-पथसाधार', 'चलुक्किकुलालंकार', 'पृथ्वीवल्लभ' और 'अनिवर्त्तकनिवर्तयितृ' ये चार विरुद प्रदान किये[2]। इस कथन से अनुमान होता है कि अरबों ने एक या भिन्न-भिन्न समय में उक्त देशों आदि पर चढ़ाइयां की हों और नवसारी के पास पुलकेशी ने अरबों को परास्त किया हो। फतूहुल् बलदान और पुलकेशी के दानपत्र से पाया जाता है कि अरबों की ये चढ़ाइयां ख़लीफ़ा हशाम के समय होनी चाहियें, क्योंकि उसका राजत्व-काल हि० स० १०५ से १२५ (वि० सं० ७८० से ७९९=ई० स० ७२४ से ७४३) तक का है और पुलकेशी वि० सं० ७८८ और ७९६ (ई० स० ७३१ और ७३९) के बीच अपनी जागीर का स्वामी बना था। प्राचीन शिलालेखों तथा दानपत्रों से सिंध की ओर से राजपूताने पर होनेवाली मुसलमानों की और भी चढ़ाइयों का पता लगता है (जिनका वर्णन फारसी तथा अरबी तवारीख़ों में नहीं मिलता)। जैसे कि रघुवंशी प्रतिहार राजा नागभट (नागावलोक प्रथम) का[3] तथा मेवाड़ के राजा जैत्रसिंह का[4] सिंध के मुसलमानों को परास्त करना उनके शिलालेखादि से जाना जाता है। सिंध

(१) ना. प्र. प.; भाग १, पृ० २११।
(२) वही; भाग १, पृ० २१०-११।
(३) देखो ऊपर पृ० १७१।
(४) ना. प्र. प.; भाग ३, पृ० १३०-३१।

की ओर से होनेवाली मुसलमानों की चढ़ाइयों का वर्णन आगे हम प्रसंगवश करेंगे।

ऊपर बतला चुके हैं कि 'मुहम्मद साहब के देहांत के पीछे २० ही वर्ष में मुसलमानों का अधिकार ईरान तक हो गया था।' फिर वे लोग ईरान से पूर्व में बढ़ने लगे और खलीफा वलीद के समय वि० सं० ७६६-७० (ई० स० ७१२-१३) में कुतैब की अध्यक्षता में समरकंद, फरग़ाना, ताशकंद और खोकंद पर अपना अधिकार जमाकर पूर्वी तुर्किस्तान में तुर्फान और चीन तक बढ़ गये[1]। इसी तरह उन्होंने सीस्तान (शकस्तान) और आर्चोशिया पर अधिकार किया[2]; काबुल पर भी हमले किये, परंतु उनमें उनको सफलता न हुई[3]। हि० स० ८३ (वि० सं० ७५६=ई० स० ७०२) में खलीफा वलीद के राज्य-समय हज्जाज ने इब्न इशअत पर विजय प्राप्त की, जिससे वह काबुल के राजा की शरण में चला गया। फिर वहां से खुरासान में जाकर उसने उपद्रव खड़ा किया। उस समय वहां ख़लीफा की तरफ से यज़ीद हाकिम था। उसने इब्न की सेना का संहार किया, जिससे वह भागकर काबुल में लौट आया; परंतु वहां के राजा ने छल से उसको मरवा डाला[4]।

अफ़ग़ानिस्तान के उत्तर में समरकंद, बुख़ारा आदि पर अरबों का राज्य स्थापित हो चुका था। ई० स० की नवीं शताब्दी से, जब कि बग़दाद के अब्बासिया वंश के ख़लीफों का बल घटने लगा, उनके कई सूबे स्वतंत्र बन गये। समरकंद, बुख़ारा आदि में एक स्वतंत्र मुसलमान राज्य स्थापित हो चुका था। वहां के अमीर अबुल् मलिक ने तुर्क अलप्तगीन को वि० सं० १०२६ (ई० स० ६७२) में खुरासान का शासक नियत किया, परंतु अबुल् मलिक के मरने पर अलप्तगीन ग़ज़नी का स्वतंत्र सुलतान बन बैठा। अलप्तगीन के पीछे उसका बेटा अबू इसहाक़ ग़ज़नी

(१) एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका; जि० २३, पृ० ३६।
(२) वही; जि० १; पृ० २३६।
(३) वही; जि० १, पृ० २३६।
(४) वही; जि० १६, पृ० ५७२।

का स्वामी हुआ और अलप्तगीन का तुर्की गुलाम सुबुक्तगीन उसका नायब बनाया गया। इसहाक़ की मृत्यु के पीछे वि० सं० १०३४ (ई० स० ६७७) में सुबुक्तगीन ही ग़ज़नी का सुलतान बना[1]।

हि० स० ३६७ (वि० सं० १०३४=ई० स० ६७७) में अमीर सुबुक्तगीन ने हिन्दुस्तान पर चढ़ाई की उस समय लाहोर में भीम (भीमपाल[2]) का बेटा जयपाल राज्य करता था। सरहिंद से लमग़ान तक और मुल्तान से कश्मीर तक जयपाल के राज्य की सीमा थी। इस चढ़ाई में सुलतान महमूद भी अपने पिता सुबुक्तगीन के साथ था। राजा जयपाल भटिंडा के दुर्ग में रहता था। उसने भी मुसलमानों का खूब मुक़ाबला किया। जब जयपाल ने देखा कि मेरी सेना की दशा बिगड़ रही है तो कई हाथी और सोना उपहार में दे संधि का प्रस्ताव उपस्थित कर ख़िराज देना स्वीकार किया। महमूद ने अपने पिता से कहा कि संधि न की जाय, परंतु जयपाल ने फिर कहलाया कि राजपूत जब निराश हो जाते हैं तो वे अपने बाल-बच्चों और स्त्रियों को जौहर की आग में जलाकर प्राणों का भय न करते हुए केश खोलकर शत्रु पर टूट पड़ते हैं। सुबुक्तगीन ने इसको सही समझकर संधि कर ली। राजा ने बहुतसा द्रव्य और ५० हाथी देने का वचन देकर कहा कि इस वक्त इतना ही द्रव्य यहां मेरे पास है अतएव आप अपने आदमी मेरे साथ लाहोर भेज दीजिये, वहां पूरा भाग दे दिया जायगा और विश्वास दिलाने को अपने कुछ सेवक ओल में रख दिये। लाहोर पहुंचकर ब्राह्मणों के कहने से उसने अपने वचन का पालन न करके सुबुक्तगीन के अफसरों को क़ैद में डाल दिया। उस समय राजाओं में यह दस्तूर था कि वे ऐसे विषयों का विचार करने के लिए सभा एकत्र कर उसकी सम्मति के अनुसार कार्य करते थे। ब्राह्मण अधिकारी राज्यसिंहासन की दाहिनी तरफ़ और क्षत्रिय सामंत बाईं ओर

(१) ब्रिग्ज़; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० १२-१३।

(२) फ़िरिश्ता में भीमपाल के स्थान पर हितपाल नाम मिलता है (ब्रिग्ज़; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० १५), जो अशुद्ध है।

बैठते थे। क्षत्रियों ने जयपाल की इस कार्यवाही का विरोध किया और कहा कि सुबुक्तगीन इसका बदला लिये बिना न छोड़ेगा, परंतु जयपाल ने उनकी बात पर ध्यान न दिया। जब ये समाचार ग़ज़नी पहुंचे तो सुबुक्तगीन तुरंत चढ़ आया। जयपाल भी युद्ध करने को उपस्थित हुआ। इस समय दिल्ली, कालिंजर व कन्नौज के राजा भी अपनी-अपनी सेना सहित जयपाल की सहायता को आये। सुबुक्तगीन ने अपनी सेना की पांच पांच सौ सवारों की टुकड़ियां बनाकर उन्हें वारी-वारी से हमला करने की आज्ञा दी और जब देखा कि हिन्दू सेना कुछ विचलित होने लगी है तो सब ने मिलकर एक साथ हमला कर दिया। जयपाल की फौज भागी और मुसलमानों ने सिंधु नदी तक उसका पीछा किया। लूट में बहुतसा माल असबाब उसके हाथ लगा और सिंधु के पश्चिमी प्रदेशों पर उसका अधिकार हो गया। दस सहस्र सेना सहित अपना एक अफ़सर पेशावर में छोड़कर सुबुक्तगीन ग़ज़नी को लौट गया[1]।

सुबुक्तगीन के मरने पर उसका पुत्र महमूद ग़ज़नी का स्वामी हुआ। उस समय बग़दाद के ख़लीफा तो शिथिल हो ही गये थे, बुख़ारे के अमीरों का अधिकार भी ग़ज़नी के राज्य पर नाममात्र को रह गया था और प्रायः सारे अफ़ग़ानिस्तान पर महमूद का राज्य स्थापित हो गया था। इसपर भी महमूद ने अपना बल इतना बढ़ाया कि अरबस्तान और मध्य एशिया के सारे मुसलमानी राज्य भी उसकी मैत्री के इच्छुक रहने लगे। हिन्द के पंजाब प्रांत में सुबुक्तगीन अपना सिक्का जमा ही चुका था। महमूद को भी भारत के क्षत्रिय राजाओं की पारस्परिक फूट और वैर-विरोध का भली भांति परिचय था, इसलिए उसने सहज में हाथ आनेवाली इस सोने की चिड़िया को हाथ में लेकर अपने देश को मालामाल करने का विचार किया और हि० स० ३९० (वि० सं० १०५७= ई० स० १०००) से अपने लश्कर की बाग हिंदुस्तान पर उठाना शुरू कर १७ चढ़ाइयां कीं, जिनमें से यहां केवल उन्हीं का उल्लेख करेंगे, जिनका

(१) ब्रिग्ज़; फिरिश्ता; जि० १, पृ० १६-१९।

संबंध राजपूताने से है।

लाहोर के राजा जयपाल ने अवसर पाकर अधीनता से सिर फेर लिया था, इसलिए हि० स० ३९१ (वि० सं० १०५८=ई० स० १००१) में महमूद फिर उसपर चढ़ आया। राजा भी ३० हज़ार पैदल, १२ हज़ार सवार और ३०० हाथियों की सेना लेकर पेशावर के पास महमूद से आ भिड़ा, परंतु दैव उसके प्रतिकूल था, जिससे घोर युद्ध के पीछे उस(जयपाल)के ५००० योद्धा खेत पड़े और अपने १५ भाई बेटों सहित वह बँधुआ बना लिया गया। लूट का बहुत-सा माल सुलतान के हाथ लगा, जिसमें रत्नजटित १६ कंठे भी थे, जिनमें से एक का मूल्य जौहरियों ने १८०००० सुवर्ण दीनार आंका था। भटिंडे का गढ़ हाथ आया और तीन मास तक अपना बँधुआ रखने के उपरांत बहुत सा दंड लेकर महमूद ने जयपाल को मुक्त किया। उस समय प्रायः क्षत्रिय राजाओं में यह प्रथा प्रचलित थी कि जो राजा दो बार विदेशियों से युद्ध में हार जाता, वह फिर राज्य करने योग्य न समझा जाता था, तदनुसार राज्य अपने पुत्र अनंदपाल को देकर जयपाल जीवित ही अग्नि में जल मरा[1]।

हि० स० ३९९ (वि० सं० १०६६=ई० स० १००९) में दाउद[2] की सहायता करने के अपराध में सुलतान ने अनंदपाल पर चढ़ाई की। अनंदपाल ने भारत के दूसरे राजाओं के पास अपने दूत भेजकर सहायता मांगी और उन्होंने भी मुसलमानों को हिंदुस्तान में से निकाल देने के निमित्त अपनी-अपनी सेना सहित अनंदपाल का हाथ बटाना उचित समझा। उज्जैन, ग्वालियर, कालिंजर, कन्नौज, दिल्ली और सांभर के राजा अपने-अपने दलबल सहित आ मिले और पेशावर के पास ४० दिन तक पड़ाव डाले रहे। हिंदू महिलाओं ने भी दूर देशान्तरों से अपने आभूषण बेचकर विपुल धन लड़ाई के खर्च के लिए भेजा और गक्खर योद्धा भी साथ देने को आ

---

(१) ब्रिग्ज़; फिरिश्ता; जि० १, पृ० ३६-३८।

(२) अबुल् फतह दाउद मुल्तान का स्वामी था। उसने महमूद को ख़िराज देना बंद कर दिया और जब महमूद उसपर चढ़ आया तो अनंदपाल ने दाउद को सहायता दी थी।

गये। सुलतान ने पहले राजपूतों के बल और उत्तेजना की परीक्षा करने के लिए अपने छः हज़ार धनुर्धारियों को इस अभिप्राय से तीर चलाने की आज्ञा दी, कि राजपूत इससे चिढ़कर शत्रु पर हमला कर देवें। गक्खर उनके सम्मुख हुए और उन्होंने ऐसी वीरता के साथ हाथ दिखाये कि महमूद के बहुत कुछ उत्तेजित करने पर भी उसके तीरंदाज़ों के पैर उखड़ गये। तब तो तीस सहस्र गक्खर वीर सिर खोलकर शस्त्र पकड़े शत्रुसेना में घुस पड़े, घोर संग्राम हुआ और थोड़ी ही देर में उन्होंने ५००० मुसलमानों को काट डाला। संयोगवश एक नफ्थे के गोले के लगने से अनंदपाल का हाथी भड़का और भाग निकला। हिंदू सेना ने जाना कि राजा ने पीठ दिखाई है, अतएव सब सैनिक उसके अनुगामी हो गये। असंख्य द्रव्य और ३० हाथी सुलतान के हाथ लगे।

हि० स० ४०९ (वि० सं० १०७५=ई० स० १०१८) में रघुवंशी प्रतिहार राजा राज्यपाल के समय सुलतान ने कन्नौज पर चढ़ाई की (जिसका वर्णन हम ऊपर पृ० १८५ में लिख आये हैं)। कन्नौज से मेरठ होता हुआ सुलतान जमना के तट पर बसे हुए महावन में आया। वहां का राजा ससैन्य सुलतान के पास आता था, परंतु मार्ग में कुछ मुसलमानों के साथ उसके सैनिकों की तकरार हो जाने के कारण कई हिंदुओं को उन्होंने नदी के पूर में फेंक दिया और वहां का राजा कुलचंद्र अपनी राणी तथा कुंवरों को मारकर आप भी मर गया। गढ़ सुलतान के हाथ आया और ८० हाथी तथा विपुल धन उसको वहां मिला[1]।

महमूद महावन में अपनी फौज को थोड़ा आराम देकर मथुरा में आया। उस समय यह नगर बारण (बुलंदशहर) के राजा हरदत्त डोड (डोडिया) के राज्य के अंतर्गत था, जो थोड़ीसी ही लड़ाई में विजित होकर लूटा गया, वहां की सब मूर्तियां तोड़ दी गईं, जिनसे सोने चांदी का ढेर लग गया। मंदिरों को भी सुलतान तोड़ देता, परंतु एक तो उसमें परिश्रम अधिक था और दूसरी उनकी बनावट की सुंदरता व शिल्पकौशल

(१) ब्रिग्ज़; फिरिश्ता; जि० १, पृ० ५८।

देखकर उसने उन्हें छोड़ दिया। इन मंदिरों की सुंदरता और भव्यता का वर्णन सुलतान ने अपने हाकिम को पत्र द्वारा लिख भेजा था (देखो ऊपर पृ० २६)। इन मंदिरों में ५ सोने की मूर्तियां मिलीं; जिनके नेत्रों में जड़े हुए लाल पचास हज़ार दीनार के आंके गये थे। एक मूर्ति में जड़ा हुआ एक पन्ना चार सौ मिस्काल का था। जब वह मूर्ति गलाई गई तो उसमें से ६८३०० मिस्काल (क़रीब १०२४ तोला) सोना निकला। एक सौ से अधिक चांदी की मूर्तियां भी उसके हाथ लगीं। बीस दिन मथुरा में ठहरकर उसने लूटमार की और नगर को जलाया। फिर जमना के किनारे-किनारे चला जहां सात गढ़ बने हुए थे। उसने इन सब का नाश किया और वहां भी कई मंदिरों को तोड़ा[1]।

हि० स० ४१६ (वि० सं० १०८२=ई० स० १०२५) में[2] सुलतान महमूद ने सोमनाथ (काठियावाड़) पर चढ़ाई की। 'कामिलुत्तवारीख़' में लिखा है—"ता० १० शाबान को तीस हज़ार सवारों के साथ सुलतान ने ग़ज़नी से कूच किया और रमज़ान के बीच मुल्तान पहुंचा। वहां से मार्ग जनशून्य रेगिस्तान में होकर गुज़रता था, जहां खुराक भी नहीं मिल सकती थी। इसलिए उसने ३०००० ऊंटों पर अन्न और जल लादकर अणहिलवाड़े की ओर प्रस्थान किया। रेगिस्तान पार करने पर उसने एक तरफ मनुष्यों से परिपूर्ण एक क़िला[3] देखा जहां पर बहुत से कुंए

(१) ब्रिग्ज़; फिरिश्ता; जि० १, पृ० ५८-५९।

(२) कामिलुत्तवारीख के अंगरेज़ी अनुवाद में हिजरी सन् ४१४ (मूल लेखक के दोष से) छपा है, जिसके स्थान में हि० स० ४१६ (वि० सं० १०८२=ई० स० १०२५) होना चाहिये; क्योंकि उसी पुस्तक के अनुसार सुल्तान शाबान महीने में ग़ज़नी से चला। रमज़ान में मुल्तान, ज़िल्काद के प्रारंभ में अणहिलवाड़े और ज़िल्काद के मध्य में सोमनाथ पहुंचा। फिर हि० स० ४१७ (वि० सं० १०८३=ई० स० १०२६) के सफर में ग़ज़नी को लौटा। इस चढ़ाई में कुल ६ महीने लगे। इसलिए ग़ज़नी से उसका प्रयाण हि० स० ४१६ (वि० सं० १०८२=ई०स० १०२५) ता० १० शाबान को होना चाहिये। तारीख फ़िरिश्ता में सुलतान का हिंदुस्तान में ढाई वर्ष रहना माना है, जिसका कारण भी मूल पुस्तक की वही दो वर्ष की अशुद्धि है।

(३) यह स्थान नाडोल (जोधपुर राज्य) होना चाहिये, क्योंकि महमूद के

थे। वहां के मुखिया लोग सुलतान को समझाने आये परंतु उसने उनको घेरकर जीत लिया। उनको इस्लामी हुकूमत में लाकर वहां के लोगों को क़त्ल किया तथा मूर्तियां तोड़ीं। वहां से फिर जल भरकर वह आगे बढ़ा और ज़िल्काद के प्रारंभ (पौष) में अणहिलवाड़े पहुंचा।

"अणहिलवाड़े का राजा भीम[1] (भीमदेव) वहां से भागा और अपनी रक्षा के लिए एक क़िले में जाकर बैठा। महमूद सोमनाथ की तरफ़ चला। मार्ग में बहुतसे क़िले आये, जिनमें सोमनाथ के दूत-रूप बहुतेरी मूर्तियां थीं, जिनको वह शैतान कहता था। उसने वहां के लोगों को मारा, क़िले तोड़े और मूर्तियां नष्ट कीं। फिर वह निर्जल रेगिस्तान के मार्ग से सोमनाथ की ओर बढ़ा। उस रेगिस्तान में उसको २००० वीर पुरुष मिले। उनके सरदारों ने उसकी अधीनता स्वीकार न की इसपर उसने अपनी कुछ सेना उनपर चढ़ाई के लिए भेजी। उस सेना ने उनको हराकर भगा दिया और उनका माल असबाब लूट लिया। वहां से वह देवलवाड़े[2] पहुंचा, जो सोमनाथ से दो मंज़िल दूर था। वहां के लोगों को यह विश्वास था कि सोमनाथ शत्रु को भगा देंगे, जिससे वे शहर ही में रहे; परंतु महमूद ने उसे जीतकर लोगों को क़त्ल किया और उनका माल लूटने के बाद सोमनाथ की ओर प्रस्थान किया।

"ज़िल्काद के बीच (पौष शुक्ल के अंत में) गुरुवार के दिन सोमनाथ पहुंचने पर उसने समुद्र-तट पर एक सुदृढ़ क़िला देखा, जिसकी

रेगिस्तान पार करने के बाद अणहिलवाड़े के मार्ग में यही पुराना स्थान आता है।

(१) 'मिराते अहमदी' तथा 'आईने अक़बरी' में महमूद की चढ़ाई के समय अणहिलवाड़े का राजा चामुंड होना लिखा है, जो भूल है; क्योंकि चामुंड (चामुंडराज) के राज्य की समाप्ति वि० सं० १०६६ में हुई, और महमूद की चढ़ाई वि० सं० १०८२ में। उस समय वहां का राजा भीमदेव ही था।

(२) देवलवाड़ा—यह प्रभासपाटन के पूर्व का ऊना गांव के पास का देलवाड़ा होना चाहिये। इससे अनुमान होता है कि महमूद अणहिलवाड़े से मोढ़ेरा होता हुआ पाटड़ी के पास रण (रेगिस्तान) को पारकर झालावाड़, गोहिलवाड़ और बाबरियावाड़ होकर देलवाड़े पहुंचा होगा।

दीवारों के साथ समुद्र की लहरें टकराती थीं। क़िले की दीवारों पर से लोग मुसलमानों की हंसी उड़ाते थे कि हमारा देवता तुम सब को नष्ट कर देगा। दूसरे दिन अर्थात् शुक्रवार को मुसलमान हमला करने के लिए आगे बढ़े। उनको वीरता से लड़ते देखकर हिंदू क़िले की दीवारों पर से हट गये। मुसलमान सीढ़ियां लगाकर उनपर चढ़ गये। वहां से उन्होंने दीन की पुकार कर इस्लाम की ताक़त बतलाई तो भी उनके इतने सैनिक मारे गये[1] कि लड़ाई का परिणाम संदेहयुक्त प्रतीत हुआ। कितने ही हिन्दुओं ने सोमनाथ के मंदिर में जाकर दंडवत प्रणाम कर विजय के लिए प्रार्थना की। फिर रात्रि होने पर युद्ध बंद रहा।

"दूसरे दिन प्रातःकाल ही से महमूद ने फिर लड़ाई शुरू कर दी, हिंदुओं का अधिक संहार कर उनको शहर से सोमनाथ के मंदिर में भगा दिया और मंदिर के द्वार पर भयंकर युद्ध होने लगा। मंदिर की रक्षा करनेवालों के झुंड के झुंड मंदिर में जाने और रो-रो कर प्रार्थना करने लगे। फिर बाहर आकर उन्होंने लड़ाई ठान दी और प्राणांत तक वे लड़ते रहे। थोड़े से जो बचे, वे नावों पर चढ़कर समुद्र में चले गये, परंतु मुसलमानों ने उनका पीछा कर कितनों ही को मार डाला तथा औरों को पानी में डुबा दिया। सोमनाथ के मंदिर में सीसे से मढ़े हुए सागवान के ५६ स्तंभ थे। मूर्ति एक अंधेरे कमरे में थी। मूर्ति की ऊंचाई ५ हाथ और परिधि ३ हाथ थी। इतनी तो बाहर थी, इसके सिवा दो हाथ ज़मीन के भीतर और थी। उसपर किसी प्रकार का खुदाई का काम नहीं दीख पड़ता था। महमूद ने उस मूर्ति को हस्तगत कर उसका एक हिस्सा जलवा दिया और दूसरा हिस्सा वह अपने साथ ग़ज़नी ले गया, जिससे वहां की जामे-मसजिद के दरवाज़े की एक सीढ़ी बनवाई। मूर्तिवाले कमरे में रत्न-जटित दीपकों की रोशनी रहती थी। मूर्ति के निकट सोने की

(१) सोमनाथ के मंदिर की रक्षा के लिए भीमदेव तथा उसके कई सामंत गये थे। तारीख़ फ़िरिश्ता में लिखा है कि भीमदेव ने ३००० मुसलमानों को सोमनाथ की लड़ाई में मारा था (ब्रिग्ज़; फ़िरिश्ता, जि० १, पृ० ७४)।

सांकल में घंटे लटकते थे। उस सांकल का तौल २०० मन[1] था। रात्रि में पहर-पहर पर उस सांकल को हिलाकर घंटे बजाये जाते थे, जिससे पूजन करनेवाले दूसरे ब्राह्मण जग जाते थे। पास ही भंडार था, जिसमें सोने-चांदी की मूर्तियां रक्खी हुई थीं। भंडार में रत्नजटित वस्त्र थे और प्रत्येक रत्न बहुमूल्य था। मंदिर से २०००००० दीनार[2] से अधिक मूल्य का माल हाथ लगा और ५०००० से अधिक हिंदू मारे गये।

"सोमनाथ की विजय के बाद महमूद को ख़बर मिली कि अण-हिलवाड़े का राजा भीम (भीमदेव) कंदहत[3] के क़िले में चला गया है, जो वहां से ४० फरसंग (२४० मील) की दूरी पर सोमनाथ और रण के बीच है। उसने वहां पहुंचने पर कितने ही मनुष्यों से, जो वहां पर शिकार कर रहे थे, ज्वारभाटा के विषय में पूछा। उन्होंने उत्तर दिया कि पानी उतरने लायक़ है, परन्तु थोड़ीसी भी हवा चली तो उतरना कठिन होगा। महमूद ईश्वर से प्रार्थना कर पानी में उतरा और उसने अपनी सेना सहित वहां (कंदहत) पहुंचकर शत्रु को भगा दिया। फिर वहां से लौटकर उसने मंसूर[4] की तरफ़ जाने का विचार किया[5], जहां के राजा ने इस्लाम धर्म का परित्याग किया था। महमूद के आने की ख़बर पाकर वह राजा खजूर के जंगल में भाग गया। सुलतान ने उसका पीछा कर उसके साथियों में से बहुतेरों को

---

(१) दो सौ मन अर्थात् ४०० पाउंड (४० तोले का १ पाउंड) था, ऐसा फ़िरिश्ता के अंग्रेज़ी अनुवादक ब्रिग्ज़ का कथन है (ब्रिग्ज़; फ़िरिश्ता, जि० १, पृ० ७३ का टिप्पण)।

(२) दीनार एक सोने का सिक्का था, जिसकी तोल ३२ रत्ती होती थी (द्वात्रिंशद्रत्तिकापरिमितं कांचनं इति भरतः)। शब्दकल्पद्रुम; जि० २, पृ० ७१७।

(३) कंदहत शायद कच्छ का कंथकोट नामक क़िला हो।

(४) मंसूर—सिंध का उक्त नाम का स्थान।

(५) फ़िरिश्ता के लेख के अनुसार महमूद को सिंध के रास्ते से जाने में जल का बड़ा कष्ट हुआ। उस विकट मार्ग से जाने का कारण यह माना जाता है कि सांभर के चौहान आदि राजपूताने के राजा सोमनाथ के मंदिर को तोड़ने के कारण उसका मार्ग रोकने के लिए खड़े थे, जिससे उसको सिंध के रास्ते से जाना पड़ा था।

मार डाला और कइयों को डुबा दिया तथा थोड़े से भाग भी निकले। वहां से वह भाटिया पहुंचा और वहां के लोगों को अपने अधीन कर ग़ज़नी की ओर चला तथा तारीख १० सफर सन् ४१७ हिजरी (वि० सं० १०८३ चैत्र सुदि १३=ई० स० १०२६ ता० २ अप्रैल) को वहां पहुंचा'[1]।"

कुछ मुसलमान इतिहास-लेखकों ने अपनी पुस्तकों में कई बेसिर-पैर की कल्पित बातें भी लिखी हैं, जिनको प्रामाणिक मानकर बड़े-बड़े यूरोपियन विद्वानों ने भी भूल की है। ऐसी कपोलकल्पित बातों में सोमनाथ की मूर्ति की कथा भी है। उक्त मूर्ति के संबंध में प्रसिद्ध मुसलमान इतिहास-लेखक फ़िरिश्ता ने लिखा है—"मंदिर के बीच सोमनाथ की पाषाण की मूर्ति थी। महमूद ने उसके पास जाते ही अपने गुर्ज़ से उसकी नाक तोड़ डाली। फिर उसके टुकड़े करवाकर उनमें से दो ग़ज़नी पहुंचाये, और दो मक्का-मदीना भेजने के लिए रक्खे। जब महमूद उस मूर्ति को तोड़ने चला उस समय बहुत से ब्राह्मणों ने उसके सरदारों से यह निवेदन किया कि यदि यह मूर्ति न तोड़ी जाय तो हम उसके बदले में बहुतसा द्रव्य देने को तैयार हैं। इसपर उन्होंने सुलतान से अर्ज़ की कि इस एक मूर्ति के तोड़ने से मूर्तिपूजा तो नष्ट होगी ही नहीं, अतएव इसके तोड़ने से कुछ लाभ न होगा, किंतु इतना द्रव्य यदि मुसलमानों को दान किया जाय तो लाभदायक होगा। इसपर सुलतान ने कहा कि ऐसा करने से तो मैं 'मूर्ति बेचनेवाला' कहलाऊंगा; मेरी इच्छा तो यह है कि मैं 'मूर्ति तोड़नेवाला' कहलाऊं। फिर उसने उस मूर्ति को तोड़ने की आज्ञा दी। दूसरे प्रहार से सोमनाथ के पेट का हिस्सा टूटा जो भीतर से पोला था। उसमें से हीरे, मानिक और मोतियों का संग्रह निकला, जिसका मूल्य जितना द्रव्य ब्राह्मण देते थे उससे कहीं

(१) इलियट्; हिस्ट्री ऑव् इंडिया; जि० २, पृ० ४०८-४७१ और २४१। हमारे यहां की पुस्तकों में मुसलमानों की सोमनाथ की तथा अन्य चढ़ाइयों का कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता, इसलिए लाचार फ़ारसी तवारीख़ों से उनका हाल उद्धृत करना पड़ा है। फ़ारसी तवारीख़ें भी पक्षपात से लिखी हुई हैं और उनमें हिन्दुओं की बातों को नीचा दिखलाने के लिए उनकी निन्दा और मुसलमानों की विशेष प्रशंसा की है, अतएव उनमें सत्य का अंश कितना है यह कहा नहीं जा सकता।

अधिक था[१]।" ऐसा ही वृत्तांत 'तारीख़-अल्फ़ी' में भी मिलता है[२]। इन लेखकों के कथन से ज्ञात होता है कि सोमनाथ की मूर्ति गोल आकृति का ठोस लिंग नहीं, किंतु हाथ-पैरवाली पोली मूर्ति थी, जिसके पेट में रत्न भरे हुए थे। इन्हीं लेखकों के कथन को विश्वसनीय मानकर हिंदुस्तान का इतिहास लिखनेवाले यूरोपियन विद्वानों में से कर्नल डो[३], गिब्बन[४], मॉरिस[५], जेम्स मिल[६], प्राइस[७], एलफिन्स्टन[८] आदि विद्वानों ने भी अपनी पुस्तकों में वैसा ही लिखा है, और कुछ हिंदी पुस्तकों में भी, जो उन्हीं के आधार पर लिखी गई हैं, वैसा ही उल्लेख पाया जाता है[९]; परंतु यह सारा कथन कल्पित है, क्योंकि प्रसिद्ध मुसलमान ज्योतिषी अबुरिहां अल्बेरूनी, जो सुलतान महमूद ग़ज़नवी के समय में कई बरसों तक हिंदुस्तान में रहा और जिसने सोमनाथ की टूटी हुई मूर्ति को देखा था, अपनी अरबी पुस्तक 'तहक़ीक़े हिंद' में लिखता है कि सोमनाथ गोल आकृति का एक ठोस लिंग था, जिसका शिरोभाग सुलतान ने तुड़वा डाला और बाक़ी का हिस्सा उसपर के रत्न-जटित सोने के ज़ेवर तथा ज़रदोज़ी कपड़ों सहित ग़ज़नी पहुंचा दिया। उसका एक टुकड़ा थाणेश्वर से लाई हुई पीतल की चक्रवर्ती (चक्रस्वामी, विष्णु) की मूर्ति के साथ, शहर (ग़ज़नी) में घुड़-

(१) ब्रिग्ज़; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० ७२–७३।

(२) इलियट्; हिस्ट्री आव् इंडिया; जि० २, पृ० ४७२।

(३) कर्नल डो; हिस्ट्री आव् इंडिया; पृ० ५५–५६।

(४) डिक्लाइन ऐंड फ़ॉल ऑव् दी रोमन् ऐंपायर; जि० ७, पृ० १४६ (ई० स० १८८७ का संस्करण)।

(५) मॉडर्न हिस्ट्री ऑव् इंडिया; जि० १, भा० १, पृ० २१६।

(६) हिस्ट्री ऑव् इंडिया; जि० १, पृ० १७७।

(७) रिट्रॉस्पेक्ट आव् मोहोमेडन् हिस्ट्री; जि० २, पृ० २८६ (सन् १८२१ का संस्करण)।

(८) हिस्ट्री ऑव् इंडिया; पृ० ३३६।

(९) राजा शिवप्रसाद; इतिहास-तिमिर-नाशक, भाग १, पृ० १३ और ऐतिहासिक कहानियां; नागरी-प्रचारिणी सभा-द्वारा प्रकाशित, मनोरंजन पुस्तकमाला; संख्या ३७, पृ० ७।

दौड़ की जगह पड़ा हुआ है और दूसरा मसजिद के पास इस अभिप्राय से रक्खा गया है कि लोग उसपर पैर रगड़ें[1]। इसी तरह फ़िरिश्ता से पहले की बनी हुई 'कामिलुत्तवारीख़,' 'हबिबुस्सिअर,' 'रोज़ेतुस्सफ़ा' आदि फ़ारसी तवारीख़ों में, जिनसे फ़िरिश्ता ने बहुत कुछ वृत्तांत उद्धृत किया है, उक्त मूर्ति के हाथ-पैर आदि होना या उसके पेट में से रत्नों का निकलना कहीं नहीं लिखा।

इस प्रकार सुलतान महमूद ने हिंदुस्तान के अलग-अलग हिस्सों पर चढ़ाइयां कीं और वहां से वह बहुत सा द्रव्य ले गया। उसका विचार हिंदुस्तान में अपना राज्य स्थिर करने का नहीं था। वह केवल धर्म-स्थापन करने के बहाने से धन संग्रह करने की अपनी भूख मिटाने के लिए लूटमार करके ग़ज़नी को लौट जाया करता था, तो भी उसने अफ़ग़ानिस्तान से मिला हुआ हिंदुस्तान का लाहौर तक का अंश अपने राज्य में

(१) एडवर्ड साचू; अल्बेरूनीज़ इंडिया; जि० २, पृ० १०३। अल्बेरूनी ने सोमनाथ के लिंग को ठोस पत्थर का बना हुआ बतलाया है; इतना ही नहीं, किंतु उसने लिंगों के बनाने की रीति तथा उनकी बनावट के अनुसार होनेवाले शुभाशुभ फल का भी विस्तार से वर्णन किया है। 'मेडिएवल इंडिया' के कर्ता स्टैनली लेनपूल ने लिखा है कि फ़िरिश्ता का यह कथन कि महमूद के प्रहार करने पर उक्त मूर्ति के भीतर से रत्नों का बड़ा संग्रह निकल आया, बिलकुल मिथ्या है; परंतु साथ ही यह कल्पना भी की गई है कि शायद मूर्ति के नीचे छिपाये हुए रत्न खोदकर निकाले गये हों (पृ० २६ का टिप्पण)। यह कल्पना भी सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि ऐसी मूर्तियों के नीचे कभी रत्नों का संग्रह छिपाया नहीं जाता था और न कोई आज तक ऐसा प्रत्यक्ष उदाहरण मिला है। फ़िरिश्ता तथा उसी के आधार पर लिखे हुए अंग्रेज़ी तथा हिन्दी ग्रंथों में लिखी हुई इस कपोलकल्पित बात को पढ़कर कितने ही हिन्दुओं को भी ऐसा विश्वास हो गया है कि ज्योतिर्लिङ्ग भीतर से पोले होते हैं और उनमें ज्योतिर्मय रत्न भरे रहने के कारण ही उनको ज्योतिर्लिङ्ग कहते हैं। एक बड़े इतिहासवेत्ता मित्र से मेरा इस विषय पर विवाद हुआ और उन्होंने इसके प्रमाण में फ़िरिश्ता की फ़ारसी पुस्तक बतलाई; इसपर मैंने अल्बेरूनी की पुस्तक का अंग्रेज़ी अनुवाद उनको सुनाया। तब उनकी भ्रांति निवृत्त हुई और उन्होंने स्वीकार किया कि फ़िरिश्ता और उसके आधार पर लिखनेवाले विद्वानों का यह कथन सरासर कल्पित है।

मिला लिया था। हि० स० ४२१ (वि० सं० १०८७=ई० स० १०३०) में महमूद की मृत्यु हुई। फिर उसके बेटे पोते आदि वंशधर आपस में लड़भिड़ कर बलहीन होते गये, जिससे उनमें अन्य देशों को विजय करने की शक्ति न रही, इतना ही नहीं, किंतु महमूद के जमाये हुए राज्य को भी वे न संभाल सके।

सुलतान महमूद की मृत्यु के पीछे उसका बड़ा बेटा मुहम्मद ग़ज़नी के तख़्त पर बैठा, परंतु उसके छोटे भाई मसूद ने उससे राज्य छीनकर उसको अंधा कर दिया। मसूद मध्य एशिया की (सलजुकियों के साथ की) लड़ाइयों से निर्बल होकर लौटा और नई सेना एकत्र करने के लिए हिंदुस्तान में आया, परंतु उसकी सेना ने उसे पदच्युत कर उसके अंधे भाई मुहम्मद को फिर सुलतान बनाया[1]। हि० स० ४३३ (वि० सं० १०९९=ई० स० १०४२) में अपने भतीजे अहमद (मुहम्मद का बेटा) के हाथ से मसूद मारा गया, जिसपर उसके बेटे मौदूद ने उसी वर्ष मुहम्मद को मारकर उसका राज्य छीन लिया[2]। हि० स० ४३५ (वि० सं० ११०१=ई० स० १०४४) में दिल्ली के हिंदू राजा ने हांसी, थाणेश्वर और सिंध मुसलमानों से छीनकर नगरकोट भी छुड़ा लिया। वहां के मंदिरों में नई मूर्तियां स्थापित हुईं और उनकी पूजा होने लगी। पंजाब के राजा भी १०००० सवार और बड़ी पैदल सेना लेकर लाहौर पर चढ़ आये। वे सात मास तक मुसलमानों से लड़े, परंतु अंत में उनकी हार हुई[3]। हि० स० ४४० (वि० सं० ११०५=ई० स० १०४८) में मौदूद मरा और उसका बेटा मसूद (दूसरा) ग़ज़नी का स्वामी हुआ तथा हि० सन् ४४० से ५११ (वि० सं० ११०५ से ११७४) तक ७० वर्ष में ग़ज़नी की गद्दी पर ८ सुलतान हो गये; फिर बहरामशाह वहां की गद्दी पर बैठा। उसके समय में सैफ़ुद्दीन ग़ोरी के भाई अलाउद्दीन हुसेन ग़ोरी ने ग़ज़नी पर हमला कर उसको ले लिया, जिससे

(१) रावर्टी; तबक़ाते नासिरी; (अंग्रेज़ी अनुवाद) पृ० ९५-९६।

(२) सी० मोबेल डफ़; दी क्रॉनॉलॉजी ऑव् इंडिया; पृ० १२०; १२१।

(३) ब्रिग्ज़; फ़िरिश्ता; जि० १, पृ० ११८-११९।

बहराम भागकर लाहौर में आ रहा और हि० स० ५४४ (वि० सं० १२०६= ई० स० ११४९)में वह मर गया। इस प्रकार ग़ज़नी के तुर्कराज्य की समाप्ति हुई और ग़ज़नवियों के अधिकार में केवल लाहौर की तरफ़ का हिंदुस्तान का हिस्सा ही रह गया। बहरामशाह का पुत्र खुसरोशाह लाहौर के तख़्त पर बैठा और उसके बेटे खुसरोमलिक से शहाबुद्दीन मुहम्मद ग़ोरी ने लाहौर छीनकर हि० स० ५७६ (वि० सं० १२३७=ई० स० ११८०) में वहां से भी ग़ज़नवियों के रहे-सहे राज्य का अंत कर दिया।

ग़ज़नी और हिरात के बीच ग़ोर का एक छोटासा राज्य था, जिसकी राजधानी फीरोज़कोह थी। वहां के मलिक सैफ़ुद्दीन के पीछे उसके चचेरे भाई ग़यासुद्दीन मुहम्मद ग़ोरी ने (जो बाहुद्दीन साम का बेटा था) ग़ोर का राज्य पाया। उसका छोटा भाई शहाबुद्दीन ग़ोरी था, जिसको उसने प्रथम अपना सेनापति और पीछे ग़ज़नी का हाकिम बनाया[1]। उसने वहां से महमूद ग़ज़नवी के समान हिंदुस्तान पर चढ़ाइयां करनी शुरू कीं।

उस समय भारत के बड़े विभाग पर चौहानों का प्रबल राज्य जम चुका था। उनके अधीन अजमेर के इलाक़े के अतिरिक्त दिल्ली और दूर-दूर के प्रदेश थे। राजपूताने में दूसरा बड़ा राज्य मेवाड़ के गुहिलोतों (सीसो-दियों) का था। मालवे में परमारों, गुजरात में सोलंकियों; पूर्व में कन्नौज, काशी आदि पर गाहड़वालों (गहरवारों) और वहां से पूर्व में बंगाल के सेनवंशियों का राज्य था।

लाहौर में ग़ज़नवी वंश के सुलतानों का हाकिम रहा करता था और वहां से लूटमार के लिए राजपूताने पर चढ़ाइयां हुआ करती थीं। इन चढ़ाइयों का वर्णन फ़ारसी तवारीख़ों में नहीं मिलता, परंतु कभी-कभी संस्कृत के ऐतिहासिक ग्रंथों में मिलता है, जैसे कि सांभर का चौहान राजा दुर्लभराज दूसरा (चामुंडराज का उत्तराधिकारी) मुसलमानों के साथ

---

(१) ना० प्र० प०; भाग १, पृ० ४०७।

की लड़ाई में मारा गया था[1]। अजमेर बसानेवाले अजयदेव (पृथ्वीराज प्रथम के पुत्र) ने मुसलमानों को परास्त किया[2]। अजयदेव के पुत्र अर्णोराज (आना) के समय मुसलमानों की सेना फिर इधर आई, पुष्कर को नष्ट कर अजमेर की तरफ़ बढ़ी और पुष्कर की घाटी को उल्लंघन कर आनासागर के स्थान तक आ पहुंची, जहां अर्णोराज ने उसका संहार कर विजय प्राप्त की। यहां मुसलमानों का रक्त गिरा था अतएव इस भूमि को अपवित्र जान जल से इसकी शुद्धि करने के लिए उसने यहां आनासागर तालाब बनवाया[3]। आना के पुत्र वीसलदेव (विग्रहराज चौथा) के समय वब्वेरा[4] तक मुसलमानों की सेना पहुंच गयी[5]। उसको परास्त कर वीसलदेव आर्यावर्त्त से मुसलमानों को निकालने के लिए उत्तर की तरफ़ बढ़ा। उसने दिल्ली और हांसी के इलाक़े अपने राज्य में मिलाये[6] और आर्यावर्त्त (के बड़े विभाग) से मुसलमानों को निकाल दिया, ऐसा दिल्ली के अशोक के लेखवाले शिवालिक स्तंभ पर खुदे हुए वीसलदेव के वि० सं० १२२० (ई० स० ११६३) के लेख से पाया जाता है[7]। शहाबुद्दीन ग़ोरी

---

(१) ना० प्र० प०; भाग ५, पृ० १५१।

(२) वही; भाग ५, पृ० १६०।

(३) वही; भाग ५, पृ० १६२-६४।

(४) वब्वेरा (वब्वेरक) किशनगढ़ राज्य का बवेरा गांव नहीं, किंतु जयपुर राज्य के शेखावाटी इलाक़े का बबेरा नाम का प्राचीन नगर होना चाहिये, जिसके खंडहर दूर-दूर तक फैले हुए हैं।

(५) अजमेर के चौहान राजा विग्रहराज (वीसलदेव चौथा) के राजकवि सोमदेव-रचित 'ललितविग्रहराज' नाटक, अंक ४ (इं० ऐं०; जि० २०, पृ० २०२)। इस नाटक क कितना एक अंश बड़ी-बड़ी दो शिलाओं पर खुदा हुआ मिला है, जो राजपूताना म्यूज़ियम् (अजमेर) में सुरक्षित है।

(६) ना० प्र० प०; भाग १, पृ० ४०५ और टिप्पण ४३।

(७) आविंध्यादाहिमाद्रेर्विरचितविजयस्तीर्थयात्राप्रसंगा-
दुद्ग्रीवेषु प्रहर्त्ता नृपतिषु विनमत्कन्धरेषु प्रसन्नः।
आर्यावर्त्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान्म्लेच्छविच्छेदनाभि-

के साथ सम्राट् पृथ्वीराज की पहली लड़ाई होने के पूर्व ग़ोरियों की सेना ने नाडौल पर भी हमला किया था, परंतु हारकर उसे लौटना पड़ा था[1]। ऐसे और भी उदाहरण मिलते हैं, जो आगे भिन्न-भिन्न राज्यों के इतिहास में प्रसंगवश उद्धृत किये जायेंगे।

सिंध पर अरबों का जब से अधिकार हुआ तब से ग़ज़नवी ख़ानदान की समाप्ति तक राजपूताने पर मुसलमानों के कभी-कभी हमले होते रहे और राजपूत लोग उनको पराजित कर निकालते रहे। उस समय तक राजपूताने के किसी अंश पर मुसलमानों का अधिकार न हो सका था, परंतु शहाबुद्दीन ग़ोरी से स्थिति पलटी। ग़ज़नी का शासक नियत होने पर उसने पहला हमला मुल्तान पर किया[2] और उसके बाद तबरहिंद (भटिंडा) का क़िला लिया[3]। अजमेर का चौहान सम्राट् पृथ्वीराज शहाबुद्दीन से लड़ने के लिए कई हिंदू राजाओं को साथ लेकर अजमेर से चला और थाणेश्वर के निकट तराइन के पास शहाबुद्दीन से लड़ाई हुई, जिसमें वह (शहाबुद्दीन) बुरी तरह घायल होकर भागा और लाहौर में अपने घावों का इलाज कर ग़ज़नी को लौट गया। यह घटना हि० सन् ५८७ (वि० सं० १२४८=ई० स० ११९१) में हुई[4]। दूसरे वर्ष पृथ्वीराज ने तबरहिंद के क़िले को जा घेरा और वहां के हाकिम ज़ियाउद्दीन को १३ महीने की लड़ाई के पीछे क़िला ख़ाली करना पड़ा। शहाबुद्दीन दूसरे साल फिर चढ़ आया और थाणेश्वर के पास पृथ्वीराज से लड़ाई हुई, जिसमें

र्देवः शाकंभरीन्द्रो जगति विजयते वीसलक्षोणिपालः ॥
ब्रू(ब्रू)ते संप्रति चाहमानतिलकः शाकंभरीभूपतिः
श्रीमद्विग्रहराज एष विजयी संतानजानात्मनः ।

इं० ऐं०; जि० १९, पृ० २१८।

(१) ना. प्र. प.; भाग ४, पृ० १७७–७८।

(२) वही; भाग १, पृ० ४०७।

(३) सी. मोबेल डफ़; क्रॉनॉलॉजी ऑव् इंडिया; पृ० १६७।

(४) वही; पृ० १६७।

पृथ्वीराज क़ैद होकर कुछ महीनों बाद मारा गया और अजमेर पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। अपनी अधीनता स्वीकार कराकर पृथ्वीराज के पुत्र गोविन्दराज को शहाबुद्दीन ने अजमेर की गद्दी[1] पर बैठाया और आप स्वदेश को लौट गया। पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने शहाबुद्दीन की अधीनता स्वीकार करने के कारण गोविन्दराज से अजमेर छीन लिया, जिससे वह रणथंभोर में जाकर रहने लगा।

कुतुबुद्दीन ऐबक ने, जो शहाबुद्दीन का तुर्क जाति का ग़ुलाम और सेनापति था, वि० सं० १२५० (ई० स० ११९३) में दिल्ली[2] (जो अजमेर का एक सूबा था) छीन ली। तभी से दिल्ली हिंदुस्तान के मुसलमानी राज्य की राजधानी हुई। इसपर हरिराज ने कुतुबुद्दीन से दिल्ली खाली कराने के लिए अपने सेनापति (चतरराय) को भेजा, परंतु वह हारकर अजमेर लौट आया। कुतुबुद्दीन ने हरिराज को हराकर वि० सं० १२५२ (ई० स० ११९५) में अजमेर पर अपना अधिकार किया और वहां मुसलमान हाकिम नियत कर दिया।

इस प्रकार अजमेर के प्रतापी चौहान राज्य का अंत हुआ और राजपूताने के ठीक मध्य (अजमेर) में मुसलमानों का अधिकार हो गया। मेवाड़ का मांडलगढ़ से पूर्व का सारा हिस्सा पृथ्वीराज के समय तक चौहानों के अधिकार में था उसपर भी उक्त संवत् में मुसलमानों का आधिपत्य हो गया[3]। फिर तो वे राजपूताना और उसके आसपास के प्रदेशों पर अपना अधिकार बढ़ाने लगे। उक्त संवत् से एक वर्ष पूर्व शहाबुद्दीन ने कन्नौज और बनारस के गहरवार राजा जयचंद से उसका राज्य छीन लिया था[4]। अब गुजरात की बारी आई। वि० सं० १२५२ (ई० स० ११९५) में कुतुबुद्दीन ने गुजरात पर चढ़ाई कर उधर लूटमार करनी शुरू की, जिसका

(१) सी. मोबेल डफ; क्रॉनॉलॉजी ऑव् इंडिया; पृ० १६८।

(२) वही; पृ० १६८।

(३) देखो ऊपर पृ० २२३-२४।

(४) सी. मोबेल डफ; क्रॉनॉलॉजी आव् इंडिया; पृ० १६१।

बदला लेने के लिए गुजरातवालों ने मेरों को अपना सहायक बनाकर कुतुबुद्दीन पर हमला किया, इस कारण उसको अजमेर के गढ़ में शरण लेनी पड़ी। कई मास तक वह गढ़ घिरा रहा, अंत में शहाबुद्दीन ने ग़ज़नी से नई सेना भेजकर घेरा उठवाया[1]। इसी वर्ष शहाबुद्दीन और कुतुबुद्दीन ने तहनगढ़ (तवनगढ़, करौली राज्य) पर हमला कर उसे ले लिया[2]। फिर शहाबुद्दीन ने गुजरातवालों को सज़ा देने के लिए गुजरात पर चढ़ाई की और आबू के नीचे कायद्रां गांव के पास बड़ी लड़ाई हुई, जिसमें घायल होकर शहाबुद्दीन को लौट जाना पड़ा[3]। इस हार का बदला लेने के लिए दूसरे वर्ष कुतुबुद्दीन गुजरात पर चढ़ा और उसी कायद्रां गांव के पास लड़ाई में विजय पाकर गुजरात को लूटता हुआ लौट गया[4]। वि० सं० १२६३ (ई० स० १२०६) में शहाबुद्दीन लाहौर से ग़ज़नी को लौटते समय गक्खरों के हाथ से धमेक के पास मारा गया और उसका भतीजा ग़यासुद्दीन महमूद ग़ोरी सुलतान हुआ। उसी साल ग़यासुद्दीन से सब राज्यचिह्न प्राप्तकर क़ुतुबुद्दीन, जो पहले शहाबुद्दीन का सेनापति और प्रतिनिधि था, हिंदुस्तान का प्रथम मुसलमान सुलतान बनकर दिल्ली के तख़्त पर बैठा। वि० सं० १२६७ (ई० स० १२१०) में वह घोड़े से गिरकर लाहौर में मरा[5] और उसका पुत्र आरामशाह तख़्त पर आया, परंतु उसी वर्ष उसको निकालकर कुतुबुद्दीन का गुलाम शमशुद्दीन अल्तमश दिल्ली का सुलतान बन गया। शमशुद्दीन अल्तमश ने जालोर, रणथंभोर, मंडोर, सवालक और सांभर पर विजय प्राप्त की[6] तथा वहां के राजाओं को अधीन किया। उसने मेवाड़ पर भी चढ़ाई की, परंतु नागदा शहर तोड़ने के बाद वहां के राजा जैत्रसिंह

(१) सी. मोबेल डफ; क्रॉनॉलॉजी ऑव् इंडिया, पृ० १७०।

(२) वही; पृ० १७०।

(३) देखो ऊपर पृ० १६७ और टिप्पण ३।

(४) देखो ऊपर पृ० १६७।

(५) बील; ओरिएंटल् बायोग्राफिकल् डिक्शनेरी; पृ० ३२०।

(६) ना० प्र० प०; भाग ३, पृ० १२६।

से परास्त होकर उसको भागना पड़ा[1], इसीलिए मुसलमान इतिहास-लेखकों ने इस लड़ाई का वृत्तान्त अपनी पुस्तकों में छोड़ दिया है, परंतु उसी समय के निकट के शिलालेखों आदि में उसका उल्लेख मिलता है। फिर कुतुबुद्दीन के उत्तराधिकारियों ने राजपूताने में विशेष छेड़छाड़ न की और न कोई राज्य छीना, परंतु दिल्ली के खिलजी खानदान के समय में अलाउद्दीन खिलजी ने राजपूतों के राज्य छीनने का निश्चय कर वि० सं० १३५७ (ई० स० १३००) में राजा हंमीर चौहान से रणथंभोर का क़िला लेकर वहां के चौहान राज्य की समाप्ति की[2]। वि० सं० १३६० (ई० स० १३०३) में उसने चित्तोड़ पर चढ़ाई की और छः महीने तक लड़ने के बाद वह क़िला फतह कर अपने बेटे खिज़रखां को दिया। इस लड़ाई में रावल रत्नसिंह और उसके कई सरदार मारे गये और रत्नसिंह की राणी पद्मिनी (पद्मावती) ने कई राजपूत रमणियों के साथ जौहर से अपने सतीत्व की रक्षा की। वि० सं० १३८२ (ई० स० १३२५) के आसपास महाराणा हंमीर ने चित्तोड़गढ़ पीछा ले लिया। वि० सं० १३६५ (ई० स० १३०८) में[3] अलाउद्दीन ने सिवाने का क़िला (जोधपुर राज्य) वहां के चौहान शीतलदेव को मारकर लिया और वि० सं० १३६८ (ई० स० १३११) में[4] उसने जालोर पर चढ़ाई की। वहां का चौहान राजा कान्हड़देव और उसका कुंवर वीरमदेव बड़ी वीरता से लड़कर काम आये और जालोर के चौहान-राज्य की भी समाप्ति हो गई।

तुग़लकों के समय में दिल्ली का मुसलमानी राज्य कमज़ोर होने पर राजपूताने के राजाओं ने उन कई एक प्रान्तों को पुनः अपने राज्यों में

---

(१) ना. प्र. प.; भाग ३, पृ० १२१–२७।

(२) सी. मोबेल डफ; क्रॉनॉलॉजी ऑव् इंडिया; पृ० २१०।

(३) वही; पृ० २१२।

(४) फ़िरिश्ता ने अलाउद्दीन का जालोर लेना हि० स० ७०६ (वि० सं० १३६६=ई० स० १३०६) दिया है, परंतु मुंहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात में इस घटना का वि० सं० १३६८ वैशाख सुदि ५ (ई० स० १३११ ता० २४ अप्रैल) को होना माना है, जो अधिक विश्वास के योग्य है। फ़िरिश्ता ने ठीक संवत् नहीं दिया।

मिला लिया, जिन्हें मुसलमानों ने हस्तगत कर लिया था। तुग़लकों के पिछले समय में तो राज्य की दशा ऐसी बिगड़ी कि दिल्ली के पश्चिमी दरवाज़े दोपहर की नमाज़ के समय से बंद कर दिये जाते थे और उस तरफ़ से कोई बाहर न जाने पाता था, क्योंकि मेवाती लोग उधर से जल के कुण्ड पर पानी भरनेवाले मर्द और औरतों के कपड़े तक छीनकर ले जाते थे[1]।

फ़ीरोज़शाह तुग़लक ने अमीशाह (दिलावरख़ां गोरी) को मालवे का हाकिम बनाया, जो फ़ीरोज़शाह के बेटे तुग़लक शाह (मुहम्मद शाह) के समय में मालवे का स्वतन्त्र सुलतान बन गया। उसने मेवाड़ के महाराणा क्षेत्रसिंह पर चढ़ाई की, परंतु हारकर उसे अपना ख़ज़ाना आदि छोड़ भागना पड़ा[2]। फिर महाराणा कुंभा, रायमल और सांगा (संग्रामसिंह) ने मांडू (मालवा) के सुलतानों से बहुतसी लड़ाइयां लड़ीं।

दिल्ली के सुलतान मुहम्मद तुग़लक ने ज़फ़रख़ां को गुजरात का हाकिम बनाया, जो तुग़लक बादशाहत की कमज़ोरी देखकर हि० स० ७९९ (वि० सं० १४५३=ई० स० १३९६) में गुजरात का स्वतंत्र सुलतान बन गया। गुजरात के सुलतानों के एक वंशधर ने नागोर (जोधपुर राज्य) में अपना अधिकार जमाया। मेवाड़ के महाराणा मोकल, कुंभा, सांगा, विक्रमादित्य आदि ने गुजरात के सुलतानों तथा नागोरवालों से कई लड़ाइयां लड़ीं और सिरोही, डूंगरपुर एवं बांसवाड़े से भी उनका वैसा ही संबंध रहा।

तुग़लकों के समय वि० सं० १४५५ (ई० स० १३९८) में अमीर तैमूर ने हिंदुस्तान पर चढ़ाई कर भटनेर (बीकानेर राज्य) का क़िला लिया[3], फिर दिल्ली फ़तह कर उसको लूटा और वहां मारकाट की। इससे तुग़लक बिल्कुल कमज़ोर हो गये और सैयदों ने उनसे राज्य छीन लिया। वे भी थोड़े ही वर्ष राज्य करने पाये थे कि लोदी पठानों ने उनसे भी तख़्त

---

(१) इलियट्; हिस्ट्री ऑव् इंडिया, जि० ३, पृ० १०५।

(२) ना० प्र० प०; भाग ३, पृ० १९–२१।

(३) सी. मोबेल डफ़; क्रॉनॉलॉजी ऑव् इंडिया; पृ० २३९।

छीन लिया। इस खानदान के बहलोल और सिकंदर लोदी ने राजपूताने पर हमले किये, परंतु उनका यहां विशेष प्रभाव न पड़ा। उक्त वंश के अंतिम सुलतान इब्राहीम लोदी को वि० सं० १५८३ में पानीपत की लड़ाई में हराकर बाबर ने दिल्ली की बादशाहत छीन पठान-राज्य की समाप्ति की।

बाबर जिस समय हिंदुस्तान में आया उस समय हिंदू राजाओं में सब से प्रबल मेवाड़ का महाराणा सांगा (संग्रामसिंह) था, जिसके राज्य की सीमा बयाने तक पहुंच गई थी। उक्त महाराणा ने भारत में पुनः हिंदू राज्य स्थापन करने के लिए वि० सं० १५८४ (ई० स० १५२७) में बाबर से खानवा (बयाना के पास) के मैदान में युद्ध किया। पहली लड़ाइयों में तो उसकी विजय हुई, परंतु अंत की बड़ी लड़ाई में बाबर ने विजय प्राप्त की। बाबर के पीछे उसका बेटा हुमायूं तख्त पर बैठा, जिसको चूनारगढ़ के हाकिम शेरशाह सूर (पठान) ने, पराजित कर दिल्ली का तख्त छीन लिया। शेरशाह के समय में भी राजपूताने पर चढ़ाइयां हुईं और उनमें बड़ी लड़ाई जोधपुर के राजा मालदेव के सरदारों के साथ हुई। उसमें छल-कपट के कारण शेरशाह की विजय हुई, परंतु अंत में उसे यह कहना पड़ा—'मैंने एक मुट्ठी भर बाजरे के लिए हिंदुस्तान की सल्तनत खो दी होती।" हुमायूं बड़ी आपत्ति के साथ मारवाड़ और जैसलमेर राज्यों में होता हुआ उमरकोट (सिंध) में पहुंचा, जहां वि० सं० १५९९ (ई० स० १५४२) में अकबर का जन्म हुआ। उमरकोट से हुमायूं ईरान के बादशाह तहमास्प की शरण में गया। एक दिन शाह तहमास्प ने हुमायूं से पूछा कि कभी तुमने भारतवर्ष के हिंदू राजाओं से संबंध जोड़कर उनको अपना सहायक बनाया या अपने भाइयों पर ही विश्वास कर राज्य करते रहे? हुमायूं ने उत्तर में यही कहा कि भाइयों पर भरोसा करने से ही मेरा राज्य गया। फिर शाह ने उसे समझाया और कहा—"यदि हिंदू राजाओं को अपने अधीन कर उनसे संबंध जोड़ लेते तो वे तुम्हें अवश्य सहायता देते और तुम्हारी ऐसी दशा कभी न होती।" हुमायूं इस नीति को अच्छी तरह समझ गया और ईरान से सहायता प्राप्तकर भारत की तरफ़ लौटा तब उसकी यही इच्छा थी कि इस बार

अपना राज्य फिर जमने पर हिंदू राजाओं से अवश्य संबंध स्थापित कर उनको अपना सहायक बना लूंगा। इस प्रकार मेरे राज्य की नींव सुदृढ़ हो जायगी। हुमायूं ने जब भारत का कुछ भाग पुनः जीत लिया तब उक्त विचारानुसार उसने अपना कार्यक्रम आरंभ करना चाहा, परंतु दैवगति से वि० सं० १६१२ (ई० स० १५५६) में उसका देहान्त हो गया और उसका पुत्र अकबर १२ वर्ष की अवस्था में उसका उत्तराधिकारी हुआ। उस समय उसके अधिकार में केवल पंजाब से आगरे तक का देश और राजपूताने में बयाना और मेवात का इलाक़ा मात्र था। संभव है कि अकबर को उसके पिता ने शाह तहमास्प की शिक्षा से परिचित किया हो। होनहार पुरुषों में बुद्धि-बल और असाधारण ज्ञानशक्ति का होना प्राकृतिक नियम है। तदनुसार ये सब गुण अकबर में भी, चाहे वह अधिक पढ़ा-लिखा न हो, विद्यमान थे। सब से पहले वह बड़े-बड़े विद्वान् और नीतिनिपुण मंत्रियों आदि को अपने पास रखकर अपने अधीनस्थ राज्य को सुदृढ़, शांतिमय और उन्नत बनाने तथा अन्य देशों को अपने अधिकार में लाने के विचार से विना किसी भेदभाव के सब प्रजाहितकारी कार्यों के प्रचार का प्रयत्न करता रहा। अकबर से पूर्व साढ़े तीनसौ वर्षों से अधिक की तुर्क और पठानों की बादशाहत में उनके सूबेदार, सामंतगण तथा क्षत्रिय (राजपूत) राजाओं के साथ लड़ाई-झगड़े निरंतर चला ही करते थे। भारत के हिंदू राजाओं को उन्होंने सैनिक बल से कुचलकर या तो उनके राज्य छीन लिये या उनको अपने अधीन किया और धर्मद्वेष के विचार से वे हिंदुओं को सदा तुच्छ दृष्टि से देखते रहे। इसीलिए राजा तथा प्रजा में परस्पर की प्रीति कभी स्थापित न हुई। इन्हीं आंतरिक उपद्रवों से लाभ उठाकर भिन्न-भिन्न मुसलमान राजवंश इस देश के स्वामी बन गये और सीमांत प्रदेशों से भी चढ़ाइयां होने का भय सदा लगा ही रहता था। यद्यपि मुग़ल और पठान आदि एक ही धर्म के माननेवाले थे तो भी राज्यव्यवहार में धर्म के नाते का कभी विचार नहीं रहता था। अपना राज्य भारत के अधिकांश भाग से उठ जाने के कारण पठान आदि, पहले के सुलतान, मुग़लों

के शत्रु बने ही हुए थे। इस भय को मिटाने के लिए अकबर जैसे नीतिनिपुण बादशाह ने समझ लिया कि यदि मैं हिंदुस्तान को अपना ही देश समझूं, हिंदुओं को भी प्रसन्न रक्खूं और राजपूतों को अपना सहायक बना लूं तो मेरे राज्य की नींव सुदृढ़ हो जायगी और इसी से अन्य देशों पर भी विजय प्राप्त कर सकूंगा। राजपूताने में उस समय ११ राज्य—उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़, जोधपुर, बीकानेर, आंबेर, बूंदी, सिरोही, करौली और जैसलमेर—थे। उनमें मुख्य मेवाड़ (उदयपुर) और जोधपुर थे। आंबेर के कछवाहे उन्नत दशा में न थे और अजमेर का मुसलमान सूबेदार उनको सताया भी करता था। अकबर ने सब से पहले आंबेर के राजा भारमल कछवाहे को अपनी अधीनता में लिया और उसकी तथा उसके पुत्रों आदि की मान-मर्यादा बढ़ाई। भारमल ने भी राज्य के लोभ में आकर अपनी राजकुमारी का विवाह अकबर के साथ कर दिया। इस प्रकार राजपूतों के साथ की नीति का बीजारोपण हुआ। बादशाह अकबर जानता था कि राजपूत राजाओं के नेता मेवाड़ के महाराणा हैं, इसलिए जब तक उनको अपने उधीन न कर लूं तब तक मेरा मनोरथ सफल न होगा। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए बादशाह ने वि० सं० १६२४ (ई० स० १५६७) में महाराणा उदयसिंह के समय चित्तोड़ पर चढ़ाई कर उस क़िले को ले लिया, परंतु महाराणा ने उसकी अधीनता स्वीकार न की इस कारण उनके साथ लड़ाइयां होती रहीं। महाराणा उदयसिंह का देहांत होने पर प्रसिद्ध महाराणा प्रतापसिंह मेवाड़ का स्वामी हुआ। उसके साथ भी अकबर की सेनाएं लड़ती रहीं, परंतु उस दृढव्रती महाराणा ने अकबर की अधीनता स्वीकार न की। अकबर के पीछे जहांगीर दिल्ली का बादशाह हुआ और महाराणा प्रताप के पीछे महाराणा अमरसिंह मेवाड़ का स्वामी हुआ। जहांगीर के समय भी उक्त महाराणा से कई लड़ाइयां हुईं और अंत में महाराणा ने अपने कुल-गौरव के अनुसार शर्तें हो जाने पर बादशाह की अधीनता स्वीकार कर ली, जिसको जहांगीर ने अपने लिए बड़े गौरव का विषय समझा। इस प्रकार मेवाड़ के राज्य की स्वतंत्रता का भी अंत हुआ।

अकबर राजपूतों को अपनी कृपा की बेड़ी से जकड़ने तथा उनके साथ विवाह-जोड़ने के अतिरिक्त भेदनीति के द्वारा उनमें परस्पर विरोध फैलाकर उनको निर्बल करने का उद्योग भी करता रहा; जैसे कि मेवाड़ का बल तोड़ने के लिए वि० सं० १६२६ (ई० स० १५६६) में बूंदी के राव सुर्जन हाड़ा ने आंबेर के राजा भगवानदास की सलाह से बादशाही सेवा स्वीकार कर राणा की अधीनता से मुख मोड़ा और राणा का रणथंभोर का गढ़ बादशाह को सौंप नई जागीर स्वीकार की। ऐसे ही अकबर ने रामपुरे के चंद्रावत सीसोदिया राव दुर्गा को मेवाड़ से स्वतंत्र कर वि० सं० १६२४ (ई० स० १५६७) में अपना सेवक बनाया। जब वह महाराणा प्रताप को अपने वश में न ला सका तो उसके भाई जगमाल को अपना सेवक बनाकर सिरोही का आधा राज्य उसको दे दिया। इसी प्रकार जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, करौली आदि के राजाओं को भी अपने अधीन कर उसने राजपूताने पर अपना प्रभुत्व जमाया। बादशाह अकबर कालिंजर, गुजरात, मालवा, बिहार, बंगाल, कश्मीर आदि प्रदेश अपने राज्य में मिलाकर एक विशाल साम्राज्य का स्वामी हो गया। इन देशों को विजय करने में उसको राजपूतों से बड़ी सहायता मिली।

जहांगीर और शाहजहां का बर्ताव भी राजपूतों के साथ बहुधा वैसा ही रहा जैसा कि अकबर का था। जहांगीर ने जोधपुर के मोटे राजा उदयसिंह के पुत्र कृष्णसिंह को सेठोलाव की जागीर दी। कृष्णसिंह ने अपने नाम से कृष्णगढ़ बसाकर वहां राजधानी स्थापित की। इसी से उसके राज्य का नाम कृष्णगढ़ (किशनगढ़) प्रसिद्ध हुआ। शाहजहां ने अपने सन् जुलूस (राज्यवर्ष) तीसरे (वि० सं० १६८६-८७) में बूंदी के राव रतन हाड़ा के पुत्र माधवसिंह को कोटा और पलायता के परगने जागीर में देकर बूंदी से स्वतंत्र किया। इस प्रकार कोटे का राज्य भी अलग स्थिर हुआ।

वि० सं० १७१५ (ई० स० १६५८) में शाहजहां को क़ैद कर उसका बेटा औरंगज़ेब दिल्ली का बादशाह बना और अपने भाई भतीजों को मार-

कर उसने अपना मार्ग निष्कंटक किया। उसने दक्षिण के प्रान्तों पर विजय प्राप्तकर अपना राज्य अकबर से भी अधिक बढ़ाया, परंतु उसके धर्मद्वेष और कुटिल व्यवहार से राजपूत एवं हिंदुमात्र विरोधी हो गये। दक्षिण में शिवाजी प्रबल हो गया। जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह की मृत्यु होने पर औरंगज़ेब ने जोधपुर खालसे कर लिया। उदयपुर के महाराणा राजसिंह की कार्रवाइयों से अप्रसन्न होकर मेवाड़ पर भी उसने चढ़ाई कर दी। उसके साथ लड़ते समय राजसिंह का देहांत हो गया और वि० सं० १७३८ (ई० स० १६८१) में महाराणा जयसिंह ने बादशाह से सुलह कर ली। महाराणा से सुलह होने पर बादशाह दक्षिण को चला गया। औरंगज़ेब का देहांत वि० सं० १७६३ (ई० स० १७०७) में अहमदनगर (दक्षिण) में हुआ। इसकी खबर पाते ही महाराजा अजीतसिंह ने जोधपुर पर अधिकार कर लिया। जिस मुग़ल साम्राज्य की इमारत बादशाह अकबर ने खड़ी की थी, उसकी नींव औरंगज़ेब ने हिला दी और उसके मरते ही बादशाहत के लिए उसके पुत्रों में लड़ाइयां हुईं। शाहज़ादे मुअज्ज़म ने अपने भाई आज़म को लड़ाई में मारा और बहादुरशाह (शाह आलम) नाम धारणकर वह दिल्ली के तख़्त पर बैठा। उसने महाराजा अजीतसिंह को निकालकर जोधपुर पर फिर अधिकार कर लिया और महाराजा जयसिंह से कुछ समय के लिए आंबेर भी छीन लिया। इन दोनों राजाओं ने थोड़े ही समय पीछे महाराणा अमरसिंह (द्वितीय) की सहायता से अपने अपने राज्यों पर अधिकार कर लिया। उसने उनको सज़ा देने का विचार किया था, परन्तु पंजाब में सिक्खों का उपद्रव मच जाने से वह कुछ न कर सका और उधर चला गया।

बहादुरशाह के पीछे ११ बादशाह दिल्ली के तख़्त पर बैठे जो नाममात्र के बादशाह रहे। उनमें से शाहआलम (दूसरा) ने माचेड़ी के स्वामी नरूका प्रतापसिंह को रावराजा का ख़िताब और पांच हज़ारी मनसब आदि देकर वि० सं० १८३१ में स्वतंत्र राजा बनाया। इस प्रकार अलवर का नया राज्य स्थिर हुआ। मुग़ल साम्राज्य की इस अवनत दशा में

अवध, बंगाल, दक्षिण आदि के बड़े-बड़े सूबेदार स्वतंत्र बन बैठे। मरहटों का बल प्रतिदिन बढ़ता गया। यहां तक कि दिल्ली की सल्तनत का कुल काम सिंधिया के हाथ में रहा और बादशाह को सालाना खर्च भी उसी से मिलने लगा। उधर अंग्रेज़ों का प्रताप भी दिन-दिन बढ़ता ही जाता था। वि० सं० १८६० (ई० स० १८०३) में मरहटों को शिकस्त देकर लार्ड लेक दिल्ली पहुंचा और उसने शाहआलम को मरहटों के पंजे से छुड़ाकर अपनी रक्षा में लिया। शाहआलम के पीछे अकबर (दूसरा) और बहादुरशाह (दूसरा) नाममात्र के लिए दिल्ली के तख़्त पर बैठाये गये। ई० स० १८५७ (वि० सं० १९१४) के ग़दर में अंग्रेज़ों के विरुद्ध होने के कारण बहादुरशाह को उन्होंने क़ैद कर रंगून भेज दिया। इस प्रकार ३३० वर्ष के बाद हिंदुस्तान के मुग़ल-साम्राज्य का अंत हो गया।

मरहटों का संबंध

मरहटों[1] का संबंध राजपूताने के साथ बहुत रहा है अतएव हम यहां बहुत ही संक्षेप में उनका परिचय देना उचित समझते हैं।

---

(१) दक्षिण के महाराष्ट्र देश के रहनेवाले लोग सामान्य रूप से 'महाराष्ट्र' या मरहटे कहलाये, जैसे कि कश्मीर से कश्मीरी, मारवाड़ से मारवाड़ी आदि। पुराने शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों के अनुसार पहले दक्षिण में भी भारतवर्ष के अन्य विभागों के समान चारों वर्ण थे। वि० सं० की १५ वीं शताब्दी के आसपास वहां के ब्राह्मणों ने पुराणों के इस कथन पर कि 'नंदवंशी तथा उनसे पीछे के राजा शूद्र होंगे' विश्वास कर दक्षिण में केवल दो वर्ण ब्राह्मण और शूद्र स्थिर कर दिये और ब्राह्मणों की प्रबलता तथा मुख्यता के कारण उनका आदेश चल निकला, परंतु वास्तव में देखा जाय तो मरहटों में क्षत्रिय जाति अब तक विद्यमान है जैसा कि उनके उपनाम मोरे (मौर्य, मोरी), गुप्ते (गुप्तवंशी), पंवार (परमार), चाळके (चालुक्य, सोलंकी), जादव आदि से पाया जाता है। पीछे से ब्राह्मणों ने वहां के क्षत्रियों को भी शूद्र मानकर उनकी धर्म-क्रियाएं वैदिक रीति से नहीं, किंतु पौराणिक पद्धति से करानी शुरू की और वही रीति उनके यजमानों के अज्ञान के कारण चल गई। कमलाकर पंडित ने 'शूद्रकमलाकर' (शूद्रधर्मतत्त्व) नामक ग्रंथ लिखकर उनकी धर्मक्रियाओं की पौराणिक विधि भी स्थिर कर दी। जब दक्षिण के क्षत्रिय (राजपूत) इस प्रकार शूद्रों की गणना में आने लगे तो राजपूताना आदि अन्य प्रदेशों से उनका विवाह-संबंध छूट गया।

मरहटा जाति दक्षिणी हिन्दुस्तान की रहनेवाली है। उसके प्रसिद्ध राजा छत्रपति शिवाजी के वंश का मूल पुरुष मेवाड़ के सीसोदिया राजवंश में से ही था[1]। कर्नल टॉड ने उसको महाराणा अजयसिंह के पुत्र सज्जनसिंह का वंशज बतलाया है[2] जो बहुत ठीक है। मुंहणोत नैणसी उसको महाराणा क्षेत्रसिंह के पासवानिये (अनौरस) पुत्र चाचा की सन्तान कहता[3] है और खाफ़ीखां की फ़ारसी तवारीख़ 'मुन्तखबुल्लुबाब' में उसका चित्तोड़ के राजाओं की शाखा में होना लिखा है। शिवाजी के पूर्वजों की जो वंशावली मिलती है उसमें ये नाम हैं—

१-महाराणा अजयसिंह, २-सज्जनसिंह[4], ३-दुलीसिंह[5], ४-सिंह[6],

(१) उदयपुर राज्य के 'वीरविनोद' नामक बृहत् इतिहास में शिवाजी का महाराणा अजयसिंह के वंश में होना लिखा है (वीरविनोद; खंड २, पृ० १५८१-८२)। शिवाजी और उनके वंशज मेवाड़ के सीसोदिया राजवंश से निकले हुए होने के कारण सितारे के राजा शाहू के कोई संतान न होने से उसने उदयपुर के महाराणा जगतसिंह (दूसरा) के छोटे भाई नाथजी को सितारे की गद्दी के लिये दत्तक लेना चाहा था, परंतु इसके पूर्व ही राजपूतों का विवाह संबंध उनके साथ होना छूट गया था इसलिए महाराणा ने उसे स्वीकार न किया।

(२) टॉ०; रा०; जि० १, पृ० ३१४। कर्नल टॉड ने जहां शिवाजी के वंश का परिचय और वंशावली दी है वहां तो उसका महाराणा अजयसी के पुत्र सज्जनसिंह के वंश में होना लिखा है, परंतु आगे (पृ० ३७१ में) वणवीर (बनवीर) के वृत्तांत में लिखा है कि नागपुर के भोंसळे उस (वणवीर) के वंश में हैं, जो विश्वास के योग्य नहीं है।

(३) मुंहणोत नैणसी की ख्यात; जि० १, पृ० २३।

नैणसी का कथन विश्वसनीय नहीं है।

(४) राणा सज्जनसिंह ने गुलबर्गा के बहमनी राज्य के संस्थापक ज़फ़रख़ां (हसनगंगू) की सेवा में रहकर वीरता बतलाई।

(५) राणा दुलहसिंह (दिलीपसिंह) को हसनगंगू ने उसकी वीरता और अच्छी सेवाओं के उपलक्ष्य में देवगिरि की तरफ मीरत प्रान्त में दस गांव दिये, जिसके हि० स० ७५३ (वि० सं० १४०६=ई० स० १३५२) के फरमान में उसको सज्जनसिंह का पुत्र और अजयसिंह का पौत्र लिखा है।

(६) राणा सिंहा (सिद्धजी) सागर का थानेदार नियत हुआ और फ़ीरोज़शाह बहमनी के गद्दी पर बैठने के पहले के बखेड़ों में सिंहा तथा उसका पुत्र भैरवसिंह (भोंसला) उसके पक्ष में रहकर लड़े और सिंहा मारा गया।

५-भोंसला[1], ६-देवराज, ७-इन्द्रसेन[2] (उग्रसेन), ८-शुभकर्ण[3], ९-रूपसिंह, १०-भूमीन्द्र, ११-रापा, १२-बरहट, १३-खेला, १४-कर्णसिंह, १५-शंभा, १६-बाबा, १७ मालू, १८-शाहजी, १९-शिवाजी, २०-शंभा (दूसरा), २१-साहू, २२-रामराजा (दत्तक), २३-साहू दूसरा (दत्तक) और २४-प्रतापसिंह ।

कर्नल टॉड ने वंशावली इस प्रकार दी है[4]—

१-अजयसी, २-सजनसी, ३-दलीपजी, ४-शीओजी, ५-भोरजी, ६-देवराज, ७-उगरसेन, ८-माहलजी, ९-खेलूजी, १०-जनकोजी, ११-सत्तूजी, १२-संभाजी, १३ सिवाजी (मरहटों के राज्य का संस्थापक), १४-संभाजी (दूसरा) और १५-रामराजा, जिससे पेशवा ने राज्य छीन लिया ।

पहले के सोलह व्यक्तियों का शृंखलाबद्ध इतिहास नहीं मिलता अतएव हम यहां शिवाजी के दादा मालूजी भोंसला से मरहटों के राज्य का सिलसिला शुरू करते हैं । मालूजी वि० सं० १६५७ (ई० स० १६००) में अहमदनगर के सुल्तान का नौकर हुआ । वि० सं० १६५० (ई० स० १५९३) में उसके शाहजी नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । मालूजी ने अपने बाहुबल से बहुतसी संपत्ति जोड़कर अपना बल बढ़ाया तथा अहमदनगर के सुल्तान ने भी उसको पूना और सोपारा की जागीर प्रदान की । उसने अपने पुत्र शाहजी का विवाह एक मरहटे सरदार जादूराव की कन्या के

---

(१) राणा भैरवसिंह (भोंसला) का उपनाम भोंसला होने से उसके वंशज भोंसले कहलाये । सुल्तान फीरोजशाह ने गद्दी पर बैठने बाद भैरवसिंह को ८४ गांवों सहित मुधोल की जागीर दी, जिसका हि० स० समामता (८००) ता० २५ रवि-उल् आखिर (वि० सं० १४५४ माघ वदि १२=ई० स० १३९८ ता० १५ जनवरी) का फ़रमान विद्यमान है ।

(२) इन्द्रसेन (उग्रसेन) और प्रतापसिंह दो भाई थे । जिनमें से इन्द्रसेन देवराज का उत्तराधिकारी हुआ और वह कोंकण की लड़ाई में मारा गया ।

(३) इन्द्रसेन के दो पुत्र कर्ण और शुभकृष्ण (शुभकर्ण) हुए, जिनमें से कर्ण के वंश में मुधोल का राजवंश और शुभकर्ण के वंश में शिवाजी के पूर्वज हुए ।

(४) टॉ; रा; जि० १, पृ० ३१४, टिप्पण ३ ।

साथ किया। वि० सं० १६७६ (ई० स० १६१६) में मालूजी का देहान्त होने पर शाहजी उसका उत्तराधिकारी हुआ। पहले तो वह मुग़ल सम्राट् शाहजहां के विरुद्ध होकर खानेजहां लोदी का तरफ़दार हो गया, परंतु फिर उसने शाहजहां की सेवा स्वीकार कर ली। अंत में किसी कारण से वह उसकी सेवा छोड़कर दौलताबाद की तरफ़ चला गया। वि० सं० १६६० (ई० स० १६३३) में शाहजहां ने बीजापुर पर चढ़ाई की उस समय शाहजी ६००० सवारों की सेना सहित बीजापुर के पक्ष में रहकर बादशाही फ़ौज से लड़ा। दक्षिण के सूबेदार खानेजहां लोदी ने जब बाग़ी सरदार निज़ामुल्मुल्क को क़ैद कर दिल्ली भेजा तब शाहजी ने दूसरे निज़ाम को उसके स्थान में बैठा दिया तथा उसके भी क़ैद हो जाने पर तीसरे को स्थापित किया और बीजापुर व अहमदनगर के राज्यों की सम्मिलित सेना के साथ बादशाही फ़ौज पर कई हमले कर उसको परास्त कर दिया। फिर अवसर पाकर आप निज़ाम के राज्य पर हाथ बढ़ाने लगा। जब शाहजहां के साथ अहमदनगर और बीजापुर-वालों की संधि हो गई और शाहजादा औरंगज़ेब वि० सं० १६६३ (ई० स० १६३६) में दक्षिण के सूबों के नियंत्रण के लिए नियत हुआ तब शाहजी भी बीजापुर चला गया और अपने पिता की जागीर के परगने पूना और सोपारा, जो बीच में बीजापुरवालों ने छीन लिये थे, पुनः उसको मिल गये। कर्णाटक की लड़ाई में शाहजी ने बीजापुर की सेना के साथ अच्छी सेवा बजाई इसलिए उधर कोल्हार, बंगलोर और बालापुर आदि परगने भी उसको जागीर में दिये गये और उनके सिवा सतारे के दक्षिणी ज़िले कराड़ में २२ गांवों की देशमुखी भी प्रदान हुई। शाहजी की एक स्त्री से शंभाजी और शिवाजी तथा दूसरी से व्यंकाजी नामक पुत्र उत्पन्न हुए थे।

शिवाजी का जन्म (अमांत) वि० सं० १६८६ फाल्गुन वदि ३ (पूर्णिमांत चैत्र वदि ३=ई० स० १६३० ता० १६ फरवरी) शुक्रवार हस्तनक्षत्र को हुआ[1]। जब वह बालक था तब उसकी माता जीजीबाई (जीजाबाई) बादशाह शाहजहां की सेना में क़ैद होकर आई थी, परंतु अपने पीहरवालों की सिफ़ारिश से छूट गई,

(१) शिवाजी का जन्मादिन (सुधा; वर्ष १, भाग १, पृ० २४-२६)।

जो उस समय बादशाही नौकर थे। वि० सं० १६९३ (ई० स० १६३६) तक छः वर्ष तो शिवाजी और उसकी माता शाहजी से पृथक् रहे, परंतु अंत में वे उनके पास बीजापुर चले गये। शिवाजी का पहला विवाह निम्बालकर की कन्या सईबाई के साथ हुआ। जब शाहजी कर्णाटक की तरफ़ गया तो उसने शिवाजी और उसकी माता को पूना भेजकर दादा कोणदेव पंडित को शिवाजी का शिक्षक और जागीर का निरीक्षक बनाया। उस पंडित के श्रम तथा उद्योग से सैनिक शिक्षा में तो शिवाजी प्रवीण हो गया, परंतु पढ़ने-लिखने पर उसने बहुत थोड़ा ध्यान दिया। हां, महाभारत, रामायण और पुराणादि धर्मग्रंथों की कथावार्ताओं को श्रवण करते रहने से विधर्मियों (मुसलमानों) के प्रति उसको घृणासी हो गई। अपनी जागीर के पर्वतीय भाग के निवासी मावली लोगों के समागम से उसने देश की विकट घाटियों और विषम पर्वतमार्गों का ज्ञान भलीभांति प्राप्त कर लिया। शिकार और वनविहार ही में वह अपना बहुतसा समय बिताने लगा। दादा कोणदेव ने उसकी यह प्रकृति देखकर उसको बहुत समझाया, परंतु उसके मन में यही धुन समा रही थी कि मैं किसी प्रकार स्वतंत्र राजा बन जाऊं। सर्दी, गर्मी और मेह-पानी की कुछ भी परवाह न करके स्वामिभक्त माव-लियों को साथ लिये वह दूर-दूर के जंगल व पहाड़ों में जाने लगा और अपने मिलनसार स्वभाव के कारण उसने मुसलमान अधिकारियों और मरहटे सरदारों से भी मेलजोल पैदा कर लिया। वह बातचीत करने में चतुर, स्वभाव का वीर और राज-दरबार की रीति-भांति को भी भली प्रकार जानता था।

मरहटों के प्रताप को भारतवर्ष में चमकानेवाला शिवाजी दक्षिण के मुसलमानी राज्य बीजापुर, गोलकुंडा आदि की दुर्व्यवस्था से लाभ उठाकर अपने पुरुषार्थ और पराक्रम के द्वारा कई गढ़-गढ़ी बनाता और परगने दबाता रहा। उसने कई नगर लूटकर उनकी संपत्ति से अपने सैन्यबल में वृद्धि की और एक ज़मींदार से महाराजा बन गया। अपना बल उसने इतना बढ़ाया कि केवल दक्षिण के सुलतानों ही से नहीं, किंतु औरंगज़ेब जैसे

शक्तिशाली और कट्टर मुग़ल बादशाह से भी भय न खाकर दिल्ली के दक्षिणी इलाक़ों पर भी वह हाथ बढ़ाने लगा और उसने उधर के सूबेदारों से कई लड़ाइयां लड़ीं। यद्यपि औरंगज़ेब शिवाजी को पहाड़ी चूहा और मरहटों को जंगली लुटेरे कहा करता था, परंतु जब उसने देखा कि उस चूहे का उपद्रव प्रतिदिन बढ़ता जाता है तो पहले उसने शायस्ताख़ां को उसका उत्पात मिटाने के लिए भेजा। जब उक्त ख़ां को उस उपद्रव के शमन करने में असमर्थ पाया और शिवाजी ने धोखे के साथ उसके पुत्र और साथियों को मारकर उसकी उंगलियां ही नहीं उड़ा दीं, किंतु बादशाही फ़ौज को भी बुरी तरह परास्त करके भगा दिया तब शाहज़ादा मुअज़्ज़म और जोधपुर का महाराजा जसवन्तसिंह दक्षिण में भेजे गये। इनसे भी बादशाह को सन्तोषजनक सफलता होने की सूरत नज़र न आई तब आंबेर के कछवाहे मिर्ज़ा राजा जयसिंह और दिलेरख़ां को वि० सं० १७२१ (ई० स० १६६४) में रवाना किया। मिर्ज़ा राजा जब दक्षिण में आया और अपनी फ़ौजी कार्रवाई करने लगा तब शिवाजी ने एक पत्र लिखवाकर मिर्ज़ा राजा के पास भेजा, जिसमें अन्यान्य विषयों का वर्णन करते हुए यह भी सूचित कर दिया कि 'आप और हम मिलकर बातचीत कर लें। इससे आप यह कदापि न समझें कि अफ़ज़लख़ां की तरह आपके साथ व्यवहार किया जायगा। अफ़ज़लख़ां ने तो धोखे से मुझे मारने या क़ैद करने का प्रबंध कर बारह सौ सवार गुप्त रीति से घात में लगा रक्खे थे। यदि उस समय मैं अपने बचाव के लिए उसे न मार देता तो आज की चिट्ठी आपको कौन लिखता" इत्यादि।[1]

मिर्ज़ा राजा ने अपनी कार्यकुशलता और बल-बुद्धि-द्वारा शिवाजी से बहुतसे गढ़-गढ़ी छीनकर अंत में उसे बादशाही सेवा स्वीकार कर लेने को बाध्य किया और उसके पुत्र शंभाजी सहित उसे शाही दरबार में आगरे भेज दिया। वहां पहुंचने पर जब शिवाजी ने देखा कि बादशाह की नीयत मेरी तरफ़ साफ़ नहीं है तो वह बड़ी चतुराई के साथ अपने पुत्र सहित भागकर

(१) ना० प्र० प०; भा० ३, पृ० १४६–६३।

कई कठिनाइयां सहता हुआ पीछा दक्षिण में पहुंच गया।

जब मिर्ज़ा राजा के पास यह ख़बर पहुंची कि शिवाजी भाग गया है और उसने यह भी सुना कि बादशाह को मेरे बेटे रामसिंह पर उसके भगा देने का संदेह हो गया है तो वह बड़े विचार में पड़ा और शिवाजी को पुनः क़ाबू में लाने के लिए उसने अनेक उपाय रचे, परंतु उसे कुछ भी सफलता न मिली। शिवाजी का संबंध राजपूताने के साथ कुछ भी न रहा इसलिए उसकी कार्रवाइयों का विशेष वृत्तांत यहां देना उपयोगी न समझकर केवल इतना ही लिखना पर्याप्त है कि वि० सं० १७३१ (ई० स० १६७४) में शिवाजी बड़ी धूमधाम के साथ रायगढ़ में राज्यसिंहासन पर बैठा, 'राजा' पदवी धारण की, अपनी मोहर छाप में 'क्षत्रियकुलावतंस श्रीराजा शिवा छत्रपति'[1] शब्द अंकित करवाये और अपने नाम के सिक्के भी चलाये[2]। अपने राज्य की अच्छी व्यवस्था की और बुद्धिमान् तथा योग्य मंत्रियों, शूरवीर एवं रणकुशल सेनापतियों की सहायता से राज-काज करने लगा, परंतु इस पद का उपभोग वह बहुत काल तक न कर सका, क्योंकि गद्दी पर बैठने के छः वर्ष पीछे ५१ वें वर्ष के प्रारंभ में ही वि० सं० १७३७ (ई० स० १६८०) में उसका देहांत हो गया। अपनी नीतिनिपुणता और उत्तम बर्ताव से शिवाजी ने मरहटा मात्र के अंतःकरण में एक प्रकार का जोश और जातीय भाव उत्पन्न कर दिया था, जिसके द्वारा पीछे उनकी उन्नति का नक्षत्र थोड़ासा चमका, परंतु फिर परस्पर की ईर्षा, द्वेष, फूट और लूटमार का बाज़ार गरम रखने से राष्ट्रीय संगठन की रक्षा करने के बदले उन्होंने उसको विध्वंस कर दिया जिससे उस उन्नति के नवांकुरित पौधे का शीघ्र ही नाश हो गया। शिवाजी ने चार विवाह किये थे उनमें से सईबाई और एक दूसरी स्त्री तो उसके जीतेजी ही मर गई, तीसरी पुत्तलबाई

(१) ग्रैंट डफ; हिस्ट्री ऑव् दी मराठाज़; जि० १, पृ० २०७, टिप्पण २ (ऑक्सफर्ड संस्करण)।

(२) शिवाजी का सोने का सिक्का भी मिला है, जिसपर 'छत्रपति महाराजा शिवाजी' लेख है (प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑव् दी आर्कियालॉजिकल् सर्वे, वेस्टर्न सर्कल; ई० स० १९१९, पृ० ६ और ४८)।

पति के देहांत से थोड़े दिन पीछे सती हो गई और चौथी सोयराबाई राजाराम[1] की माता थी, जिसपर शिवाजी का बड़ा प्रेम था। सईबाई के गर्भ से शंभाजी ने जन्म लिया था।

शंभाजी—यद्यपि ज्येष्ठ राजकुमार होने से शिवाजी के पीछे गद्दी का हक़ उसी का था, परंतु उसके दुश्चरित्र होने और किसी ब्राह्मण की स्त्री पर बलात्कार करने के दंड में शिवाजी ने उसको क़ैद कर रक्खा था। वहां से किसी प्रकार निकलकर वह बादशाही सूबेदार दिलेरख़ां के पास चला गया, किंतु जब औरंगज़ेब ने दिलेरख़ां को लिखा कि शंभाजी को हमारे पास भेज दो तो उसने उसको अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के वास्ते चुपके से भगा दिया, क्योंकि वह अपने स्वामी की नीति को जानता था। लाचार शंभाजी फिर पिता की शरण में आया और पन्हाले के गढ़ में क़ैद किया गया। शिवाजी का देहांत होने पर सरदारों ने बालक राजाराम को गद्दी पर बिठा दिया। जब शिवाजी की मृत्यु का समाचार शंभाजी ने सुना तब उसने उक्त गढ़ पर अधिकार कर लिया और वह अपनी सेना सहित रायगढ़ पहुंचा। दूसरे सरदार भी उससे मिल गये और वह अपने पिता की गद्दी पर बैठा। उसने राजाराम की माता को गढ़ से नीचे गिराकर मरवा दिया, राजाराम को भी क़ैद कर लिया और अपने पिता के स्वामिभक्त सरदार और सेनापतियों में से कितनों ही को तो मरवा डाला और कुछ को क़ैद किया। आगरे से भागते समय शिवाजी ने जिस कवि कलश नामक ब्राह्मण के पास शंभाजी को छोड़ा था उसी को शंभाजी ने पंडितराज की पदवी देकर अपना मंत्री बनाया। शिवाजी के गुरु स्वामी रामदास ने शंभाजी को बहुत समझाया, परंतु उनकी शिक्षा का कुछ भी प्रभाव उसपर न पड़ा। औरंगज़ेब का शाहज़ादा अकबर बाग़ी होने पर अपने पिता के कोप से भयभीत होकर कुछ काल तक शंभाजी के पास रहा, जिससे घबराकर बादशाह राजपूताने में महाराणा जयसिंह के साथ जो लड़ाई हो रही थी उसको किसी प्रकार समाप्त कर दक्षिण में पहुंचा

---

(१) राजाराम के स्थान पर रामराजा भी लिखा मिलता है।

और ग़ाज़ीउद्दीनख़ां को बड़ी सेना के साथ शंभाजी पर भेजा। जब औरंगज़ेब बीजापुर और गोलकुंडे को विजय करने में लगा था उस समय शंभाजी भी कभी-कभी बादशाही सेना के साथ थोड़ी बहुत लड़ाई करता रहा। जब उसने उन दोनों राज्यों को जीतकर दिल्ली की बादशाहत में मिला लिया तब वि० सं० १७४४ (ई० स० १६८७) में शंभाजी के नाश करने पर कमर बांधी और शाहज़ादे मुहम्मद आज़म को ४०००० सेना देकर उसपर भेजा। वि० सं० १७४५ (ई० स० १६८६) में बादशाही सेनापति मुकर्रबख़ां पन्हाले की तरफ़ भेजा गया। उस समय शंभाजी पन्हाले को छोड़कर संगमनेर तीर्थ के एक बाग़ में प्रेमपात्रियों को साथ लिये आनन्द उड़ा रहा था। वह यह समझे हुए था कि ऐसे विकट मार्ग को पार कर इस सुरक्षित स्थान में शत्रु नहीं पहुंच सकेगा, परंतु मुकर्रबख़ां अपनी चुनी हुई सेना सहित वहां जा पहुंचा। शंभाजी शराब के नशे में चूर हो रहा था। जब उसके सेवक ने शत्रु की सेना सिर पर आ जाने की सूचना उसे दी तो उसने क्रोध में आकर उस बिचारे को बहुत कुछ भला बुरा कहा। इतने में तो मुकर्रबख़ां आ पहुंचा; शंभाजी ने उससे युद्ध किया, परंतु वह घायल होकर पकड़ा गया। उसके साथ कवि कलश भी था, जो शत्रु से लड़कर सख़्त घायल हुआ। मुकर्रबख़ां ने दोनों को क़ैद कर बादशाह के पास पहुंचा दिया। जब शंभाजी दरबार में लाया गया तो औरंगज़ेब तख़्त से उतरकर खुदा का शुक्रिया करते हुए नमाज़ पढ़ने लगा; उस समय कवि कलश ने शंभाजी से कहा—'देख, तेरा प्रताप ऐसा है कि तुझको मान देने के वास्ते बादशाह तख़्त छोड़कर तेरे सामने सिर झुकाता है।' औरंगज़ेब ने चाहा कि शंभाजी मुसलमान हो जाय, परंतु उसने कई अपशब्दों के साथ बादशाह का अनादर किया, जिसपर क्रोध में आकर बादशाह ने शंभाजी और कवि कलश दोनों को उनके कई साथियों सहित मरवा डाला।

शंभाजी के मारे जाने पर बादशाही सेनापति ऐतक़ादख़ां ने रायगढ़ फ़तह कर लिया। शंभाजी की राणी यीशूबाई अपने बालक पुत्र शाहू

समेत क़ैद हुई और बादशाह के पास पहुंचाई गई। शिवाजी का दूसरा पुत्र राजाराम किसी ढब से भाग निकला। राजाराम ने गद्दी पर बैठकर बादशाही सेना से कई लड़ाइयां कीं, परंतु अन्त में जुल्फ़िक़ारखां से हारकर वि० सं० १७५४ (ई० स० १६९७) में वह सतारे चला गया और उस नगर को अपनी राजधानी बनाया। राजाराम के मरने पर उसका बालक पुत्र शिवाजी (दूसरा) गद्दी पर बैठा और राज्य का काम उसकी माता ताराबाई सम्हालने लगी। उसके समय में मरहटों ने अपने खोये हुए बहुतसे गढ़ पुनः ले लिये। वि० सं० १७६४ (ई० स० १७०७) में जब बादशाह औरंगज़ेब अहमदनगर में मर गया तब शाहज़ादे आज़म ने शंभाजी के पुत्र शाहूजी को क़ैद से छोड़ दिया। उसने वि० सं० १७६४ (ई० स० १७०७) में ताराबाई से सतारे का राज्य छीन लिया, जिसपर वह अपने बालक पुत्र को लेकर कोल्हापुर चली गई और वहां उसने अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया।

शाहूजी ने बालाजी विश्वनाथ को अपना पेशवा (प्रधान) बनाया। यह पहला ही पेशवा था, जिसने अवसर पाकर राज्य का सारा काम अपने हस्तगत कर लिया, इसलिए धन्ना यादव के पुत्र चंद्रसेन और उसके बीच परस्पर शत्रुता हो गई। वि० सं० १७७० (ई० स० १७१३) में उन दोनों में लड़ाई हुई, जिसमें शाहूजी ने पेशवा की सहायता के लिए हैबतराव निंबालकर को भेजा, जिससे हारकर चन्द्रसेन पहले तो कोल्हापुर गया, फिर निज़ाम के पास जाकर रहने लगा। पेशवा की सत्ता प्रतिदिन बढ़ने लगी और वि० सं० १७७५ (ई० स० १७१८) में दिल्ली जाकर उसने बादशाह फ़र्रुख़सियर से कई जागीरों की सनदें, दक्षिण की चौथ[1] और सरदेशमुखी[2] के हक़ हासिल किये। फिर वहां से लौट आने पर वि० स० १७७८ (ई० स० १७२१) में वह मर गया। यहीं से पेशवों का राज्य शुरू हुआ और शाहूजी नाममात्र का राजा रह गया।

---

(१) आमद का चौथा हिस्सा।

(२) सरदेशमुखी एक कर था, जिसमें आमद का १०वां हिस्सा लिया जाता था और यह कर चौथ से अलग लगता था।

बाजीराव (बालाजी विश्वनाथ का पुत्र)-यह वि० सं० १७७८ (ई०स० १७२१) में पेशवा बना और उसका प्रताप इतना बढ़ा कि सारे हिन्दुस्तान का राज्य अपने अधिकार में कर लेने की नीयत से उसने जहां-तहां अपने नायब भेजे। फिर तो शिवाजी के वंश के राजा नाममात्र के राजा कहलाते रहे। उसने मल्हारराव होल्कर, राणोजी सिंधिया और पीलाजी गायकवाड़ आदि मरहटे सरदारों को बड़े-बड़े ओहदे देकर मालवे और गुजरात पर अपने नायब के तौर पर नियत किया। जिस समय मालवे की सूबेदारी पर बादशाह मुहम्मदशाह की तरफ़ से आंबेर का महाराजा सवाई जयसिंह था उस समय मरहटों ने नर्मदा को पारकर अपने घोड़ों की बाग उत्तर भारत की ओर फेरी। महाराजा जयसिंह ने कुछ शर्तों पर मालवा बाजीराव के सुपुर्द कर दिया।

वि० सं० १७९७ (ई० स० १७४०) में बाजीराव पेशवा के मरने पर उसका पुत्र बालाजीराव (बालाजी बाजीराव दूसरा) तीसरा पेशवा हुआ। वि० सं० १८०६ (ई० स० १७४९) में राजा शाहू का देहान्त हुआ। शाहू की राणी सकरबाई (सकवारबाई) ने कोल्हापुर से राजा शंभा को गोद लेना चाहा, परंतु दूसरी राणी ताराबाई के प्रयत्न से शिवाजी (दूसरा, रामराजा का पुत्र) नाममात्र के लिए सतारे की गद्दी पर बिठलाया गया। शाहूजी राजा के समय से ही राज्य की सारी सत्ता पेशवा के हाथ में थी तो भी वह प्रधान कहलाता था। शाहूजी के मरते ही बालाजी महाराजाधिराज बन गया और उसने वि० सं० १८०७ (ई० स० १७५०) में पूना में अपनी राजधानी स्थापित की तथा अपने सैनिक अफ़सरों-होल्कर, सिंधिया और पंवार-में मालवे का देश बांट दिया।

वि० सं० १८१८ (ई० स० १७६१) में अहमदशाह अब्दाली, जो पहले हमले में पेशवा के भाई रघुनाथराव से परास्त होकर लौट गया था, फिर हिन्दुस्तान पर चढ़ आया। इस बार सदाशिवराव की बातों में आकर पेशवा ने युद्धकुशल रघुनाथराव को सेनापति के पद से अलग कर सदा-शिवराव को उसके स्थान पर नियत किया और समग्र मरहटा-दलबल सहित उसको अहमदशाह से लड़ने के लिए भेजा। पानीपत के घोर युद्ध

में मरहटे परास्त हुए और उनके सहस्रों सैनिक खेत रहे। कई बड़े-बड़े अफ़सर, पेशवा के पुत्र विश्वासराव और सेनापति सदाशिवराव आदि मारे गये। अपने पुत्र की मृत्यु एवं इस पराजय की ख़बर सुनकर बालाजीराव पेशवा का भी देहान्त हो गया।

बालाजी बाजीराव के पीछे उसका पुत्र माधोराव गद्दी पर बैठा और उसका चचा रघुनाथराव पेशवा बनने का उद्योग करने लगा। वि० सं० १८२६ (ई० स० १७७२) में माधोराव भी काल-कवलित हो गया और पेशवा की गद्दी उसके छोटे भाई नारायणराव को मिली। एक वर्ष के भीतर ही वह रघुनाथराव (राघोबा) के यत्न से मारा गया और रघुनाथराव ने अपने को पेशवा मान लिया, परंतु नारायणराव की स्त्री के गर्भ था और पुत्र उत्पन्न होने पर वही बालक माधोराव दूसरे के नाम से गद्दी पर बिठलाया गया। राज्य का कार्य्य सखाराम बापू और नाना फड़नवीस आदि करने लगे। उधर रघुनाथराव अंग्रेज़ सरकार की सहायता से पेशवा बनने का उद्योग करने लगा, परन्तु उसमें उसको सफलता न मिली। रघुनाथराव के दो पुत्र-बाजीराव और चिमनाजी—थे।

माधोराव (दूसरा) वि० सं० १८५२ (ई० स० १७९५) में महल पर से अकस्मात् गिरने से मर गया। तब रघुनाथराव का पुत्र बाजीराव (तीसरा) पेशवा बनाया गया।

रामराजा के दत्तक पुत्र शाहूजी ने स्वतंत्रता धारण कर सतारे पर अधिकार कर लिया था, परंतु अन्त में वह भी क़ैद हुआ। वि० सं०१८५९ (ई० स० १८०२) में बाजीराव जसवन्तराव होल्कर से पराजित होकर, पूना से भाग आया। फिर उसी साल उसने अंग्रेज़ सरकार से अहदनामा किया।

इधर होल्कर, सिंधिया और धार के परमार आदि सरदारों का बल बढ़ने लगा और पेशवा की सत्ता घटती ही गई। उधर अंग्रेज़ों का प्रभाव प्रतिदिन बढ़ता ही जाता था। वि० सं० १८७४ (ई० स० १८१७) में बाजीराव के साथ अंग्रेज़ों की लड़ाई हुई, जिसमें वह पराजित होकर भागा। पूना पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया और कोरेगांव के पास जनरल स्मिथ ने

मरहटों की सेना को हराकर सतारे पर भी अधिकार कर लिया। अन्त में पेशवा बाजीराव (दूसरा) सर जॉन मालकम की शरण में चला गया और उसको सरकार ने ८००००० रुपये वार्षिक पेंशन पर बिठूर (कानपुर ज़िला) भेज दिया।

राजा शाहूजी की जगह उसके बेटे प्रतापसिंह को गद्दी पर बिठाकर राजकाज की देखरेख के लिए कप्तान ग्रैंट डफ नियत किया गया। बालिग़ होने पर प्रतापसिंह को राज्य के अधिकार दिये गये, परन्तु स्वतंत्र होने का प्रपंच करने पर अंग्रेज़ सरकार ने उसे गद्दी से उतारकर वि० सं० १८९६ (ई० स० १८३९) में उसको नज़रक़ैदी के तौर पर बनारस भेज दिया और उसके भाई शाहजी को सतारे का मालिक बनाया। वि० सं० १९०५ (ई० स० १८४८) में उसके निःसंतान मरने से उसके राज्य पर अंग्रेज़ों ने अधिकार कर लिया। इस प्रकार शिवाजी के वंश और पेशवा के राज्य दोनों की समाप्ति हो गई और अब केवल कोल्हापुर का राज्य शिवाजी के वंश में अवशेष रह गया है।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि मालवा मुसलमानों के अधिकार से निकलकर दूसरे पेशवा बाजीराव के अधिकार में आया। बाजीराव का प्रताप दिन-दिन बढ़ता गया और उसने मालवे का मुल्क होल्कर, सिंधिया और परमार (पंवार) वंशों के अपने सैनिक अफसरों में बांट दिया। फिर होल्कर के वंश में इंदौर का, सिंधिया के वंश में ग्वालियर का और परमार के वंश में धार का राज्य स्थिर हुआ। इन तीनों में भी ग्वालियरवालों का प्रताप ख़ूब बढ़ा। इन मरहटों ने मुग़ल बादशाहों की अवनति के समय राजपूताने के राज्यों को हानि पहुंचाने में कुछ भी कमी न रक्खी। मुग़लों के समय में तो राजपूत राज्यों की दशा ख़राब न हुई, परंतु मरहटों ने तो उनको जर्जरित कर दिया और सबसे अधिक हानि मेवाड़ (उदयपुर राज्य) को पहुंचाई। मरहटों के अत्याचारों तथा आक्रमणों का वर्णन आगे भिन्न-भिन्न राज्यों के इतिहास में विस्तार से लिखा जायगा, यहां तो उनका संक्षेप में परिचय दिया जाता है।

सिंधिया (सिंदे) घराने के मूल पुरुष कन्नेरखेड़ा (सतारे से १६ मील पूर्व) गांव के वंशपरंपरागत पटेल (मुखिया) थे। इस घराने की एक कन्या का विवाह राजा शाहूजी (शंभाजी के पुत्र) के साथ हुआ था। ग्वालियर राज्य का संस्थापक राणोजी सिंधिया, पेशवा बाजीराव की सेवा में रहता था। बाजीराव ने उसकी वीरता और सेवा से प्रसन्न होकर उसको उच्च पद पर नियत कर दिया। मालवे पर पेशवा का अधिकार होने पर उसने मल्हारराव होल्कर और पुंआर (परमार, धारवालों का पूर्वज) के साथ उसको मालवे में चौथ और सरदेशमुखी लेने का अधिकार दिया और उसी को अपना प्रतिनिधि बनाकर बादशाही दरबार में दिल्ली भेजा। उसी ने पेशवा की तरफ़ से अहदनामे पर दस्तख़त किये। राणोजी ने अपना निवासस्थान उज्जैन में रक्खा। वि० सं० १८०२ (ई० स० १७४५) में शुजालपुर में राणोजी का देहांत हुआ, तब से उस गांव का नाम राणू-गंज पड़ा। अंत समय में ६५००००० रुपये वार्षिक आय का मुल्क राणोजी सेंधिया के अधिकार में था। उसकी दो स्त्रियों से पांच पुत्र जयआपा, दत्ता, जट्टोबा (जोतिबा), तुका और माधोराव (महादजी) उत्पन्न हुए। जयआपा अपने पिता का उत्तराधिकारी बना, परंतु वह शीघ्र ही नागोर (मारवाड़) में महाराजा विजयसिंह के इशारे से दो राजपूतों के हाथ से छलपूर्वक मारा गया। दत्ता दिल्ली के पास की एक लड़ाई मे काम आया और जट्टोबा डीग के पास के युद्ध मे मारा गया। जयआपा का पुत्र जनकोजी राज्य का स्वामी हुआ। पानीपत के प्रसिद्ध युद्ध में जनकोजी के खेत रहने पर राणोजी का सब से छोटा पुत्र माधोराव सिंधिया राज्या-धिकारी हुआ। उसकी विभूति और सैन्यबल बहुत बढ़ गया और उसने फ्रेंच अफ़सरों को नौकर रखकर अपनी सेना की सजावट नये ढंग से की। मल्हारराव होल्कर के मरने पर माधोराव का प्रभाव बहुत बढ़ा और मालवा तथा राजपूताना आदि प्रदेश होल्कर व सिंधिया के अधिकार में समझे जाने लगे। वहां के कई राज्यों पर कर लगाकर माधोराव एक स्व-तंत्र महाराज्य का स्वामी हो गया। केवल नाममात्र के लिए वह पेशवा के

अधीनस्थ कहलाता और उसी के नाम से अपनी मुल्की व फ़ौजी कार्रवाइयां करता था, परंतु वास्तव में उसे हिन्दुस्तान का शासक कहना चाहिये। उसने दिल्ली के बादशाह को अपनी रक्षा में लिया। जयआपा की मूंडकटी (मारने के एवज़) में जोधपुरवालों को अजमेर ज़िला उसे देना पड़ा। फिर वह राजपूताने के राज्यों को हानि पहुंचाने लगा। मुग़लों की निर्बलता के कारण राजपूताने के राजा भी निरंकुश होकर परस्पर लड़ने लगे तथा कई राज्यों में उनके सामन्तों ने सिर उठाकर राज्य की भूमि दबाना और राजा की आज्ञा को टालना शुरू किया। इन लड़ाई-झगड़ों में उभय पक्षवाले अपना अपना मनोरथ सिद्ध करने के लिए होल्कर, सिंधिया अथवा अन्य मरहटे सरदारों को सहायतार्थ बुलाने लगे। ये लोग राजाओं से निश्चित फ़ौज-खर्च लेने के अतिरिक्त उनके देश को भी लूटते और धनाढ्य लोगों को क़ैद करके ले जाते और उनको मुक्त करने के बदले बहुतसा धन लेते थे। अंग्रेज़ सरकार का बढ़ता हुआ प्रताप देखकर वह (माधवराव) उससे द्वेषभाव रखता था। वि० सं० १८५१ (ई० स० १७६४) में उसका देहांत पूना में हो गया। उसके कोई पुत्र न होने से, उसके भाई तुकोजी के तीसरे पुत्र आनंदराव का बेटा दौलतराव दत्तक लिया गया और उसका उत्तराधिकारी बनाया गया। अंग्रेज़ सरकार के साथ उसने लड़ाइयां लड़ीं, परंतु अंत में हारकर अहदनामा कर लिया। फिर तो राजपूताने से सिंधिया का अधिकार उठ गया और अंग्रेज़ों के हाथ में शासन-सूत्र आया।

होल्कर—मरहटों के राज्य का दूसरा सुदृढ स्तंभ होल्कर का वंश था उसकी राजधानी मालवे में इन्दौर नगर है। इस राज्य के स्थापनकर्ता मल्हारराव का पिता खंडोजी होल गांव (पूना से ४० मील) का रहनेवाला था। वि० सं० १७५० (ई० स० १६६३) के लगभग मल्हारराव का जन्म हुआ। अपने पिता के मर जाने पर वह माता सहित अपने ननिहाल खानदेश में जा रहा। साहसी और वीर प्रकृति का पुरुष होने के कारण बाजीराव पेशवा ने उसे अपनी नौकरी में लिया और एक बड़ी

सेना का नायक बना दिया। निज़ाम के साथ की और कोंकण की लड़ाइयों में अच्छा काम कर दिखाने से वह पेशवा के बड़े सामंतों में गिना गया। उसकी मातहती में जो सेना थी उसके खर्च के लिए इन्दौर का बड़ा ज़िला उसको दिया गया, जो अब तक उसके खान्दान में चला आता है। उसने कई बार दिल्ली व आगरे तक पहुंचकर बादशाही मुल्क लूटा। पानीपत की प्रसिद्ध लड़ाई में घायल होकर भागने के बाद वह अपने राज्य के प्रबंध में लगा। जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह की मृत्यु के पीछे उसके दूसरे पुत्र माधोसिंह को जयपुर का राज्य दिलाने के लिए उदयपुर के महाराणा जगतसिंह (दूसरा) ने मल्हारराव की मदद ली। उस समय उसने मेवाड़ से फ़ौज खर्च के लिए बहुत से रुपये लेकर कुछ इलाक़ा भी दबा लिया। इस प्रकार राजपूताने के राज्यों पर दबाव डालता और अपना भंडार भरता हुआ मल्हारराव वि० सं० १८२३ (ई० स० १७६६) में परलोक को सिधारा। उसका पुत्र खंडेराव भरतपुर के जाटों के मुकाबले में पहले ही मारा गया था, जिससे उसका बालक पुत्र माले-राव राजा बना और थोड़े ही मास बाद मर गया, जिससे उसकी माता अहिल्याबाई राज्य का काम चलाती रही। अहिल्याबाई ने उत्तमता से राज्य का काम चलाया और अपनी धर्मनिष्ठा, बुद्धिमानी, दया, दान और परोपकार के कार्यों से वह भारतवर्ष में एक आदर्श महिला हो गई। वि० सं० १८५२ (ई० स० १७६५) में अहिल्याबाई के मरने पर होल्कर के वंश के तुकोजीराव ने दो वर्ष तक राज्य किया। उसके मरने पर राज्य में बखेड़ा हुआ और उसका पुत्र जसवन्तराव अपने भाई मल्हारराव को मारकर इन्दौर-राज्य का स्वामी हो गया। उसने अमीरखां पठान को अपनी सेवा में रखकर राजपूताने पर बहुत कुछ अत्याचार कराया और अंग्रेज़ों से भी लड़ा। अन्त में उस (जसवन्तराव) के पागल होकर मर जाने पर उसकी स्त्री तुलसीबाई ने कुछ अर्से तक राज्य का काम चलाया, परंतु अंत में सैनिकों ने उपद्रव खड़ाकर उसे मार डाला और जसवंतराव के पुत्र मल्हारराव (दूसरा) को गद्दी पर बिठाया। जसवंतराव के

समय में होल्कर और सिंधिया के बीच भी कई लड़ाइयां हुई थीं। ये दोनों अपना अपना अवसर देखकर राजपूताने में आते और यहां के राज्यों में लूटमार कर चले जाते थे। पिंडारियों के सरदार अमीरखां के साथी निर्दयी पठानों ने भी राजपूताने की प्रजा को सताने में कसर न रक्खी। अमीरखां ने अपना सैनिक बल बढ़ाकर मेवाड़, मारवाड़ और जयपुर के राज्यों में अपनी धाक जमा ली थी। परस्पर की फूट और निर्बलता के कारण कोई भी राजा अकेला लुटेरे पठान और मरहटों का मुकाबला न कर सकता था और मिलकर शत्रु को मारने के बदले उलटे वे लोग अपने घरेलू झगड़ों में मरहटों को मदद के लिए बुलाते, जो बिल्ली-बन्दर के जैसा न्याय कर उन राज्यों पर आपत्ति खड़ी करते और उनके इलाक़े भी छीन लेते थे। सिंधिया ने राजपूताने में अपने प्रतिनिधि आंबाजी इंगलिया को रक्खा और वह मानो राजपूत राज्यों के भाग्य का निर्णय करने में धाता विधाता सा बन गया। सिंधिया, होल्कर और धार आदि के राजाओं ने राजपूताने के राज्यों से ख़िराज ठहराये, फ़ौज-ख़र्च में उनसे कई परगने ले लिये और जगह-जगह अपने अधिकारी रखकर राजा और प्रजा दोनों को पीडित करने में कमी न रक्खी। देश ऊजड़ होता गया, खेती-बाड़ी और व्यापार बंदसा हो गया तथा चारों ओर लुटेरों एवं डाकुओं के झुण्ड फिरा करते थे। वे लोग जहां जहां पहुंचते वहां नगरों तथा गांवों को लूटते और उनको जला देते थे। इसीसे लोगों के धन और प्राण प्रतिक्षण संकट में रहते थे। उनके अत्याचारों से राजपूताने के राज्यों की नाक में दम आ गया और दीनता एवं दरिद्रता चारों ओर से मुंह फाड़े उनको भक्षण करने के लिए संमुख आकर उपस्थित हुई, जिससे लाचार होकर अपने बचाव के लिए राजपूताने के राज्यों को अंग्रेज़ सरकार की रक्षा में जाना पड़ा।

शिवाजी ने मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दुओं में एकता का भाव उत्पन्न कर उनके जातीय संगठन-द्वारा पुनः हिन्दू राज्य स्थापित कर देना ही अपना मुख्य अभिप्राय प्रकट किया और मरहटा जाति में एक प्रकार का

जोश उत्पन्न कर दिया, परन्तु उसने जिस महाराज्य की नींव डाली वह राष्ट्रीय भावों की सुदृढ़ चट्टान पर नहीं थी, किन्तु बालू की पोली भूमि में खड़ी की गई थी अतएव मरहटों के विराट् राज्यरूपी अंग-प्रत्यंगों में शीघ्र ही परस्पर की फूट और वैरभाव की बीमारी फैल गई। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने स्वार्थ पर दृष्टि रखकर एक दूसरे को कुचल देने में प्रवृत्त हुआ। साम्राज्य स्थिर करने के उदार और उत्कृष्ट भावों से अनभिज्ञ होने के कारण मरहटा जाति ने लूट-खसोट, अन्याय और अनर्थ के द्वारा स्वार्थ सिद्ध करलेना ही राज्य बढ़ाने का मूलमंत्र समझा, जिसका परिणाम यह हुआ कि समुद्र-पार से आई हुई बुद्धिमान् और नीतिकुशल तीसरी जाति ने उनके बल का विध्वंस कर भारत का राज्य उनसे छीन लिया।

अंग्रेज़ों का संबंध

प्राचीन काल में भारत के बने हुए छींट, मलमल इत्यादि वस्त्र तथा गरम मसाला आदि अनेक दूसरे पदार्थों का व्यापार मिसर और अरब के निवासियों-द्वारा यूरोपवालों के साथ होता था, जिससे हिन्दुस्तान के माल का मुनाफ़ा वे लोग उठाते थे। यूरोप के लोग चाहते थे कि भारत जाने के लिए कोई जल-मार्ग मालूम हो जाय और वहां की वस्तुएं स्वयं ख़रीद लावें तो विशेष लाभ हो, क्योंकि कई व्यापारियों के द्वारा माल के पहुंचने से क्रमशः उसका मूल्य बढ़ जाता था और उसका लाभ बीच-वाले ही उठाते थे। इसी विचार से यूरोप के साहसिक पुरुष अपने-अपने अनुमान के अनुसार हिन्दुस्तान का मार्ग समुद्र में ढूंढने लगे, परंतु यहां का पूरा हाल मालूम न होने के कारण उस मार्ग से यहां तक पहुंचना कठिन कार्य्य था। सुप्रसिद्ध कोलंबस भारत की तलाश में रवाना हुआ, परंतु मार्ग से परिचित न होने के कारण अमेरिका में जा निकला। पुर्तगाल का बार्थोलोमेयो नामक नाविक हिन्दुस्तान को आफ्रिका के पूर्व में मानकर ई० स० १४८६ (वि० सं० १५४३) में लिस्बन नगर से निकला और आफ्रिका के दक्षिणी अंतरीप (Cape of Good Hope) तक पहुंच गया,

परंतु समुद्र में तूफान अधिक होने के कारण आगे न बढ़ सका। ई० स० १४६८ (वि० सं० १५५५) में उसी देश का एक दूसरा नाविक वास्को-डिगामा अपने बादशाह की आज्ञा से तीन जहाज लेकर पुर्तगाल से आफ्रिका की परिक्रमा करता हुआ मलबार के कालीकट नामक बंदरगाह में पहुंच गया। वहां के राजा ने उसे व्यापार करने की आज्ञा दे दी, परन्तु मुसलमान व्यापारियों (अरबों) ने राजा को बहकाकर पुर्तगालवालों के साथ उसकी अनबन करा दी, जिससे वास्कोडिगामा अपने देश को लौट गया। इसपर पुर्तगाल के बादशाह ने पेड्रो केब्रल नामक सेनापति की अध्यक्षता में १२०० सैनिकों सहित तेरह जहाज़ कालीकट भेजे। केब्रल को व्यापार के लिए कोठी बनाने की आज्ञा राजा की तरफ़ से मिल गई, किंतु मुसलमानों के साथ उसका द्वेष यहां तक बढ़ा कि वह कोठी उड़ा दी गई और केब्रल ने मुसलमानों के दस जहाज़ लूटकर उनको जला दिया। इससे पुर्तगालवालों को यह निश्चय हो गया कि हिन्दुस्तान में व्यापार की उन्नति सैनिक बल से ही हो सकती है। इस प्रकार हिन्दुस्तान का जल-मार्ग ज्ञात हो जाने से डच, फ्रेंच, अंग्रेज़ आदि व्यापारियों के लिए भारतीय व्यापार का मार्ग खुल गया।

ई० स० १६०२ (वि० सं० १६५९) में हिन्दुस्तान के व्यापार के लिये 'डच ईस्ट इंडिया कम्पनी' बनी और ५० वर्ष के भीतर ही इस कंपनी ने हिन्दुस्तान, सीलोन (लंका), सुमात्रा, ईरान की खाड़ी और लाल समुद्र आदि के कई स्थानों में अपनी कोठियां बना लीं और कुछ समय तक उनकी उन्नति होती रही।

फ्रेंच लोगों ने भी हिन्दुस्तान में व्यापार करने के लिए कंपनी स्थापित की। तदनन्तर चार कंपनियां और बनीं तथा अन्त में वे पांचों मिलकर एक कम्पनी हो गई। फ्रेंचों को कुछ समय बाद कलकत्ते के पास चंद्र-नगर मिल गया और दक्षिण में इनका ज़ोर बढ़ता गया, जिससे वे अपने पीछे आनेवाले अंग्रेज़ों के प्रतिद्वंद्वी बन गये।

ई० स० १६०० (वि० सं० १६५७) में इंगलिस्तान में भी 'ईस्ट

इंडिया कंपनी' बनी, जिसने वहां की महाराणी एलिज़ाबेथ से इस आशय की सनद प्राप्त की कि इस कंपनी की आज्ञा के बिना इंगलिस्तान का कोई भी पुरुष पूर्वी देशों में व्यापार न करे। ई० स० १६०६ (वि० सं० १६६६) में सर हेनरी मिडल्टन तीन जहाज़ लेकर सूरत में आया, परन्तु वहां के हाकिम से अनबन हो जाने के कारण उसको वहां कोठी खोलने की आज्ञा न मिली। तब कप्तान हॉकिन्स इंग्लैंड के बादशाह जेम्स (प्रथम) और ईस्ट इंडिया कंपनी की तरफ़ से वकील के तौर पर दिल्ली के बादशाह जहांगीर के पास पहुंचा। ई० स० १६१३ (वि० सं० १६७०) में हेनरी मिडल्टन को सूरत, घोघा, खंभात और अहमदाबाद में व्यापार करने की आज्ञा मिली। सूरत की कोठी के निरीक्षण में अजमेर में भी अंग्रेज़ों की कोठी खुली। ई० स० १६१५ (वि० सं० १६७२) में इंगलिस्तान के बादशाह की तरफ़ से सर टॉमस रो जहांगीर के दरबार में वकील बनकर आया और उसके द्वारा बादशाही मुल्क में व्यापार करने का मार्ग किसी प्रकार खुल गया। फिर मछलीपट्टन, आरगांव (कोरोमंडल के किनारे) आदि स्थानों में भी कोठियां खुलीं और ई० स० १६३६ (वि० सं० १६६६) में अंग्रेज़ों ने चंद्रगिरि के राजा से भूमि मोल लेकर मद्रास बसाया और पास ही संट जॉर्ज नामक क़िला बनाया। ई० स० १६३३ (वि० सं० १६६०) में राल्फ़ कार्टराइट ने बंगाल में सर्वप्रथम हरिहरपुर और बालासोर आदि स्थानों में कोठियां स्थापित कीं और डाक्टर गेब्रियल वाग्टन् के प्रयत्न से ई० स० १६५१ (वि० सं० १७०८) में अंग्रेज़ हुगली जैसे व्यापारिक स्थान में जम गये। ई० स० १६६८ (वि० सं० १७२५) में इंग्लैंड के बादशाह चार्ल्स (दूसरा) ने बंबई का टापू, जो उसको पुर्तगालवालों से दहेज में मिला था, १०० रुपये वार्षिक पर कंपनी को दे दिया। कंपनी ने इस टापू को पश्चिमी हिन्दुस्तान में अपने व्यापार का मुख्य स्थान बनाया। इसके बाद कलकत्ते को विशेष रूप से आबाद कर अंग्रेज़ों ने वहां फ़ोर्ट विलियम नामक क़िला बनाया। ई० स० १७१५ (वि० सं० १७७२) में कलकत्ते के प्रेसिडेण्ट ने

दो अंग्रेज़ वकीलों को दिल्ली के बादशाह फर्रुखसियर के पास भेजा। उस समय बादशाह बीमार था, जिसको उन वकीलों के साथ के डाक्टर ने आराम किया। इससे प्रसन्न होकर बादशाह ने डाक्टर से कहा कि जो तुम्हारी इच्छा हो वह मांगो। इसपर उस देशभक्त डाक्टर ने अपने लिए कुछ न मांगा और कंपनी का लाभ विचार कर दो बातों की याचना की अर्थात् एक तो कंपनी को बंगाल में ३८ गांव खरीदने की आज्ञा मिले और दूसरी यह कि जो माल कलकत्ते के प्रेसिडेंट के हस्ताक्षर से रवाना हो उसका महसूल न लिया जाय। बादशाह ने ये दोनों बातें स्वीकार कर लीं, परन्तु बंगाल के सूबेदार ने ज़मींदारों को रोक दिया, जिससे ज़मींदारी तो हाथ न लगी, किन्तु महसूल माफ़ हो गया।

बादशाह औरंगज़ेब का देहान्त होने पर दक्षिण के प्रदेश स्वतंत्र हो गये। निज़ामुल्मुल्क हैदराबाद का स्वामी बना और कर्नाटक का नव्वाब हैदराबाद की अधीनता में राज्य करने लगा। ई० स० १६७४ (वि० सं० १७३१) से ही पाँडिचेरी पर फ्रेंचों का अधिकार चला आता था। जब यूरोप में अंग्रेज़ और फ्रेंचों के बीच लड़ाई छिड़ी तो ई० स० १७४६ (वि० सं० १८०३) में फ्रेंच लोगों ने पाँडिचेरी से फ़ौज लेजाकर मद्रास को घेरा तथा नगर को अंग्रेज़ों से खाली करवा लिया। क्लाइव आदि अंग्रेज़ वहां से निकलकर फ़ोर्ट सेंट डेविड में जा ठहरे। फ्रांस और इंग्लैंड के बीच ई० स० १७४८ (वि० सं० १८०५) में संधि होने पर मद्रास पुनः अंग्रेज़ों को मिल गया। भारत के फ्रेंच स्थानों का गवर्नर डुपले फ्रेंच-राज्य की जड़ दक्षिण भारत में जमाकर अंग्रेज़ों को वहां से निकालना चाहता था। उधर तंजोर के बालक राजा प्रतापसिंह को उसका भाई शाहूजी वहां से अलग करना चाहता था। उसने इसके लिए देवीकोटे का इलाक़ा देना स्वीकार कर अंग्रेज़ों से मदद चाही तो क्लाइव ने सहायता देकर शाहूजी को तंजोर का स्वामी बना दिया। इस प्रकार देवीकोटे का इलाक़ा अंग्रेज़ों के हाथ आया। जब दक्षिण के सूबेदार आसिफ़जाह की मृत्यु हुई तब उसके बेटे-पोते राज्य के लिए लड़ने लगे। डुपले ने उसके पोते

मुज़फ़्फ़रजंग को गद्दी पर बिठाकर कृष्णा नदी से कन्याकुमारी तक का देश उससे ले लिया। इसी तरह जब आरकट की गद्दी के लिए झगड़ा होने लगा तो डुपले ने चंदा साहब को वहां की गद्दी पर बिठला दिया, परन्तु अंग्रेज़ों ने चंदा साहब के विरोधी मुहम्मदअली (वालाजाह) की सहायता कर आरकट ले लिया और कुछ समय तक लड़ाई रहने के बाद उसको आरकट का नवाब बना दिया। इस प्रकार दक्षिण भारत में अंग्रेज़ और फ्रेंच देशी राजाओं की सहायता कर अपना अपना स्वार्थ सिद्ध करने लगे। फ्रेंचों ने 'उत्तरी सरकार' पर अपना अधिकार जमाया, परन्तु फ्रांसवालों ने डुपले को बुला लिया, जिससे अंग्रेज़ों के लिए सुभीता हो गया। ई० स० १७६० (वि० सं० १८१७) में कर्नल (सर आयर) कूट ने वांडीवाश की लड़ाई में फ्रेंच जनरल लाली को परास्त कर जिंजी का क़िला ले लिया।

ई० स० १७५६ (वि० सं० १८१३) में बंगाल के नवाब अलीवर्दीख़ां के मरने पर उसके भतीजे का पुत्र सिराजुद्दौला बंगाल, बिहार और उड़ीसा का स्वामी बना। उसने अंग्रेज़ों से अप्रसन्न होकर क़ासिम बाज़ार की कोठी उनसे छीन ली और कलकत्ते के क़िले को जा घेरा। बहुत से अंग्रेज़ किश्तियों में बैठकर निकल भागे और शेष को उसने क़ैद कर लिया। इसकी सूचना मद्रास पहुंचने पर ६०० अंग्रेज़ और १५०० सिपाही लेकर क्लाइव कलकत्ते पहुंचा। सिराजुद्दौला बड़ी सेना सहित कलकत्ते पर चढ़ा और अन्त में सुलह हो गई, परन्तु सिराजुद्दौला फ्रेंचों को नौकर रखने लगा। इसपर अंग्रेज़ों ने अप्रसन्न होकर अलीवर्दीख़ां के बहनोई मीर जाफ़र को सिराजुद्दौला की गद्दी पर बैठाना चाहा। उसके साथ एक गुप्त अहद-नामा हुआ, जिसमें एक शर्त यह भी थी कि फ्रेंच लोग बंगाल से निकाल दिये जावें। फिर क्लाइव बड़ी सेना के साथ कलकत्ते से चला; उधर सिरा-जुद्दौला भी लड़ने को आया और पलासी के मैदान में ई० स० १७५७ (वि० सं० १८१४) में घोर युद्ध हुआ, जिसमें सिराजुद्दौला हारकर भागा। मीर जाफ़र उसके राज्य का स्वामी बनाया गया और क्लाइव कलकत्ते का गवर्नर नियत हुआ। इसी लड़ाई के समय से भारतवर्ष में अंग्रेज़ों के राज्य

का प्रारम्भ समझना चाहिये।

फिर मीर जाफ़र के दामाद मीर क़ासिम ने बर्दवान, मिदनापुर और चटगांव के ज़िले तथा कई लाख रुपये देना स्वीकार कर यह चाहा कि मीर जाफ़र के स्थान पर वह बंगाल का नवाब बनाया जाय, जिसपर अंग्रेज़ों ने वैसा ही किया। फिर महसूल के मामले में अंग्रेज़ों से अनबन होने पर मीर क़ासिम मुंगेर में जाकर रहने लगा। मिस्टर एलिस ने नवाब की कार्रवाई का घोर विरोध किया इसपर अत्यन्त क्रुद्ध होकर नवाब ने पटने में २०० अंग्रेज़ों को क़त्ल करवा दिया। तदनंतर कुछ लड़ाइयों में परास्त होकर मीर कासिम ने अवध में शरण ली और उसके स्थान पर वृद्ध मीर जाफ़र पुनः नवाब बनाया गया। ई० स० १७६५ (वि० सं० १८२१) में मीर जाफ़र का देहान्त होने पर उसका पुत्र नजमुद्दौला नाममात्र के लिए बंगाल का नवाब हुआ।

ई० स० १७६४ (वि० सं० १८२१) में बक्सर में मीर क़ासिम से अंग्रेज़ों का प्रसिद्ध युद्ध हुआ, जिसमें अवध का नवाब-वज़ीर शुजाउद्दौला उसका सहायक हुआ था। इस युद्ध में अंग्रेज़ों की विजय हुई और पलासी के युद्ध के बाद इतिहास में यही एक घटना ऐसी हुई, जिससे अंग्रेज़ों के राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के चिह्न भारत के अन्य राजाओं को स्पष्ट दीखने लगे। इस युद्ध के बाद ई० स० १७६५ (वि० सं० १८२२) में इलाहाबाद में संधि हुई। बादशाह शाहआलम को अवध के इलाहाबाद और कोड़ा ज़िले मिले और उसको २६००००० रुपये वार्षिक देना नियत हुआ। बदले में कम्पनी को शाहआलम से समस्त बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा की दीवानी मिली अर्थात् एक तरह से इन प्रदेशों पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया। इसी समय से शाहआलम इलाहाबाद में रहने लगा, परन्तु ई० स० १७७१ (वि० सं० १८२८) में सिंधिया के बुलाने पर उसने दिल्ली जाकर उसकी अधीनता में रहना स्वीकार कर लिया।

इस समय मरहटों का ज़ोर बहुत बढ़ रहा था और दिल्ली पर भी उनका प्रभाव पड़ा। शाहआलम नाममात्र का बादशाह रह गया। ई० स०

१७७१ (वि० सं० १८२८) में वॉरन हेस्टिंग्ज़ हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ी इलाक़े का गर्वनर होकर आया और दो वर्ष बाद वह गवर्नर-जनरल बना दिया गया। बादशाह के दिल्ली चले जाने के कारण वॉरन हेस्टिंग्ज़ ने इलाहाबाद और कोड़ा के इलाक़े अवध के नवाब शुजाउद्दौला के हाथ बेच दिये।

दक्षिण भारत में इस समय हैदरअली का बल बढ़ता जा रहा था। अंग्रेज़ों ने हैदरअली तथा उसके पुत्र टीपू सुलतान की ताक़त तोड़ने के लिए मरहटों और निज़ाम से मैत्री जोड़ी। हैदरअली और टीपू के साथ अंग्रेज़ों की चार लड़ाइयां हुईं। उन लड़ाइयों में भी अंगरेज़ों को कुछ न कुछ भूमि मिलती ही गई। ई० स० १७९९ (वि० सं० १८५५) में चौथी लड़ाई में टीपू लड़ता हुआ मारा गया और माइसोर का राज्य वहां के पुराने हिन्दू राजवंशियों को दे दिया गया।

जब लॉर्ड वेलेज़ली ई० स० १७९८ (वि० सं० १८५५) में ब्रिटिश भारत का गर्वनर-जनरल होकर आया तो उसने यह देखा कि उसके पूर्व के गवर्नर-जनरल सर जॉन शोर ने देशी राज्यों के मामलों में हस्ताक्षेप न करने की जिस नीति का अवलंबन किया था उससे अंग्रेज़ों के राज्य को लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक पहुंचेगी, क्योंकि इस समय तक अंग्रेज़ों ने भारत की इतनी भूमि पर अपना अधिकार जमा लिया था कि अब उनके लिए चुपचाप बैठे रहना सर्वथा असंभवसा था। इस गवर्नर-जनरल ने भारत के देशी राजाओं से संबंध जोड़ने के लिए एक नई नीति निकाली। उसके अनुसार राजाओं को कंपनी से अहदनामे करने पड़े और अपने अपने देश से फ्रेंच लोगों को निकालकर अंग्रेज़ी सेना रखनी पड़ी। उसका ख़र्च भी उन राजाओं को उठाना पड़ता था। यदि वे सेना के ख़र्च के रुपये न दे सकें तो उनको उसके बदले उतनी ही आय का कोई ज़िला कंपनी को देना पड़ता था। लॉर्ड वेलेज़ली ने देशी राजाओं से मैत्री करने की इस नीति का प्रयोग सर्वप्रथम ई० स० १७९८ में हैदराबाद के निज़ाम पर किया। ई० स० १७९५ (वि० सं० १८५२) में निज़ाम ने मरहटों के संयुक्त बल का सामना कुर्दला में किया, जिससे उसकी सेना का सर्वनाश होने के साथ ही उसका बल

भी बिल्कुल टूट गया। ऐसी कमज़ोर हालत होने से निज़ाम ने ई० स० १७९८ (वि० सं० १८५५) में गवर्नर-जनरल की सब शर्तें स्वीकार कर लीं और सेना के खर्च के बदले में अंग्रेज़ों को बिलारी और कुडप्पा के ज़िले दिये। उसी समय से आज तक निज़ाम सदैव अंग्रेज़ सरकार का मित्र बना हुआ है। इस प्रकार निज़ाम को अंग्रेज़ों ने अपने अधीन किया।

पेशवा बाजीराव ने लॉर्ड वेलेज़ली की सब शर्तें ई० स० १८०२ (वि० सं० १८५९) में बसीन की संधि से स्वीकार कर लीं और पेशवा का राज्य किस प्रकार अंग्रेज़ों के हाथ आया, यह ऊपर (पृ० ३२८) बतलाया जा चुका है। जब पेशवा बाजीराव ने अंग्रेज़ों से बसीन की संधि कर ली उस समय दौलतराव सिंधिया और राघोजी भोंसला (नागपुर का) अंग्रेज़ों से यह कहते हुए कि तुमने हमारे सिर से पगड़ी उतार ली है, बहुत क्रुद्ध हुए और लॉर्ड वेलेज़ली की शर्तों को अस्वीकार कर उन्होंने युद्ध का निश्चय कर लिया। अंग्रेज़ों की सेनाएं दो तरफ़ से भेजी गई थीं एक दक्षिण की तरफ़ से, जिसका सेनापति आर्थर वेलेज़ली था और दूसरी जनरल लेक की अध्यक्षता में उत्तर से भेजी गई थी। दक्षिण में आर्थर वेलेज़ली ने असई और अरगांव आदि स्थानों में विजय प्राप्त की और उत्तर भारत में जनरल लेक ने सिंधिया की फ्रेंच सेनापतियों-द्वारा तैयार की हुई सेना को तितर-बितर कर दिया। फिर उसने अलीगढ़ और अलवर राज्य के लसवारी गांव में सिंधिया की सेना से जमकर लड़ाइयां लड़ीं तथा दिल्ली और आगरे को ई० स० १८०३ (वि० सं० १८६०) में ले लिया। दिल्ली लेने पर बूढ़े शाहआलम ने अंग्रेज़ों की अधीनता स्वीकार कर ली और ई० स० १८०३ (वि० सं० १८६०) में सिंधिया और भोंसला ने भी क्रमशः सुरजी अर्जुनगांव तथा देवगांव में अंग्रेज़ों से संधियां कर लीं। सिंधिया ने जमना नदी से उत्तर का अपना समस्त राज्य, ग्वालियर का गढ़ तथा गोहद का इलाक़ा अंग्रेज़ों को दिया। देवगांव की संधि से अंग्रेज़ सरकार को कटक का प्रदेश मिला। इस प्रकार सिंधिया और भोंसला ने अंग्रेज़ों की अधीनता स्वीकार कर उनसे मैत्री जोड़ ली।

अब मरहटों में एक होल्कर (जसवंतराव) ही ऐसा रहा, जो पूर्ण स्वतन्त्रता धारण किये हुए अंग्रेज़ों की अधीनता से बाहर था। इस समय होल्कर का ज़ोर राजपूताना आदि प्रदेशों पर बढ़ रहा था और मरहटों में सबसे बलवान राजा वही रह गया था। होल्कर ने, जो इस समय तक मरहटों की लड़ाइयों से अलग ही रहा था, अंग्रेज़ों से युद्ध करने का विचार किया और इधर लॉर्ड वेलेज़ली ने भी उसके साथ लड़ाई छेड़ दी। गवर्नर-जनरल चाहता था कि होल्कर की सेना चारों ओर से घिर जाय, इसलिए जनरल लेक तो उत्तर में नियत किया गया, आर्थर वेलेज़ली को दक्षिण से बढ़ने की आज्ञा दी गई और कर्नल मरे गुजरात से होल्कर की सेना पर हमला करने को मुक़र्रर हुआ। लेक ने कर्नल मॉन्सन को कई सवारों सहित होल्कर की सेना को रोकने के लिए भेजा। मॉन्सन और मरे, इन दोनों सेनापतियों ने आज्ञा का यथेष्टरूप से पालन न कर लड़ाई के कार्य्य में उलटी गड़बड़ी मचा दी। राजपूताने में कोटे से तीस मील दक्षिण मुकुंद्रा के घाटे में कर्नल मॉन्सन की सेना ने बुरी तरह शिकस्त खाई और बची हुई सेना तितर-बितर होकर किसी प्रकार आगरे पहुंची। मॉन्सन की सेना को इस तरह पराजित हुई देखकर कंपनी के शत्रुवर्ग में हिम्मत बढ़ी और भरतपुर के जाट राजा रणजीतसिंह ने अंग्रेज़ों से मैत्री तोड़कर होल्कर को दिल्ली पर हमला करने में सहायता दी, परन्तु ऑक्टरलोनी और बर्न नामक दो अंग्रेज़ सेनापतियों ने नौ दिन तक वहां के क़िले की रक्षा की तथा आक्रमणकारियों को पीछा लौटना पड़ा। ता० १३ नवम्बर ईस्वी सन् १८०४ (वि० सं० १८६१ कार्तिक सुदि ११) को डीग के युद्ध में होल्कर की पराजय हुई और दूसरे महीने में १०० तोपों सहित डीग का दुर्ग अंग्रेज़ों के हाथ में चला गया। इसके बाद ई० स० १८०५ (वि० सं० १८६२) के प्रारंभ में जनरल लेक ने भरतपुर के दुर्ग पर घेरा डाला। सुयोग्य सेना से भलीभांति रक्षित होने के कारण जनरल लेक के चार बार आक्रमण करने पर भी यह क़िला न लिया जा सका और अंग्रेज़ों की तरफ़ ३००० से अधिक मनुष्यों की हानि हुई। अन्त में भरतपुर का राजा भी थक गया था इसलिए उसने बीस लाख

रुपये हरजाने के देकर अंग्रेज़ों की अधीनता स्वीकार कर ली।

इसी बीच में लॉर्ड वेलेज़ली इंग्लैंड चला गया और नये गवर्नर-जनरल लॉर्ड कॉर्नवालिस का भारत में आने के कुछ ही महीने बाद देहान्त हो जाने पर सर जार्ज बार्लो गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ। इस समय जनरल लेक ने होल्कर का एक स्थान से दूसरे स्थान पर पीछा करते हुए उसको व्यास नदी के तट पर भगा दिया और दिसंबर सन् १८०५ (वि० सं० १८६२) में इसी नदी पर के राजपुरघाट नामक स्थान में अंग्रेज़ों से उसकी संधि हुई। अंग्रेज़ सरकार और होल्कर के साथ यह प्रथम संधि थी। इस संधि के अनुसार होल्कर को राजपूताने के कुछ इलाक़े छोड़ने पड़े। इधर सर जॉर्ज बार्लो ने इस बात पर ज़ोर दिया कि होल्कर का बल किसी प्रकार न तोड़ा जाय और उसको इस बात का यक़ीन दिलाया कि वह अपने इच्छानुसार राजपूत रियासतों में लूटमार कर उनसे कर आदि ले सके। इस प्रकार होल्कर को अधीन करने का कार्य्य अपूर्ण ही रहा। फिर ई० स० १८११ (वि० सं० १८६८) में जसवन्तराव होल्कर का देहान्त हुआ और उसकी मृत्यु के बाद उसके राज्य की दशा बिगड़ने लगी। राज्यसत्ता लूटमार करनेवाले लोगों के हाथ में चली गई तथा उन सब पर उसकी स्त्री (तुलसीबाई) का शासन हुआ। ई० स० १८१७ (वि० सं० १८७४) में पेशवा से अंग्रेज़ों का युद्ध छिड़ जाने पर इन्दौर दरबार ने भी अपना रुख़ बदला। सर थॉमस हिस्लोप ने महीदपुर में इंदौर की सेना को हराया और होल्कर ने विवश ता० ६ जनवरी ई० स० १८१८ (वि० सं० १८७४ पौष वदि ३०) को मंदसोर में अंग्रेज़ों से संधि कर ली, जिसके अनुसार आज तक अंग्रेज़ सरकार और इन्दौर के बीच संबंध चल रहा है।

ई० स० १८०५ (वि० सं० १८६२) में लॉर्ड कॉर्नवालिस की नीति के अनुसार गोहद और ग्वालियर सिंधिया को पुनः दे दिये गये और चंबल नदी उसके राज्य की उत्तरी सीमा मानी गई। राजपूताने के राज्यों में किसी प्रकार हस्तक्षेप न करने का भी अंग्रेज़ी सरकार ने इक़रार किया, इसलिए अंग्रेज़ सरकार से इन राज्यों की संधि होने तक यह देश

मरहटों के अन्याय और अत्याचार का घर बना रहा। जब मरहटों को उत्तर, दक्षिण और दूसरी दिशाओं में भी कहीं अंग्रेज़ी फ़ौज ने दम न लेने दिया तब उन्होंने राजपूताने में अपना पड़ाव डाला और यहीं रहकर वे इस देश को लूटने तथा दूसरे देशों में भी छापे मारने लगे। पिंडारियों के सरदार अमीरख़ां पठान ने भी, जिसको जसवन्तराव होलकर ने अपनी सेवा में रखकर उसके द्वारा लूटमार का बाज़ार गरम करवाया था, मारवाड़ के राज्य में अपनी छावनी डाल दी। इसी प्रकार सिंधिया के नायब आंबाजी इंग्लिया ने मेवाड़ में अपना सदर मुक़ाम स्थापित किया और पिंडारियों के दल चारों ओर लूटमार करते हुए फिरने लगे। ई० स० १८१६ (वि० सं० १८७३) में अंग्रेज़ों ने पिंडारियों का उपद्रव शान्त करने के लिए सिंधिया से मदद चाही और उसने ई० स० १८१७ (वि० सं० १८७४) में एक नया अहदनामा कर अजमेर का इलाक़ा अंग्रेज़ सरकार के सुपुर्द कर दिया। उस समय राजपूताने की दशा बहुत ही बिगड़ी हुई थी, जिससे यहां के रईसों ने देखा कि अब अंग्रेज़ सरकार की शरण लिए बिना इन लुटेरों से पिंड छुड़ाना दुश्वार है और साथ ही अंग्रेज़ों ने भी जान लिया कि देश से इन डाकूदलों का उपद्रव मिटाकर देशी राज्यों की सहायता करनी आवश्यक है और उनसे संधि किये बिना सुख-शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। अतएव ई० स० १८११ में दिल्ली के रेज़िडेंट सर चार्ल्स मेटकाफ़ ने अपनी सरकार से इस विषय में मंजूरी लेकर अंग्रेज़ी फ़ौज राजपूताने में भेजने का निश्चय कर लिया। ई० स० १८१७ व १८१८ (वि० सं० १८७४ व १८७५) में कई राज्य अहदनामे के अनुसार अंग्रेज़ों की रक्षा में आ गये। मरहटों ने राजपूताने के राजाओं से जो इलाक़े ज़बरदस्ती छीन लिये थे उनमें से बहुतसे उनको पीछे लौटा दिये गये। राजाओं तथा सामन्तों के पारस्परिक झगड़े भी मिटा दिये गये और देश में शांति स्थापित हो जाने से राजपूताने के उजड़े हुए घर पुनः बसे[1]। खेती-बारी तथा व्यापार की प्रतिदिन

(१) जोधपुर का रेज़िडेन्ट कर्नल पाउलेट बड़ा लोकप्रिय और मिलनसार सज्जन था। एक बार दौरा करता हुआ वह एक किसान के खेत पर पहुंचा और उसकी

उन्नति होने से राज्यों की वार्षिक आय बढ़ने लगी और प्रजा की आर्थिक दशा सुधरने लगी। राजपूताने में पिछले सैंकड़ों वर्षों से शिक्षा का प्रायः अभावसा हो गया था और देश के कला-कौशल भी नष्ट हो गये थे, परन्तु अब सैंकड़ों स्कूल तथा अनेक कॉलेज बन जाने से सहस्रों छात्र वहां विद्याध्ययन करते हैं। धन एवं प्राणों की रक्षा के भी सभी साधन उपस्थित हैं। मार्ग में ठग, चोर और डाकुओं का भय भी जाता रहा है। रेल भी मीलों तक फैल गई है और शिक्षा के प्रभाव से लोगों के हृदय में अपनी आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक दशा सुधारने के उन्नत भाव भी जाग्रत होते जाते हैं।

सिंहावलोकन

इस इतिहास के पहले चार अध्याय सारे राजपूताने से संबंध रखते हैं। उनमें राजपूताने का भूगोलसंबंधी वृत्तान्त संक्षिप्त रूप में लिखने के उपरान्त राजपूत जाति को क्षत्रिय न माननेवाले विद्वानों की तद्विषयक दलीलों की जांचकर सप्रमाण यह बतलाया गया है कि जो आर्य क्षत्रिय लोग हज़ारों वर्ष पूर्व भारतभूमि पर शासन करते थे उन्हीं के वंशधर आजकल के राजपूत हैं। आर्य क्षत्रिय जाति के राज्य भारत में ही नहीं, किंतु सारे मध्य और पश्चिमी एशिया में तथा उससे परे, एवं पूर्व में भी

खटिया पर बैठकर बड़ी प्रीति से उससे पूछने लगा कि कहो भाई! तुम लोग मरहटों के राज्य में सुखी थे या अब अंग्रेज़ सरकार के राज्य में सुखी हो। किसान ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया कि हुज़ूर, और सब तरह से तो अब सुख है, परन्तु मरहटों के समय में एक बात से हम बहुत सुखी थे। चकित होकर उक्त कर्नल ने पूछा कि पटेल! वह कौनसी बात है। उसने उत्तर में कहा कि मरहटों के समय उनके दल ५-७ वर्षों में एक बार लूटमार के लिए आ जाया करते थे और धन के लोभ से गांवों में महाजनों के घर लूटने के उपरान्त वे उनमें आग भी लगा देते थे, जिससे उनके बहीखाते आदि जलकर नष्ट हो जाते और उस समय तक के उनके ऋण से हम लोग सहज ही मुक्त हो जाते थे, परन्तु अब तो वे महाजन पुश्तों तक हमारा पीछा नहीं छोड़ते हैं। जोधपुर के महामहोपाध्याय कविराजा मुरारिदान (स्वर्गवासी) ने, जो कर्नल पाउलेट के मित्रवर्ग में से था, यह बात मुझसे कही थी।

स्थापित हुए थे और वहां भी आर्य-सभ्यता का प्रचार था। वही आर्य क्षत्रिय जाति महाभारत से पूर्व तथा उसके पीछे आज तक राजपूताने पर शासन करती रही है। समय के परिवर्तन और देशकालानुसार राजपूतों के रहन-सहन और रीति-रिवाजों में कुछ अंतर पड़ना बिल्कुल स्वाभाविक बात है, तो भी उनमें आर्यों के बहुत से प्राचीन रीति-रिवाज अब तक पाये जाते हैं। उनकी प्राचीन शासनपद्धति, युद्ध-प्रणाली, स्वामिभक्ति एवं वीरता के परिचय के साथ ही यह भी दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि राजपूत जाति में स्त्रियों का कितना आदर होता था और वे वीरपत्नी तथा वीरमाता कहलाने में ही अपना गौरव मानती थीं। उन वीरांगनाओं के पातिव्रत धर्म, शूरवीरता और साहस आदि का भी कुछ उल्लेख कर राजपूत जाति के अधःपतन के मुख्य-मुख्य कारण बतलाये गये हैं।

तदुपरान्त वर्तमान समय में राजपूताने पर राज्य करनेवाले क्षत्रिय राजवंशों को छोड़कर जिन-जिन राजवंशों का संबंध पहले इस देश के साथ रहा उनका बहुत ही संक्षिप्त परिचय दिया गया है, जिससे पाठकों को विदित हो जाय कि सिकंदर तथा उसके यूनानी साथी भारत में कैसे आये और मौर्यवंशी महाराज चंद्रगुप्त ने उनको यहां से कैसे निकाला। शक, कुशन और हूण नामक मध्य एशिया की आर्य जातियों का आगमन यहां कैसे हुआ और उनके साथ यहां के क्षत्रिय राजवंशियों का वर्ताव किस ढंग का रहा। गुप्तवंशियों का प्रताप किस प्रकार बढ़ा; श्रीहर्ष (हर्षवर्द्धन) ने अपना साम्राज्य कैसे स्थापित किया; राजपूताने के भीनमाल नगर के प्रतिहार राजपूतों ने कन्नौज का साम्राज्य विजय कर भारत के सुदूरवर्ती प्रदेशों में कहां तक अपने राज्य का विस्तार बढ़ाया और राजपूताने से ही जाकर आबू के परमारों ने मालवे में अपना साम्राज्य किस प्रकार स्थापित किया, इत्यादि। उन राजवंशों का परिचय देते हुए यह भी दिखलाया गया है कि राजपूत जाति अपना प्राचीन इतिहास यहां तक भूल गई कि भाटों ने अपनी पुस्तकों में यहां के राजाओं के मनमाने कृत्रिम नाम और झूठे संवत् भी धर दिये। जहां तक हो सका उन राजवंशों की वंशावलियां

शुद्ध कर कितने ही राजाओं के निश्चित संवत् भी, जो प्राचीन शोध से ज्ञात हुए, दिये गये हैं।

तदनन्तर अनेक देवी-देवताओं को माननेवाली अरब की विभिन्न जातियों में एकेश्वरवादी इस्लाम धर्म की उत्पत्ति और प्रचार होकर एक ही धर्म एवं जातीयता के सूत्र में बंधी हुई मुसलमान जाति ने—क्रमशः अपना बल बढ़ाकर बड़े-बड़े प्राचीन राज्यों तथा वहां की सभ्यता को नष्ट करते और उन देशों में बलात् अपना धर्म फैलाते हुए—कितने थोड़े समय में भारत पर आक्रमण किया; फिर यहां के राजाओं को, जिनमें परस्पर की फूट और ईर्षा ने घर कर रक्खा था, परास्त कर राजपूताने में मुसलमानों ने किस तरह अपना आधिपत्य जमाया, इसका बहुत ही संक्षिप्त वृत्तान्त दिया गया है। मुसलमानों के अधःपतन के पीछे मरहटों के उदय और राजपूताने में उनका प्रवेश होने पर यहां किये जानेवाले उनके अत्याचारों का दिग्दर्शनमात्र कराकर, इंग्लैंड जैसे सुदूर देश से भारत में व्यापार के निमित्त आई हुई बुद्धिमान् और नीतिनिपुण अंग्रेज़ जाति ने किस प्रकार अपने राज्य की नींव इस देश में डाली उसका थोड़ासा परिचय दिया गया है। कई लड़ाइयां लड़ने के पश्चात् अंग्रेज़ों ने दिल्ली के राज्य को अपने हस्तगत किया और मरहटों के अत्याचारों से बहुत ही तंग आकर राजपूताने के समस्त राज्यों ने अंग्रेज़ सरकार से अहदनामे कर उसकी शरण ली, जिससे राजपूताने में शान्ति की स्थापना हुई।

परिशिष्ट-संख्या १

क्षत्रियों के गोत्र

ब्राह्मणों के गौतम, भारद्वाज, वत्स आदि अनेक गोत्र (ऋषिगोत्र) मिलते हैं, जो उन(ब्राह्मणों)का उक्त ऋषियों के वंशज होना प्रकट करते हैं। ब्राह्मणों के समान क्षत्रियों के भी अनेक गोत्र उनके शिलालेखादि में मिलते हैं, जैसे कि चालुक्यों (सोलंकियों) का मानव्य, चौहानों का वत्स, परमारों का वसिष्ठ, वाकाटकों का विष्णुवर्द्धन आदि। क्षत्रियों के गोत्र किस बात के सूचक हैं, इस विषय में मैंने हिन्दी टॉड-राजस्थान के सातवें प्रकरण पर टिप्पण करते समय प्रसंगवशात् वाकाटक वंश का परिचय देते हुए लिखा था—"वाकाटक वंशियों के दानपत्रों में उनका विष्णुवर्द्धन गोत्र होना लिखा है। बौद्धायन-प्रणीत 'गोत्रप्रवर-निर्णय' के अनुसार विष्णुवर्द्धन गोत्रवालों का महर्षि भरद्वाज के वंश में होना पाया जाता है, परन्तु प्राचीन काल में राजाओं का गोत्र वही माना जाता था, जो उनके पुरोहित का होता था। अतएव विष्णुवर्द्धन गोत्र से अभिप्राय इतना ही होना चाहिये कि उस वंश के राजाओं के पुरोहित विष्णुवर्द्धन गोत्र के ब्राह्मण थे[1]।" कई वर्षों तक मेरे उक्त कथन के विरुद्ध किसी ने कुछ भी नहीं लिखा, परन्तु अब उस विषय की चर्चा खड़ी हुई है, जिससे उसका स्पष्टीकरण करना आवश्यक प्रतीत होता है।

श्रीयुत चिन्तामणि विनायक वैद्य एम्० ए०, एल्० एल्० बी०, के नाम और उनकी 'महाभारत-मीमांसा' पुस्तक से हिन्दीप्रेमी परिचित ही हैं। वैद्य महाशय इतिहास के भी प्रेमी हैं। उन्होंने ईस्वी सन् १९२३ में 'मध्ययुगीन भारत, भाग दूसरा' नाम की मराठी पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें हिन्दू राज्यों का उत्कर्ष अर्थात् राजपूतों का प्रारम्भिक (अनुमानतः ईस्वी सन् ७५० से १००० तक का) इतिहास लिखने का यत्न किया है।

---

(१) खड्गविलास प्रेस (बाँकीपुर) का छपा 'हिन्दी टॉड-राजस्थान,' खंड १, पृ० ४३०—३१।

वैद्य महाशय ने उक्त पुस्तक में 'राजपूतों के गोत्र' तथा 'गोत्र और प्रवर,' इन दो लेखों में यह बतलाने का यत्न किया है कि क्षत्रियों के गोत्र वास्तव में उनके मूलपुरुषों के सूचक हैं, पुरोहितों के नहीं, और पहले क्षत्रिय लोग ऐसा ही मानते थे (पृ० ६१) अर्थात् भिन्न भिन्न क्षत्रिय वास्तव में उन ब्राह्मणों की संतति हैं, जिनके गोत्र वे धारण करते हैं।

अब इस विषय की जाँच करना आवश्यक है कि क्षत्रियों के गोत्र वास्तव में उनके मूलपुरुषों के सूचक हैं अथवा उनके पुरोहितों के, जो उनके संस्कार करते और उनको वेदादि शास्त्रों का अध्ययन कराते थे।

याज्ञवल्क्य-स्मृति के आचाराध्याय के विवाह-प्रकरण में, कैसी कन्या के साथ विवाह करना चाहिये, यह बतलाने के लिए नीचे लिखा श्लोक दिया है—

अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजां।
पंचमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा ॥ ५३ ॥

आशय—जो कन्या अरोगिणी, भाईवाली, भिन्न ऋषि-गोत्र की हो और (वर का) माता की तरफ़ से पांच पीढ़ी तक तथा पिता की तरफ़ से सात पीढ़ी तक का जिससे सम्बन्ध न हो, उससे विवाह करना चाहिये।

वि० सं० ११३३ (ई० स० १०७६) और ११८३ (ई० स० ११२६) के बीच दक्षिण (कल्याण) के चालुक्य (सोलंकी) राजा विक्रमादित्य (छठा) के दरबार के पंडित विज्ञानेश्वर ने 'याज्ञवल्क्यस्मृति' पर 'मिताक्षरा' नाम की विस्तृत टीका लिखी, जिसका अब तक विद्वानों में बड़ा सम्मान है और जो सरकारी न्यायालयों में भी प्रमाण रूप मानी जाती है। उक्त टीका में, ऊपर उद्धृत किये हुए श्लोक के 'असमानार्षगोत्रजां' चरण का अर्थ बतलाते हुए, विज्ञानेश्वर ने लिखा है कि 'राजन्य (क्षत्रिय) और वैश्यों ने अपने गोत्र (ऋषिगोत्र) और प्रवरों का अभाव होने के कारण उनके गोत्र और प्रवर पुरोहितों के गोत्र और प्रवर[1] समझने

(१) प्रत्येक ऋषिगोत्र के साथ बहुधा तीन या पांच प्रवर होते हैं, जो उक्त गोत्र (वंश) में होनेवाले प्रवर (परम प्रसिद्ध) पुरुषों के सूचक होते हैं। कश्मीरी पण्डित जयानक अपने 'पृथ्वीराजविजय महाकाव्य' में लिखता है—

चाहिये[1]।' साथ ही उक्त कथन की पुष्टि में आश्वलायन का मत उद्‌धृत करके बतलाया जाता है कि राजाओं और वैश्यों के गोत्र वही मानने चाहियें, जो उनके पुरोहितों के हों[2]। मिताक्षरा के उक्त अर्थ के विषय में श्रीयुत वैद्य का कथन है कि मिताक्षराकार ने यहां गलती की है, इसमें हमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है (पृ० ६०)। मिताक्षरा के बनने से पूर्व क्षत्रियों के स्वतः के गोत्र थे (पृ० ६१)। इस कथन का आशय यही है कि मिताक्षरा के बनने के पीछे क्षत्रियों के गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्रों के सूचक हुए हैं, ऐसा माना जाने लगा, पहले ऐसा नहीं था।

अब हमें यह निश्चय करने की आवश्यकता है कि मिताक्षरा के बनने से पूर्व क्षत्रियों के गोत्र के विषय में क्या माना जाता था। वि० सं०

काकुत्स्थमिक्ष्वाकुरघूंश्च यद्दधत्पुराभवत्त्रिप्रवरं रघोः कुलम्।
कलावपि प्राप्य स चाहमानतां प्ररूढतुर्यप्रवरं बभूव तत्॥ २। ७१॥

आशय—रघु का वंश (सूर्यवंश), जो पहले (कृतयुग में)—काकुत्स्थ, इक्ष्वाकु और रघु—इन तीन प्रवरोंवाला था, वह कलियुग में चाहमान (चौहान) को पाकर चार प्रवरवाला हो गया।

(१) राजन्यविशां प्रातिस्विकगोत्राभावात् प्रवराभावस्तथापि पुरोहित-गोत्रप्रवरौ वेदितव्यौ। (मिताक्षरा; पृ० १४)।

(२) तथा च यजमानस्यार्षेयान् प्रवृणीत इत्युक्त्वा पौरोहित्यान् राजविशां प्रवृणीते इत्याश्वलायनः। (वही; पृ० १४)।

यही मत बौधायन, आपस्तंब और लौगाक्षी का है (पुरोहितप्रवरो राज्ञाम्)—देखो 'गोत्रप्रवरनिबंधकदंबम्'; पृ० ६०।

बुंदेले राजा वीरसिंहदेव (बरसिंहदेव) के समय मित्रमिश्र ने 'वीरमित्रोदय' नामक ग्रंथ लिखा, जिसमें भी क्षत्रियों के गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्रों के सूचक माने हैं—

तत्र द्विविधाः क्षत्रियाः केचिद्विद्यमानमंत्रदृशः। केचिदविद्यमानमंत्रदृशः। तत्र विद्यमानमंत्रदृशः स्वीयानेव प्रवरान्प्रवृणीरन्। येत्वविद्यमानमंत्रदृशस्ते पुरोहितप्रवरान् प्रवृणीरन्। स्वीयवरत्वेपि स्वस्य पुरोहितगोत्रप्रवरपक्ष एव मिताक्षराकारमेधातिथिप्रभृतिभिराश्रितः।

वीरमित्रोदय; संस्कारप्रकाश, पृ० ६५६।

की दूसरी शताब्दी के प्रारम्भ में अश्वघोष नामक प्रसिद्ध विद्वान् और कवि हुआ, जो पहले ब्राह्मण था, परन्तु पीछे से बौद्ध हो गया था। वह कुशनवंशी राजा कनिष्क का धर्मसंबन्धी सलाहकार था, ऐसा माना जाता है। उसके 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' काव्य कविता की दृष्टि से बड़े ही उत्कृष्ट समझे जाते हैं। उसकी प्रभावोत्पादिनी कविता सरलता और सरसता में कवि-शिरोमणि कालिदास की कविता के जैसी ही है। यदि कालिदास की समता का पद किसी कवि को दिया जाय तो उसके लिए अश्वघोष ही उपयुक्त पात्र हो सकता है। उसको ब्राह्मणों के शास्त्रों तथा पुराणों का ज्ञान भी अनुपम था, जैसा कि उसके उक्त काव्यों से पाया जाता है। सौंदरनन्द काव्य के प्रथम सर्ग में उसने क्षत्रियों के गोत्रों के संबंध में जो विस्तृत विवेचन किया है, उसका सारांश नीचे दिया जाता है—

"गौतम गोत्री कपिल नामक तपस्वी मुनि अपने माहात्म्य के कारण दीर्घतपस् के समान और अपनी बुद्धि के कारण काव्य (शुक्र) तथा अंगिरस के समान था। उसका आश्रम हिमालय के पार्श्व में था। कई इक्ष्वाकु वंशी राजपुत्र मातृद्वेष के कारण और अपने पिता के सत्य की रक्षा के निमित्त राजलक्ष्मी का परित्याग कर उस आश्रम में जा रहे। कपिल उनका उपाध्याय (गुरु) हुआ, जिससे वे राजकुमार, जो पहले कौत्स-गोत्री थे, अब अपने गुरु के गोत्र के अनुसार गौतम-गोत्री कहलाये। एक ही पिता के पुत्र भिन्न भिन्न गुरुओं के कारण भिन्न भिन्न गोत्र के हो जाते हैं, जैसे कि राम (बलराम) का गोत्र 'गार्ग्य' और वासुभद्र (कृष्ण) का 'गौतम' हुआ। जिस आश्रम में उन राजपुत्रों ने निवास किया, वह 'शाक' नामक वृक्षों से आच्छादित होने के कारण वे इक्ष्वाकुवंशी 'शाक्य' नाम से प्रसिद्ध हुए। गौतमगोत्री कपिल ने अपने वंश की प्रथा के अनुसार उन राजपुत्रों के संस्कार किये और उक्त मुनि तथा उन क्षत्रिय-पुंगव राजपुत्रों के कारण उस आश्रम ने एक साथ 'ब्रह्मक्षत्र' की शोभा धारण की'[1]।"

---

(१) गोतमः कपिलो नाम मुनिर्धर्म्मभृतां वरः ।
बभूव तपसि श्रान्तः कक्षीवानिव गौतमः ॥ १ ॥

अश्वघोष का यह कथन मिताक्षरा के बनने से १००० वर्ष से भी अधिक पूर्व का है; अतएव श्रीयुत वैद्य के ये कथन कि 'मिताक्षराकार ने गलती की है,' और 'मिताक्षरा के पूर्व क्षत्रियों के स्वतः के गोत्र थे', सर्वथा मानने योग्य नहीं है। क्षत्रियों के गोत्रों को देखकर यह मानना कि ये क्षत्रिय उन ऋषियों (ब्राह्मणों) के वंशधर हैं, जिनके गोत्र वे धारण करते हैं, सरासर भ्रम ही है। पुराणों से यह तो पाया जाता है कि अनेक क्षत्रिय ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए और उनसे कुछ ब्राह्मणों के गोत्र चले', परन्तु उनमें यह कहीं लिखा नहीं मिलता कि क्षत्रिय ब्राह्मणों के वंशधर हैं।

माहात्म्यात् दीर्घतपसो यो द्वितीय इवाभवत्।
तृतीय इव यश्चाभूत् काव्याङ्गिरसयोर्धिया ॥ ४ ॥
तस्य विस्तीर्णतपसः पार्श्वे हिमवतः शुभे।
क्षेत्रं चायतनञ्चैव तपसामाश्रयोऽभवत् ॥ ५ ॥
अथ तेजस्विसदनं तपःक्षेत्रं तमाश्रमम्।
केचिदिक्ष्वाकवो जग्मू राजपुत्रा विवत्सवः ॥ १८ ॥
मातृशुल्कादुपगतां ते श्रियं न विषेहिरे।
ररक्षुश्च पितुः सत्यं यस्माच्छिश्रियिरे वनम् ॥ २१ ॥
तेषां मुनिरुपाध्यायो गोतमः कपिलोऽभवत्।
गुरोर्गोत्रादतः कौत्सास्ते भवन्ति स्म गौतमाः ॥ २२ ॥
एकपित्रोर्यथा भ्रात्रोः पृथग्गुरुपरिग्रहात्।
राम एवाभवत् गार्ग्यो वासुभद्रोऽपि गोतमः ॥ २३ ॥
शाकवृक्षप्रतिच्छन्नं वासं यस्माच्च चक्रिरे।
तस्मादिक्ष्वाकुवंश्यास्ते भुवि शाक्या इति स्मृताः ॥ २४ ॥
स तेषां गोतमश्चक्रे स्ववंशसदृशीः क्रियाः ।...॥ २५ ॥
तद्वनं मुनिना तेन तैश्च क्षत्रियपुङ्गवैः।
शान्तां गुप्ताञ्च युगपद् ब्रह्मक्षत्रश्रियं दधे ॥ २७ ॥

सौंदरनंद काव्य; सर्ग १।

(१) सूर्यवंशी राजा मांधाता के तीन पुत्र—पुरुकुत्स, अंबरीष और मुचकुंद—थे।

यदि क्षत्रियों के गोत्र उनके पुरोहितों (गुरुओं) के सूचक न होकर उनके मूलपुरुषों के सूचक होते, जैसा कि श्रीयुत वैद्य का मानना है, तो ब्राह्मणों के समान उनके गोत्र सदा वे के वे ही बने रहते और कभी न बदलते, परन्तु प्राचीन शिलालेखादि से ऐसे प्रमाण मिल आते हैं, जिनसे एक ही कुल या वंश के क्षत्रियों के समय समय पर भिन्न भिन्न गोत्रों का होना पाया जाता है। ऐसे थोड़े से उदाहरण नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

मेवाड़ (उदयपुर) के गुहिलवंशियों (गुहिलोतों, गोभिलों, सीसोदियों) का गोत्र 'वैजवाप' है। पुष्कर के अष्टोत्तरशत-लिंगवाले मंदिर में एक सती का स्तंभ खड़ा है, जिसपर के लेख से पाया जाता है कि वि० सं० १२४३ माघ सुदि ११ (ई० स० ११८७ ता० २२ जनवरी) को ठ० (ठकुरानी) हीरवदेवी, ठा० (ठाकुर) कोल्हण की स्त्री, सती हुई। उक्त लेख में ठा० कोल्हण को गुहिलवंशी और गौतमगोत्री[1] लिखा है। काठियावाड़ के गोहिल भी, जो

अंबरीष का पुत्र युवनाश्व और उसका हरित हुआ, जिसके वंशज अंगिरस हारित कहलाये और हारित-गोत्री ब्राह्मण हुए।

तस्यामुत्पादयामास मांधाता त्रीन्सुतान्प्रभुः ॥ ७१ ॥
पुरुकुत्समम्वरीषं मुचुकुंदं च विश्रुतम्।
अम्बरीषस्य दायादो युवनाश्वोऽपरः स्मृतः ॥ ७२ ॥
हरितो युवनाश्वस्य हारिताः शूरयः स्मृताः।
एते ह्यङ्गिरसः पुत्राः क्षात्रोपेता द्विजातयः ॥ ७३ ॥

वायुपुराण; अध्याय ८८।

अंबरीषस्य मांधातुस्तनयस्य युवनाश्वः पुत्रोऽभूत्। तस्माद्धरितो यतोऽङ्गिरसो हारिताः ॥ ५ ॥ (विष्णुपुराण; अंश ४, अध्याय ३)।

अंबरीषस्य युवनाश्वः प्रपितामहसनामा यतो हरिताद्धारिता अंगिरसा द्विजा हरितगोत्रप्रवराः। (विष्णुपुराण की टीका; पत्र ६)।

चंद्रवंशी राजा गाधि के पुत्र विश्वामित्र ने ब्रह्मत्व प्राप्त किया और उसके वंशज ब्राह्मण हुए, जो कौशिक-गोत्री कहलाते हैं। पुराणों में ऐसे बहुतसे उदाहरण मिलते हैं।

(१) राजपूताना म्यूज़ियम् की ई० सन् १९२०–२१ की रिपोर्ट; पृ० ३, लेख-संख्या ५।

मारवाड़ के खेड़ इलाके से वहां गये हैं और जो मेवाड़ के राजा शालिवाहन के वंशज हैं, अपने को गौतमगोत्री मानते हैं। मध्यप्रदेश के दमोह ज़िले के मुख्य स्थान दमोह से गुहिलवंशी विजयसिंह का एक शिलालेख मिला है, जो इस समय नागपुर म्यूज़ियम् में सुरक्षित है। वह लेख छंदोबद्ध डिंगल भाषा में खुदा है और उसके अंत का थोड़ा सा अंश संस्कृत में भी है। पत्थर का कुछ अंश टूट जाने के कारण संवत् जाता रहा है। उसमें गुहिल वंश के चार राजवंशियों के नाम क्रमशः विजयपाल, भुवनपाल, हर्षराज और विजयसिंह दिये हैं, जिनको विश्वामित्रगोत्री[1] और गुहिलोत[2] (गुहिलवंशी) बतलाया है। ये मेवाड़ से ही उधर गये हुए प्रतीत होते हैं क्योंकि विजयसिंह के विषय में लिखा है कि वह चित्तोड़ की लड़ाई में लड़ा और उसने दिल्ली की सेना को परास्त किया[3]। इस प्रकार मेवाड़ के गुहिलवंशियों के तीन भिन्न-भिन्न गोत्रों का पता चलता है।

इसी तरह चालुक्यों (सोलंकियों) का मूल-गोत्र मानव्य था और मद्रास अहाते के विज़गपट्टम् (विशाखपट्टन) ज़िले के जयपुर राज्य (ज़मींदारी) के अन्तर्गत गुणपुर और मोड़गुला के ठिकाने अब तक सोलंकियों के ही हैं और उनका गोत्र मानव्य[4] ही है; परन्तु लूणावाड़ा, पीथापुर और रीवाँ आदि के सोलंकियों (बघेलों) का गोत्र भारद्वाज होना वैद्य महाशय ने बतलाया है (पृ० ६४)।

इस प्रकार एक ही वंश के राजाओं के भिन्न-भिन्न गोत्र होने का कारण यही जान पड़ता है कि राजपूतों के गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्रों

---

(१) विसामित्त गोत्त उत्तिम चरित विमल पवित्तो० (पंक्ति ६, डिंगल भाग में) विस्वा(श्वा)मित्रे सु(शु)भे गोत्रे (पंक्ति २६, संस्कृत अंश में)।

(२) विजयसीहु धुर चरणो चाई सूरोऽसुभधो सेल खनकत्र कुशलो गुहिलौतो सव्व गुणे······(पं० १३-१४, डिंगल भाग में)।

(३) जो चित्तोडहुँ जुभिझअउ जिण ढिलीदल जित्तु (पं० २१)।

(४) मेरा 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास'; भाग १, पृ० २७४।

के ही सूचक हैं और जब वे अलग अलग जगह जा बसे, तब वहां जिसको पुरोहित माना, उसी का गोत्र वे धारण करते रहे।

राजपूतों के गोत्र उनके वंशकर्ता के सूचक न होने तथा उनके पुरोहितों के गोत्रों के सूचक होने के कारण पीछे से उनमें गोत्र का महत्व कुछ भी रहा हो ऐसा पाया नहीं जाता। प्राचीन रीति के अनुसार संकल्प, श्राद्ध, विवाह आदि में उसका उच्चारण होता रहा है। सोलंकियों का प्राचीन गोत्र मानव्य था और अब तक भी कहीं-कहीं वही माना जाता है। गुजरात के मूलराज आदि सोलंकी राजाओं का गोत्र क्या माना जाता था, इसका कोई प्राचीन लिखित प्रमाण नहीं मिलता। सम्भव है वह मानव्य अथवा भारद्वाज रहा हो। उनके पुरोहितों का गोत्र वसिष्ठ[1] था, ऐसा गुर्जरेश्वर-पुरोहित सोमेश्वरदेव के 'सुरथोत्सव' काव्य से निश्चित है। आज भी राजपूताना आदि में राजपूत राजाओं के गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्रों से भिन्न ही हैं।

ऐसी दशा में यही कहा जा सकता है कि राजपूतों के गोत्र सर्वथा उनके वंशकर्त्ताओं के सूचक नहीं, किन्तु पुरोहितों के गोत्रों के सूचक होते थे और कभी कभी पुरोहितों के बदलने पर गोत्र बदल जाया करते थे, कभी नहीं भी। यह रीति उनमें उसी समय तक बनी रही, जब तक कि पुरोहितों के द्वारा उनके वैदिक संस्कार होकर प्राचीन शैली के अनुसार वेदादि-पठन-पाठन का क्रम उनमें प्रचलित रहा। पीछे तो वे गोत्र नाममात्र के रह गये, केवल प्राचीन प्रणाली को लिये हुए संकल्प, श्राद्ध, विवाह आदि में गोत्रोच्चार करने के अतिरिक्त उनका महत्व कुछ भी न रहा और न वह प्रथा रही कि पुरोहितों का जो गोत्र हो वही राजा का भी हो[2]।

---

(१) नागरी प्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण); भाग ४, पृ० २।

(२) नागरी प्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण), भाग ५, पृष्ठ ४३९-४४३ में मैंने 'क्षत्रियों के गोत्र'-शीर्षक यही लेख प्रकाशित किया, जिसके पीछे श्री० वैद्य ने 'हिस्ट्री ऑव् मेडीवल हिन्दू इंडिया' नामक अपने अंग्रेज़ी इतिहास की तीसरी जिल्द प्रकाशित की, जिसमें क्षत्रियों के गोत्रों के आधार पर उनके भिन्न-भिन्न ऋषियों (ब्राह्मणों)

की सन्तान होने की बात फिर दुहराई है और मेरे उद्धृत किये हुए अश्वघोष के कथन को बौद्धों का कथन कहकर निर्मूल बतलाया है, जो ठीक नहीं है। पुराणों का वर्त्तमान स्थिति में नया संस्कार होने से बहुत पूर्व होनेवाले अश्वघोष जैसे बड़े विद्वान् ने बुद्धदेव के पूर्व के इक्ष्वाकुवंशी (सूर्यवंशी) क्षत्रियों की गोत्र-परिपाटी का विशद परिचय दिया है, और बुद्धदेव गौतम क्यों कहलाये तथा इक्ष्वाकुवंशी राजपुत्र, जिनका गोत्र पहले कौत्स था, परन्तु पीछे से उनके उपाध्याय (गुरु) के गोत्र के अनुसार उनका गोत्र गौतम कैसे हुआ, इसका यथेष्ट विवेचन किया है, जो श्री० वैद्य के कथन से अधिक प्रामाणिक है। श्री० वैद्य का यह कथन—"मिताक्षराकार ने भूल की है और उसके पीछे क्षत्रियों के गोत्र पुरोहित के गोत्र माने जाने लगे हैं", किसी प्रकार स्वीकार करने योग्य नहीं है, क्योंकि विज्ञानेश्वर ने अपना ही मत प्रकट नहीं किया, किन्तु अपने से पूर्व होनेवाले आश्वलायन का भी वही मत होना बतलाया है। केवल आश्वलायन का ही नहीं, किन्तु बौधायन, आपस्तंब और लौगाक्षी आदि आचार्यों का मत भी ठीक वैसा ही है, जैसा कि मिताक्षराकार का। हमने उनके मत भी उद्धृत किये थे, परंतु श्री० वैद्य उनके विषय में तो मौन धारण कर गये और अपना वही पुराना गीत गाते रहे कि तमाम क्षत्रिय ब्राह्मणों की सन्तान हैं। पुरोहित के पलटने के साथ कभी कभी क्षत्रियों के गोत्र भी बदलते रहे, जिससे शिलालेखादि से एक ही वंश के दो या अधिक गोत्रों का होना जो हमने बतलाया, उस विषय में भी उन्होंने अपना मत प्रकाशित नहीं किया, परंतु अपने कथन की पुष्टि के लिए जयपुर के दो पंडितों की लिखित सम्मतियां छापी हैं। उनमें से पहली द्रविड़ वीरेश्वर शास्त्री की संस्कृत में है (पृ० ४७८), जिसमें श्री० वैद्य के कथन को स्वीकार किया है, परन्तु उसकी पुष्टि में एक भी प्रमाण नहीं दिया। ऐसे प्रमाणशून्य बाबावाक्य को इस समय कोई नहीं मानता। अब तो लोग स्थल-स्थल पर प्रमाण मांगते हैं। दूसरी सम्मति—पंडित मधुसूदन शास्त्री की—श्री० वैद्य और द्राविड़ शास्त्री के कथन के विरुद्ध इस प्रकार है—

क्षत्रियोंका उत्पत्तिदृष्ट्या गोत्र मनु है और वैश्योंका भलन्दन हैं. क्षत्रियोंके जो भारद्वाजवत्सादि गोत्र प्रसिद्ध हैं वे पूर्वकाल में उनके प्राचीन पुरोहितोंसे प्राप्त हुवें हैं. वे अब बदल नहीं सकते. क्यौंके नया पुरोहित करना मना हैं. हालमें पुरोहितों का गोत्र इसी सबबसे भिन्न हैं. यह पुराणे पीढियोंसे चला हुवा गोत्र एकतऱ्हेसे [?] प्रातिस्विक गोत्र होगया हैं क्यौंके वुह [?] बदल नहीं सकता. (पृ० ४७८)—नकल हूबहू।

श्री० वैद्य महाशय एक भी प्रमाण देकर यह नहीं बतला सके कि क्षत्रिय ब्राह्मणों के वंशज हैं। शिलालेखों में क्षत्रियों के गोत्रों के जो नाम मिलते हैं, वे प्राचीन प्रणाली के अनुसार उनके संस्कार करानेवाले पुरोहितों के ही गोत्रों के सूचक हैं, न कि उनके

परिशिष्ट-संख्या २

क्षत्रियों के नामान्त में 'सिंह' पद का प्रचार

यह जानना भी आवश्यक है कि क्षत्रियो (राजपूतों) के नामों के अन्त में 'सिंह' पद कब से लगने लगा, क्योंकि पिछली कुछ शताब्दियों से राजपूतों में इसका प्रचार विशेष रूप से होने लगा है। पुराणों और महाभारत में जहां सूर्यचन्द्रवंशी आदि क्षत्रिय राजाओं की वंशावलियां दी हैं, वहां किसी राजा के नाम के अन्त में 'सिंह' पद न होने से निश्चित है कि प्राचीन काल में सिंहान्त नाम नहीं होते थे। प्रसिद्ध शाक्यवंशी राजा शुद्धोदन के पुत्र सिद्धार्थ (बुद्धदेव) के नाम के अनेक पर्यायों में से एक 'शाक्यसिंह'[1] भी अमरकोषादि मे मिलता है, परन्तु वह वास्तविक नाम नहीं है। उसका अर्थ यही है कि शाक्य जाति के क्षत्रियों (शाक्यों) में श्रेष्ठ (सिंह के समान)। प्राचीन काल में 'सिंह,' 'शार्दूल', 'पुंगव' आदि शब्द श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए शब्दों के अन्त में जोड़े जाते थे, जैसे—'क्षत्रियपुंगव' (क्षत्रियों मे श्रेष्ठ), 'राजशार्दूल' (राजाओं में श्रेष्ठ), 'नरसिंह' (पुरुषों में सिंह के सदृश) आदि। ऐसा ही शाक्यसिंह शब्द भी है, न कि मूल नाम। यह पद नाम के अन्त में पहले पहल गुजरात, काठियावाड़, राजपूताना, मालवा, दक्षिण आदि देशों पर राज्य करनेवाले शक जाति के क्षत्रपवंशी महाप्रतापी राजा रुद्रदामा के दूसरे पुत्र रुद्रसिंह के नाम में मिलता है[2]। रुद्रदामा के पीछे उसका ज्येष्ठ पुत्र दामघ्सद (दामजदश्री) और उसके बाद उसका छोटा भाई वही रुद्रसिंह क्षत्रप-राज्य का स्वामी हुआ। यही सिंहान्त नाम का पहला उदाहरण है।

---

(१) स शाक्यसिंहः सर्वार्थसिद्धः शौद्धोदनिश्च सः।
गौतमश्चार्कबंधुश्च मायादेवीसुतश्च सः॥ १५॥

अमरकोष; स्वर्गवर्ग।

(२) देखो ऊपर पृ० ११६, १२३, १२४।

रुद्रसिंह के सिक्के शक संवत् १०३-११८ (वि० सं० २३८-२५३=ई० स० १८१-१९६) तक के मिले हैं [१] । उसी वंश में रुद्रसेन (दूसरा) भी राजा हुआ, जिसके शक संवत् १७८-१९६ (वि० सं० ३१३-३३१=ई० स० २५६-२७४) तक के सिक्के मिले हैं [२] । उसके दो पुत्रों में से ज्येष्ठ का नाम विश्वसिंह था । यह उक्त शैली के नाम का दूसरा उदाहरण है । फिर उसी वंश में रुद्रसिंह, सत्यसिंह (स्वामि सत्यसिंह) और रुद्रसिंह (स्वामि-रुद्रसिंह) के नाम मिलते हैं [३], जिनमें से अन्तिम रुद्रसिंह शक संवत् ३१० (वि० सं० ४४५=ई० स० ३८८) में जीवित था, जैसा कि उसके सिक्कों से पाया जाता है [४] । इस प्रकार उक्त वंश में 'सिंहान्त' पदवाले ५ नाम हैं । तत्पश्चात् इस प्रकार के नाम रखने की शैली अन्य राजघरानों में भी प्रचलित हुई । दक्षिण के सोलंकियों में जयसिंह नामधारी राजा वि० सं० ५६४ के आस-पास हुआ, [५] फिर उसी वंश में वि० सं० ११०० के आस-पास जयसिंह दूसरा हुआ [६] । उसी वंश की वेंगी की शाखा में जयसिंह नाम के दो राजा हुए, जिनमें से पहले ने वि० सं० ६९० से ७१९ (ई० स० ६३३-६६३) तक और दूसरे ने वि० सं० ७५४ से ७६७ (ई० स० ६९७-७१०) तक वेंगी देश पर शासन किया [७] । मेवाड़ के गुहिलवंशियों में ऐसे नामों का प्रचार वि० सं० की बारहवीं शताब्दी से हुआ । तब से वैरिसिंह, विजयसिंह, अरिसिंह [८] आदि नाम रक्खे जाने लगे और अब तक बहुधा इसी शैली से नाम रक्खे जाते हैं । मारवाड़ के राठोड़ों में, विशेष कर वि० सं० की १७ वीं शताब्दी में, रायसिंह से इस शैली के नामों का

---

(१) देखो ऊपर पृ० १२४ ।

(२) देखो ऊपर पृ० १२३, १२४ ।

(३) देखो ऊपर पृ० १२३-१२४ ।

(४) देखो ऊपर पृ० १२४ ।

(५) मेरा 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास'; प्रथम भाग, पृष्ठ १५-१६ और ९८ ।

(६) वही; पृ० ८६-९१ ।

(७) वही; पृ० १४१-४२ और १४६-४७ तथा १९५ ।

(८) मेरा 'राजपूताने का इतिहास'; जिल्द १ (प्रथम संस्करण), पृ० ४४०-४१ ।

प्रचार हुआ[१]। तब से अब तक वही शैली प्रचलित है। कछवाहों में पहले पहल वि० सं० की बारहवीं शताब्दी में नरवरवालों ने इस शैली को अपनाया और वि० सं० ११७७ (ई० स० ११२०) के शिलालेख में गगनसिंह, शरदसिंह और वीरसिंह के नाम मिलते हैं[२]। चौहानों में सबसे पहले जालोर के राजा समरसिंह[३] का नाम वि० सं० की तेरहवीं शताब्दी में मिलता है, जिसके पीछे उदयसिंह, सामन्तसिंह आदि हुए। मालवे के परमारों में वि० सं० की दसवीं शताब्दी के आसपास वैरिसिंह[४] नाम का प्रयोग हुआ। इस प्रकार शिलालेखादि से पता लगता है कि इस तरह के नाम सबसे पहले क्षत्रप-वंशी राजाओं, दक्षिण के सोलंकियों, मालवे के परमारों, मेवाड़ के गुहिलवंशियों, नरवर के कछवाहों, जालोर के चौहानों आदि में रक्खे जाने लगे। फिर तो इस शैली के नामों का राजपूतों में विशेष रूप से प्रचार हुआ।

---

(१) रायसिंह से पूर्व जालणसी नाम ख्यातों में मिलता है, परन्तु अब तक किसी शिलालेख में उसका शुद्ध नाम नहीं मिला, जिससे यह निश्चय नहीं होता कि उसका नाम जालण (जाल्हण, जल्हण) था या जालणसिंह। रायसिंह से पीछे अब तक मारवाड़ के सब राजाओं के नामों के अन्त में 'सिंह' पद लगता रहा है।

(२) हिं० टॉ० रा०; (प्रथम खंड) पृ० ३७५।

(३) वही; पृ० ४०१।

(४) देखो ऊपर पृ० २०६ और २३४।

परिशिष्ट-संख्या ३

राजपूताने के इतिहास की पहली जिल्द के प्रणयन में जिन जिन पुस्तकों से सहायता ली गई अथवा प्रसंगवश जिनका उल्लेख किया गया है उनकी सूची।

संस्कृत, प्राकृत और पाली पुस्तकें

अथर्ववेद।

अनूपरत्नाकर (भावभट्ट)।

अनूपसंगीतविलास (भावभट्ट)।

अनूपांकुश (भावभट्ट)।

अभिज्ञानशाकुंतल (कालिदास)।

अमरुशतक (रसिकसंजीवनी टीका, अर्जुनवर्मा)।

अर्थशास्त्र (कौटिल्य)।

अष्टाध्यायी (पाणिनी)।

उपदेशतरंगिणी।

ऋग्वेद।

ऐतरेयब्राह्मण।

औशनसस्मृति।

कथासरित्सागर (सोमदेव)।

कर्णसुंदरी (बिल्हण)।

कर्पूरमंजरी (राजशेखर)।

कल्पसूत्र (हर्मन जैकोबी का अंग्रेज़ी अनुवाद)।

कविशिक्षा (जयमंगल)।

काठकसंहिता।

कातंत्रव्याकरण।

कादंबरी (बाणभट्ट और पुलिन्दभट्ट)।

कामशास्त्र (कामसूत्र, वात्स्यायन) ।

कारिका (वाक्यपदीय, भर्तृहरि)

काव्यप्रकाश (मम्मट और अलक) ।

काव्यमीमांसा (राजशेखर) ।

कीर्तिकौमुदी (सोमेश्वर) ।

कुमारपालचरित (जयसिंहसूरि) ।

कुमारपालचरित्र (चारित्रसुंदरगणि) ।

कुमारपालप्रबंध (जिनमंडनोपाध्याय) ।

कूर्मशतक (भोज) ।

गणरत्नमहोदधि (वर्द्धमान) ।

गीतगोविंद (रसिकसंजीवनी टीका, कुंभकर्ण) ।

चाणक्यनीति ।

चंडीशतक (टीका, कुंभकर्ण) ।

जिनयज्ञकल्प (आशाधर) ।

जैमिनीयउपनिषद्ब्राह्मण ।

तांड्यब्राह्मण ।

तिलकमंजरी (धनपाल) ।

तीर्थकल्प (जिनप्रभसूरि) ।

तैत्तिरीयब्राह्मण ।

तैत्तिरीयसंहिता ।

त्रिषष्ठिस्मृति (आशाधर) ।

दशकुमारचरित (दंडी) ।

दशरूपक (धनंजय) ।

दशरूपावलोक (टीका, धनिक) ।

दिव्यावदान (बौद्ध ग्रन्थ) ।

दीघनिकाय (दीर्घनिकाय, पाली) ।

दुल्व ।

देवलसंहिता
द्व्याश्रयमहाकाव्य (हेमचन्द्राचार्य) ।
धर्मामृतशास्त्र (आशाधर) ।
धाराध्वंस (गणपतिव्यास) ।
नटसूत्र (शिलाली और कृशाश्व) ।
नरनारायणानंद (वस्तुपाल) ।
नवसाहसांकचरित (पद्मगुप्त, परिमल) ।
नागानंद (हर्ष) ।
नाट्यशास्त्र (भरत) ।
नृत्यनिर्णय (पुंडरीकविट्ठल) ।
पद्मपुराण ।
परिशिष्टपर्व (हेमचन्द्राचार्य) ।
पाइअलच्छीनाममाला (प्राकृत, धनपाल) ।
पारिजातमंजरी (मदन, बालसरस्वती) ।
पार्थपराक्रमव्यायोग (प्रह्लादनदेव) ।
पिंगलछन्दसूत्र (मृतसंजीवनी टीका, हलायुध) ।
पिंगलसूत्रवृत्ति (हलायुध) ।
पृथ्वीराजविजयमहाकाव्य (जयानक) ।
पंचविंशब्राह्मण ।
प्रतिमानाटक (भास) ।
प्रबंधकोष (चतुर्विंशतिप्रबंध, राजशेखर) ।
प्रबंधचिंतामणि (मेरुतुङ्ग) ।
प्रभावकचरित (चंद्रप्रभसूरि)
प्रियदर्शिका (हर्ष) ।
बालभारत (राजशेखर) ।
बालरामायण (राजशेखर) ।
बृहज्जातक (वराहमिहिर) ।

बृहत्कथा (गुणाढ्य)।
ब्रह्मांडपुराण।
ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त (ब्रह्मगुप्त)।
भक्तामरस्तोत्र (मानतुंगाचार्य)।
भागवतपुराण।
भोजप्रबंध (बल्लालपंडित)।
मत्स्यपुराण।
मनुस्मृति।
महापरिनिव्वाणसूत्र (बौद्ध ग्रंथ)।
महाभारत (निर्णयसागर-संस्करण)।
महाभाष्य (पतञ्जलि)।
मालविकाग्निमित्र (कालिदास)।
मिलिन्दपन्हो (मिलिन्दप्रश्न, पाली)।
मुद्राराक्षस (विशाखदत्त)।
मैत्रायणीसंहिता।
याज्ञवल्क्यस्मृति।
रत्नावलि (हर्ष)।
रागमंजरी (पुण्डरीकविट्ठल)।
राजतरंगिणी (कल्हण)।
राजमार्तंड (भोज)।
राजमृगांककरण (भोज)।
रामायण (वाल्मीकि)।
ललितविग्रहराजनाटक (सोमदेव)।
लाट्यायनश्रौतसूत्र।
वसंतविलास (बालचंद्रसूरि)।
वस्तुपालचरित (जिनहर्ष)।
वस्तुपालतेजपालप्रशस्ति (जयसिंहसूरि)।

वाजसनेयिसंहिता।
वायुपुराण।
वासवदत्ता (सुबंधु)।
विक्रमांकदेवचरित (बिल्हण)।
विचारश्रेणी (मेरुतुंग)।
विद्धशालभंजिका (राजशेखर)।
विद्वज्जनमंडन (भोज)।
विष्णुपुराण।
वैरोचनपराजय (श्रीपाल)।
शतपथब्राह्मण।
शब्दकल्पद्रुम (राजा राधाकान्तदेव)।
शिशुपालवध (माघ)।
शृंगारमंजरी।
शूद्रकमलाकर (शूद्रधर्मतत्त्व, कमलाकर)।
समरांगण (भोज)।
सरस्वतीकंठाभरण (भोज)।
सामवेद।
सारसमुच्चय।
सारस्वतव्याकरण (अनुभूतिस्वरूपाचार्य)।
सिद्धराजवर्णन (वर्द्धमान)।
सिद्धान्तकौमुदी (भट्टोजीदीक्षित, तत्त्वबोधिनीटीका, ज्ञानेन्द्रसरस्वती)।
सुकृतकल्लोलिनी (पुण्डरीकउदयप्रभ)।
सुकृतसंकीर्तन (अरिसिंह)।
सुभाषितरत्नसंदोह (अमितगति)
सुभाषितावलि (वल्लभदेव)।
सुरथोत्सव (सोमेश्वर)।
सुश्रुतसंहिता।

सूक्तिमुक्तावलि (जल्हण)।
सूर्यशतक (मयूर)।
सौंदरनंदकाव्य (अश्वघोष)।
संगीतमीमांसा (कुंभकर्ण)।
संगीतरत्नाकर (शार्ङ्गदेव)।
संगीतराज (कुंभकर्ण)।
संगीतसार।
स्मृतिनांसमुच्चय।
हम्मीरमदमर्दन (जयसिंहसूरि)।
हम्मीरमहाकाव्य (नयचंद्रसूरि)।
हरकेलि नाटक (विग्रहराज)।
हरिवंशपुराण (जिनसेन)।
हर्षचरित (बाणभट्ट)।

इनके सिवा अनेक प्रकाशित एवं अप्रकाशित शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों से भी सहायता ली गई है।

हिन्दी, गुजराती आदि के ग्रन्थ

इतिहासतिमिरनाशक (राजा शिवप्रसाद)।
ऐतिहासिक कहानियां (चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा)
जोधपुर राज्य की मनुष्यगणना की रिपोर्ट।
टॉड-राजस्थान (हिन्दी, खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर का संस्करण)।
नागरीप्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण)।
पुरातत्त्व (त्रैमासिक) गुजराती।
पृथ्वीराजरासो (चन्दबरदाई), नागरीप्रचारिणी सभा-द्वारा प्रकाशित।
पंपभारत (पंपकवि) कनड़ी।
भारतीय प्राचीन लिपिमाला (गौरीशंकर हीराचंद ओझा), द्वितीय संस्करण।
मनोरंजनपुस्तकमाला, संख्या ३७।
मानकुतूहल (तंवर राजा मानसिंह)।
रत्नमाला (कृष्णकवि)।
मुंहणोत नैणसी की ख्यात, ना. प्र. सभा-द्वारा प्रकाशित।
वीरविनोद (महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदास)।
वीसलदेव रासो (नरपति नाल्ह)।
वंशभास्कर (मिश्रण सूर्यमल्ल)।
शाहजहांनामा (मुंशी देवीप्रसाद)।
सुधा (मासिक पत्रिका) लखनऊ।
सोलंकियों का प्राचीन इतिहास, प्रथमभाग (गौरीशंकर हीराचंद ओझा)
हिन्दराजस्थान (अमृतलाल गोवर्धनदास शाह और काशीराम उत्तम-राम पंड्या) गुजराती।

अरबी तथा फ़ारसी पुस्तकें

आइने अक़बरी (अबुल्फ़ज़ल)।

कामिलुत्तवारीख़ (इब्न असीर)।

क़ुरान।

चचनामा (मुहम्मद्अली)।

तबकातेनासिरी (मिनहाजुस्सिराज)।

तहक़ीके हिन्द (अबुरिहां अल्बेरूनी) अरबी।

ताजुल्मआसिर (हसननिज़ामी)।

तारीख़ फ़िरिश्ता (मुहम्मद कासिम फ़िरिश्ता)।

तारीख़ यमीनी (अल उत्बी)।

तारीख़े अल्फ़ी (मौलाना अहमद)।

नासीखुत्तवारीख़।

फ़तुहुलबुल्दान (बिलादुरी)।

बादशाहनामा (अब्दुल्मजीद)।

मिराते अहमदी (हसन् मुहम्मदख़ां)।

मिराते सिकन्दरी (सिकंदर)।

मुन्तख़बुल्लुबाब (ख़ाफीख़ां)।

रोज़ेतुस्सफ़ा (मीरख़ोंद)।

हबिबुस्सियर (खोंदमीर)।

अरबी तथा फ़ारसी पुस्तकों में अधिकतर उनके अंग्रेज़ी अनुवादों से सहायता ली गई है।

अंग्रेज़ी ग्रंथ

Allan, John—Catalogue of the Coins of the Gupta Dynasties.
Annual Reports of the Rajputana Museum, Ajmer.
Archæological Survey of India, Annual Reports (From 1902).
Aufrecht, Theodor—Catalogus Catalogorum.
Beal, Samuel—Buddhist Records of the Western-World ("Si-yu-ki" or The Travels of Hiuen-Tsang).
Beale, Thomas William—An Oriental Biographical Dictionary.
Bhagwanlal, Indraji—The Hathigumpha and three other Inscriptions.
Bhavanagar Inscriptions.
Bombay Gazetteer.
Briggs, John—History of the Rise of Mahomedan Power in India (Translation of Tarikh-i-Farishta of Mahomed Kasim Ferishta).
Buhler, G.—Detailed Report of a tour in Search of Sanskrit MSS. made in Kashmir. Rajputana and Central India.
Chavennes, mimoire.
Cunningham, A.—Coins of the Later Indo-Scythians.
Dey—Music of Southern India.
Dow, Alexander—History of India.
Duff, C. Mabel—The Chronology of India.
Duff, J. G.—History of the Marhattas.
Elliot, Sir H. M.—The History of India: as told by its own Historians.
Elphinstone, M.—The History of India.
Encyclopædia Britannica (9th and 10th Editions).
Epigraphia Indica.
Fergusson, J.—Picturous illustrations of Ancient Architecture in Hindustan.
Fleet, J. F.—Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. III (Gupta Inscriptions).
Gardner, Percy—The Coins of the Greek and Scythic kings of Bactria and India.
Gibbon, E.—History of the decline and fall of the Roman Empire.
Haugson—Essays.
Havell, E. B.—Indian Sculptures and Paintings.

Hiralal, Rai Bahadur—Descriptive Lists of Inscriptions in the Central Provinces and Berar.

Hunter, William—Indian Gazetteer.

Indian Antiquary.

Indian Historical Quarterly.

Journal of the American Oriental Society.

Journal of the Asiatic Society of Bengal.

Journal of the Bombay branch of the Royal Asiatic Society.

Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland.

Kern, H.—Manual of Indian Buddhism (Encyclopædia of Indo Aryan Research).

Lane-Poole, Stanley—Mediæval India under Mohammedan Rule.

Legge, James—Travels of Fa-hian in India and Ceylon.

McCrindle, J. W.—The Invasion of India by Alexander the Great.

Macdonell and Keith—Vedic Index.

Malcolm, John—History of Persia.

Mill, J.—History of India.

Monier-Williams—A Sanskrit- English Dictionary.

Numismatic Chronicle.

Pargiter, F. E.—The Purana Text of the Dynasties of the Kali Age.

Periplus of the Erythraean Sea.

Peterson, P.—Reports in Search of Sanskrit MSS.

Price—Retrospect of Mahomedan History.

Progress Reports of the Archæological Survey of India, Western Circle

Rapson, E. J.—Ancient India.

" " —Coins of Andhras and Western Kshtraps.

Rapson, E. J.
Boyer, A. M.
Senart, E. } —Kharoshthi Inscriptions discovered by Sir Aurel Stein in Chinese Turkestan, Part I.

Raverty H. G.—Tabakāt-i-Nāsiri.

Rockhill, W. W.—The Life of Buddha.

Sachau, Edward—Alberuni's India.

Sacred Books of the East.

Smith, V. A.—Catalogue of the Coins in the Indian Museum, Vol. I.

Smith, V. A.—The Early History of India.
„ „ —The Oxford History of India.
„ „ —The Jain Stupa and other Antiquities of Mathura.
Tod, James—Annals and Antiquities of Rajasthan (Oxford Edition).
„ „ —Travels in Western India.
Vogel, J. Ph.—The Yupa Inscriptions of King Mulavarman from Koetei (East Borneo).
Watters, Thomas—On Yuan Chwang's Travels in India.
Weber, Albrecht—The History of Indian Literature.
Wilson, Annie—Short Account of the Hindu System of Music.
Wright, H. N.—Catalogue of the Coins in the Indian Museum, Vol. II.

जर्मन ग्रंथ

Otto Boehtlingk and Rudolph Roth—Sanskrit-Woerterbuch (Sanskrit-German Dictionary).

अनुक्रमणिका

(क) वैयक्तिक

अ

आ

इ

ख

ग

घ

च

छ

ज

झ

थ

द

ध

न

फ

ब

म

य

ल

व

स

ह

(ख) भौगोलिक

ऊ

ए

ओ

अं

क

ख

ग

झ

ट

ठ

ड

य

र

ल

श

स

ह

Extracts from Opinions on the History of Rajputana.

Dr. L. D. Barnett, M. A., British Museum, London.

It is an admirable piece of work, full of sound and well presented material. I sincerely hope that the work will be speedily completed and that you may soon have the satisfaction of seeing the fruit of your scholarly labours matured. It will indeed be a goodly monument to the glories of Rajputana, a true कीर्तिस्तंभ (Kîrtistambha). Your knowledge of local tradition and bardic poetry gives to the work a peculiar value. It is urgently needed: only last week I and a friend of mine were speaking about the deficiencies in Tod's *Annals* and regretting that a new history had not been undertaken. Now you come to fill the gap, and I am heartily glad of it.

Dr. J. Ph. Vogel, Rector, University of Leyden (Holland).

I am very much pleased that your great work is steadily advancing and I heartily congratulate you on your laborious task being so far accomplished. Your History of Rajputana will be a very valuable contribution to our knowledge of the history of India.

The late Dr. E. Hultzsch, Halle (Salle), Germany.

I have to thank you for fasc. I. (a goodly volume) of your History of Rajputana, in which you undertake to clothe the dry bones of Epigraphy with fresh life, a very difficult and welcome work, for which you will earn the thanks of both Indian and European scholars......

Professor Dr. Sten Konow, University of Oslo (Norway)

Many thanks for sending me the first part of your splendid work about the history of Rajputana. I am reading it with the greatest interest and admiration, and I look forward to the continuation. Nobody knows the history

of Rajputana better than you and the learned world will be very thankful to you for your careful and illuminating work. I am much pleased to see that you do not share the opinion of Vincent Smith about the origin of the Rajputs. I have never been able to see the force of the arguments adduced by Vincent Smith and Bhandarkar. What I have seen of the Rajputs has strengthened me in my belief that they are the inheritors of the civilization of the Vedic Aryans.

Sir George A. Grierson, K.C.I.E., Ph.D., D. Litt., LL.D., Rathfarnham, Camberley, Surrey.

It shows me that it has all the high qualities of the first fasciculus, regarding which I can heartily join in the appreciations of Dr. Barnett and others printed with the part now issued. No one is more competent than you are, both by knowledge and by scientific methods, for writing a history of Rajputana which will complete the great work begun by Tod.

Dr. F. W. Thomas, M.A., Boden Professor of Sanskrit, University of Oxford.

I see that you are unweariedly continuing your most thorough and learned account of Udaipur, to which you have already devoted over 400 pages. This will clearly constitute the most thorough account that we have of any Indian State, going back to ancient times and written by a scholar with full knowledge of both the Indian and the external literature relating to the subject......Your labours deserve the gratitude of all who are interested in the history and people of India. When completed it will rank, I think, as a work of primary importance and will remain as a monument of your learning and ability as a scholar. I consider it a fortunate thing that the generous idea which, as stated in your preface, you had of placing your materials at the disposal of some other scholar, was not realized. No other person could have attained so intimate a knowledge of the subject, or have brought so much competence and devotion to the compilation of the History.

SIR JADUNATH SARKAR, M.A., Kt., P.R S.,
Ex-Vice- Chancellor, Calcutta University,

(in "The Modern Review", Calcutta, June, 1931, pp. 678-79.)

With the present part (covering the history of the Udaypur State from 1576 to 1881) a great work reaches half its completion......... In the case of Udaypur, correction that would bring Tod's chapters abreast of modern knowledge is no doubt necessary, but not expansion or the filling up of gaps even half the extent that his annals of Jaipur or Marwar are clamouring for. There is nobody who is a quarter as competent as Rai Bahadur Ojha for doing it. It is now thirty years since I first met him at Udaypur, and we discussed the urgency of replacing Tod's *Rajasthan* by a modern accurate history ; and today I ask myself in trembling solicitude, " Will the veteran Pandit live to accomplish this task ?"

The present part covers the most glorious and best known period of Mewar history, namely, from the accession of the great Pratap to near the end of the 19th century. The field of Haldighat, which in the eye of every Indian is radiant with

"The light that never was on land or sea,
The consecration and the patriot's dream,"

is here in a photograph. Raj Singh, a worthy heir of Pratap is here too, and the tragic figure of the Indian Iphigenia, Krishnā Kumārī. In many a European country such a volume would have sold like the latest popular novel. Let us see how Hindi India treats this masterpiece.

To put it briefly, Ojha's work entirely replaces Tod's legend-based annals by the full and critical use of inscriptions, Sanskrit works, bardic chronicles, Persian histories, and the various records brought to light in Kaviraj Shyamaldas's *Vīravinoda.*

H. H. Raja Sir Ram Singhji Bahadur, K.C.I.E., Sitamau (Central India).

You have rendered a great service indeed to the Rajput community by successfully refuting the attacks made upon it, on the strength of the cold logic of facts by indifferent

writers. I note with pleasure that this work is comprehensive and embodies the result of your scholarly searching and impartial study for the whole life. This will have made up the deficiency, that has for so long been felt, of a trustworthy and an authoritative account of my community.

Mahamahopadhyaya Dr. Ganga Nath Jha, M.A., D.Litt., C.I.E., Ex-Vice-Chancellor, University of Allahabad.

I shall read it with the greatest interest and, I feel sure, with the greatest profit. It is wonderful how you can even at this advanced age of yours carry on such important and laborious work.

Dr. A. B. Dhruva, M.A., D.Litt., LL.B., Ex-Pro-Vice-Chancellor, Benares Hindu University.

...*Rajasthan* which Col. Tod wrote was based on bardic tales and like the Râsamâlâ (Forbes') of Gujarat, it lacked the qualities which go to make a truly reliable record of historical facts. I am glad you, who have had such splendid opportunities to study the subject, have decided to work upon the materials you have so assiduously collected. I have no doubt it will be a great service to the motherland.........

The late Rai Bahadur Dr. Hira Lal, B.A., Katni.

It has kept up the high standard, which you gave to your first fasciculus, which has been rightly praised by the greatest European and Indian historians.

"The Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland", July 1926.

This large volume is the first instalment of an ambitious project, a very voluminous history of Rajputana in six or seven similar volumes, based on the latest archæological and epigraphical research, which may serve to correct, amplify and bring up to date the historical material collected by Colonel Tod for his well-known *Annals and Antiquities of*

Rajasthan......Tod's famous book is now nearly a century old, and most of his accounts are based upon local traditions and bardic sources, the reliability of which cannot be rated very high. The writer of the present book is well-qualified by life-long work connected with Rajputana, by prolonged researches into the subject of the history of the Rajputs, and also by the study of epigraphical materials, to deal with the subject which he has chosen for his *magnum opus* ...... I am inclined to the opinion that it will be found to be of considerable value, being based upon a foundation of learning, industry, and sobriety of judgment......

Annual Bibliography of Indian Archæology for 1926, published by the Kern Institute, Leyden (Holland), pp. 19-20.

We wish, however, to make an exception in mentioning the new History of Rājpūtānā, which is being published in Hindi under the title *Rājpūtāne Kā Itihās* by Rai Bahadur Pandit Gaurishankar Ojha, the learned Curator of the Archaeological Museum of Ajmer.........It is not, however, on account of the vastness of its scope alone that Pt. Gaurishankar Ojha's *magnum opus* lays claim to our gratitude and admiration. It is owing to the high qualities of scholarship which it exhibits.

In the century which has passed an enormous advance has been made in archaeological research all over India. As far as Rājpūtānā is concerned, this progress is in no small measure due to the exertions of Pandit Gaurishankar Ojha. In composing his present work, he has throughout utilised the rich inscriptional materials which have been partially collected and made available by himself. No one, indeed, could be found more competent to undertake the great task of writing a new history of Rājpūtānā than Mr. Ojha who has devoted his whole life to the investigation of the historical records of his native province.

"The Indian Antiquary", Bombay, March, 1931.

Since Col. James Tod completed—just a century ago—his immortal work, *The Annals and Antiquities of*

Rajasthan, enormous strides have been made in the critical study of Indian history and besides the discovery and publication of further historical and other records, a vast quantity of epigraphical and numismatic material has become available. Tod, in the absence of these sources of knowledge, was dependent upon local traditions, such archives as had been preserved in the States and, more particularly, upon the bardic chronicles which, as Mahāmahopādhyāya G. H. Ojhā has shown, only began to be recorded after the sixteenth century of the Vikrama Samvat and abound in errors. These old chroniclers had no knowledge of correct chronology, and Tod had no means of testing and correcting their assertions, to which his eloquent pen added a warrant of authenticity. The time was ripe for rewriting the story told in the fascinating pages of Tod; and it is fortunate that the task should have been undertaken by the present author, whose scholarly attainments and unique knowledge of the subject, acquired by life-long research and stimulated by personal interest in the land and people, render him pre-eminently qualified for the work. The errors in the bardic accounts, as well as in vernacular compilations of more recent date have now been indicated and corrected. The narratives of the Muhammadan historians have been carefully examined and utilised where they afford relevant information. But the outstanding feature of this work is the use that has been made of stone and copperplate inscriptions, so many of which have been discovered by the author himself, and some of which have not hitherto been edited or published......Tod was rewarded—and no public servant can receive a higher and more gratifying reward—by the deep affection with which his name is still cherished in Rājpūtānā. The author of the *Rājpū'āne kā Itihāsa* will likewise be gratefully remembered in that land and by all students of its history. We thank him for the pleasure enjoyed in reading the first three fascicules of this fine work, and look forward to its successful completion.

"The Modern Review", Calcutta, January, 1926.

The author of this bulky volume is a well-known Hindi Scholar and antiquarian whose work, *Prācheen Lipimālā* as well as his several researches in Rajput history have

already earned for him a high reputation among scholars. His new undertaking, *viz.*, the History of Rajputana, the first volume of which is under notice, will considerably enhance that reputation...............Now, time has surely come for its [Tod's "*Annals and Antiquities of Rajasthan*"] revision in the light of the store of new information made available by researches in archæology, and further it became necessary that the information collected and properly arranged be made available to the general public not acquainted with English. R. B. Pandit Gaurishankar was eminently fitted for the work and the Hindi-knowing public will be glad to know that the work so far turned out sufficiently justifies the expectations formed of him.

"*The Indian Historical Quarterly*", *Calcutta, December, 1928.*

It is only necessary to acknowledge that all students of Rajput history must ever remain grateful to the author for the most brilliant work that he has produced at the cost of stupendous study and labour. As had been anticipated in the review of the first fasciculus, the name of the author is a guarantee that all that is worth knowing would find place in his work. There is hardly any evidence which he has left untouched and unexamined, and probably no other book of Indian scholarship published in recent years shows such a mastery of the subject, painstaking scholarship and accuracy of judgment.

"*The Leader*", *Allahabad, October 10, 1925.*

Rai Bahadur Pandit Gaurishankar Hirachand Ojha is a well-known Hindi writer and antiquarian. We have received from him the first volume of the *History of Rajasthan* which he is bringing out in Hindi. It contains evidence of the enormous labour and care he has bestowed on the task he has undertaken. We have no doubt that the publication will be a very valuable addition to the historical literature relating to a part of India, which has been the home of Indian chivalry and valour and which has furnished many inspiring themes to poets, dramatists and historians.

"The Amrit Bazar Patrika," Calcutta, November 28, 1925.

The name of Rai Bahadur Gaurishankar Hirachand Ojha occupies the foremost place in the list of present-day Rajputana's historians. His composition of a real history of the Solankis has already won an imperishable fame for him. And now he has set his hands to the History of Rajputana, a work really stupendous and valuable......

Col. Tod has won the gratitude of Indians by composing a history of the Rajputs. About a century has passed since the publication of his book and during this period a complete evolution has come over the field of historical research. This intervening period has seen the publication of many historical works from various new facts and the discovery of many inscriptions, copper-plates and coins. And the time has come to make a thorough and wholesale alteration of the history of Rajputana with the help of these newly discovered facts.

"The Bombay Chronicle", December 13, 1925.

Mr. Ojha is a scholar who has devoted forty years to the services of Hindi by embellishing its literature with original and important books and essays and even to-day at the age of sixty-three is engaged in the work of historical research with all the zeal of a young man......His book on Palæography has been eulogised both in India and in foreign countries and is regarded as an unrivalled work on the subject in any Indian language. Indeed, Mr. Ojha is an exceptional scholar of antiquity, the highest authority on Palæography......Mr. Ojha's reputation as a scholar is not limited to India, but extends to Germany, England, America, etc. Eminent Western scholars like Professors Kielhorn, Hoernle, etc., have been impressed by Mr. Ojha's powers of research and have not only deeply appreciated its results but are also keen admirers of his erudition.

The book under review is not only a criticism of the principles of serious research, but is replete with accounts of thrilling anecdotes like Padmini's *Jauhar* sacrifice. A striking characteristic of the writing is its freedom from imagination or guess-work......

The book is thus a gem to be treasured not only by the students of history but also by every Hindi-knowing person in general and every Rajasthanee in particular.

"The People", Lahore, September 12, 1926.

An up-to-date history of Rajputana has long been a desideratum......It is fortunate that the task has now been taken up by a veteran scholar, whose name is a guarantee for accuracy of detail, bold and sympathetic point of view and critical handling of facts. R. B. Gaurishankar H. Ojha is intimately associated with the land of the Rajputs. To his vast knowledge of Indian Epigraphy, he adds a capacity for hard work and patient research.........Mr. Ojha, we are sure, will execute his part with admirable ability, though it will be left to some future hand to take advantage of his pioneer work and to tell a tale that shall live in the memories of generations to come......

In chapter III is given a brief survey of the royal families that ruled over the various parts of Rajputana from the epic age to the Rajput period proper. This portion is extremely well-written and deals with a number of dynasties normally ignored by other writers on Indian history. Some scholars may be disposed to look upon this lengthy chapter (164 pages) as irrelevant and extraneous to the scope of the work. But we must not overlook the fact that the author is writing a history of Rajputana and not a history of the Rajputs only. Moreover, to serve another useful purpose, *i. e.*, to impress on the readers the inaccuracy of the bardic annals and the light thrown on ancient Indian history by modern research.........

Students of Indian history owe the learned author a great debt of gratitude. The task could not have been entrusted to better hands.

"The United India and Indian States", Delhi,
January 16, 1926.

The Hindi language is decidedly richer by this volume of Rai Bahadur Ojha and Rajputana is to be congratulated on getting for its historian a person of such recognized

merit. The Rai Bahadur is one of the greatest antiquarians of India and has already enriched the Hindi language by much original work. He is undoubtedly the greatest authority on the history of Rajputana and has devoted a life-time to the study of Rajputana antiquities. Before this, Tod was the generally accepted authority on Rajputana history. From Tod to Ojha is a transition from the bard to the historian. Tod's narrative is more romantic than historical.........The Rai Bahadur fully authenticates his statements and has ample references. He does not blindly follow English authorities. His is the work of an original historian, which if published in English, would have won him immediate recognition all over India as a great historian.

राजपूताने के इतिहास पर हिन्दी के विद्वानों तथा पत्रों की सम्मतियां

स्वर्गीय महाराजराणा सर भवानीसिंहजी बहादुर, झालावाड़-नरेश—

रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा राजपूताने के उन इने-गिने पुरुषों में हैं, जिनका अभिमान सारे भारतवर्ष के हिन्दी भाषा-भाषियों को और इतिहास-प्रेमियों को है। आपका प्रत्येक ग्रंथ पढ़ने और विचार करने के योग्य है। सोलंकियों का इतिहास, अशोक की धर्मलिपियां आदि ऐसे ही ग्रंथ हैं। पंडितजी की प्राचीन लिपिमाला ने तो संसार के सामने भारत का मस्तक ऊंचा कर दिया है। आज संसार भर के साहित्य में इसकी जोड़ का दूसरा ग्रंथ इस विषय पर नहीं मिलता।...... इन्हीं पंडितजी ने अब एक बृहत् ग्रंथ लिखा है, जिसका नाम 'राजस्थान (राजपूताने) का इतिहास' है, जो ६ भागों में पूर्ण होगा। पहला भाग प्रकाशित भी हो चुका है, जिसके देखने से पंडितजी की गवेषणा-शक्ति का खूब परिचय मिलता है। इसमें पंडितजी ने नई-से-नई खोजों के आधार पर प्रमाण-पूर्वक राजस्थान का इतिहास लिखा है, जो प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी के पुस्तकालय में रक्खा जाना चाहिये। पंडितजी इस ग्रंथ के कारण प्रत्येक राजस्थान के निवासियों के ही नहीं, प्रत्येक हिन्दी समझनेवाले मनुष्य के धन्यवाद के अधिकारी हैं।

राजमाता शिवकुंवर, नरसिंहगढ़ राज्य (मध्य भारत)—

आपके रचित 'इतिहास-राजस्थान' का प्रथम खण्ड मैंने देखा है। निस्संदेह ही आपने भारत के प्राचीन राजकुलों के संबंध में बड़ी गहरी खोज और परिश्रम का परिचय दिया है। और भी कितने ही महानुभावों ने इतिहास राजपूताने के लिखे हैं, परन्तु उनमें विशेषकर अनुमान से काम लिया गया है, जिससे अनेक अंश भ्रमपूर्ण होकर संदिग्धता प्रकट करते हैं, परन्तु आपकी कृति प्राचीन शिलालेख, ताम्रपत्रादि की प्रशस्तियों के प्रमाणिक आधार पर अभूतपूर्व हुई है। इससे निर्भ्रान्त एवं सत्य की

प्रदर्शकी प्रतीत होती है। निस्संदेह ही इससे राजपूत जाति का उपकार हुआ है और अतीत काल की क्षत्रिय जाति के गौरव पर अच्छा प्रकाश पड़ा है। आशा है, इस आवश्यक ग्रंथ का द्वितीय खण्ड भी इसी भांति अपने प्रकाश से क्षत्रिय सन्तानों को आह्लादित कर उनको प्राचीन पुरुषों की गुणावली का भली-भांति दिग्दर्शन करावेगा।

साहित्य-महारथी विद्वद्वर पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी
(भूतपूर्व 'सरस्वती'-सम्पादक)—

यह पुस्तक लिखकर आपने बड़ा काम किया। राजपूताने के इतिहास के सम्बन्ध में प्रचलित सैकड़ों भ्रमों और भूलों का निरसन इससे हो जायगा। आपने इसे बड़े श्रम, बड़े मनोयोग और बहुत बड़ी खोज करके लिखा है। आपके इतिहास-प्रेम का यह चिरन्तन स्मारक होगा।...... इसके प्रायः प्रति पृष्ठ पर आपकी योग्यता और इतिहासज्ञता की छाप है।......इतिहासों में आपका इतिहास इस उक्ति को चरितार्थ करता है—

क्रियेत चेत् साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।

'नागरीप्रचारिणी पत्रिका', बनारस, भाग ६, संख्या १ में प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता स्वर्गीय रायबहादुर हीरालालजी, बी. ए. लिखते हैं—

यह ग्रंथ केवल इतिहास ही नहीं है वरन् राजपूताने का खासा गज़ेटियर है। जिस ग्रंथ में किसी देश के राजा, राज्य और राजशासन का वर्णन हो, उसे बहुधा इतिहास कहते हैं, परन्तु गज़ेटियर वह विवरण है जिसमें केवल इतिहास ही नहीं वरन् सभी विषयों का समावेश रहता है। इसे रूप-रंग, आकार-विस्तार, नदी-नाले, पहाड़-जंगल, जल-वायु, खेती-बारी, लोग-बाग, धर्म-कर्म, जाति-पांति, रीति-रस्म, चाल-ढाल, आचार-विचार, कपड़े-लत्ते, गहना-गुरिया, बोली-बानी, शिला-कला, रोग-राई, अकाल-दुकाल, ढोर-बछेरू, पेशे-धंधे, व्यापार-रोजगार, लेन-देन, धन-सम्पत्ति, लूट-मार, लड़ाई-दंगे, राज-दरबार, अमल-भांग, जीर्ण-शीर्ण, महल-मंदिर, शहर-क़स्बे, गांव-खेड़े और मुख्य-मुख्य ठौरों की ख्याति इत्यादि की झांकी समझना चाहिए। ऐसी जानकारी के भंडार से किसको लाभ न पहुंचेगा? शासन-कर्ताओं के लिये तो यह अमूल्य संग्रह है।......

······इनका 'राजपूताने का इतिहास' एक नवीन ढंग का गज़ेटियर है, क्योंकि उसमें ज़िला और प्रादेशिक गज़ेटियर दोनों इकट्ठे कर दिये गये हैं। प्रादेशिक भाग में चार अध्याय हैं। शेष अध्यायों में पृथक् पृथक् रजवाड़ों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। प्रादेशिक अंश का प्रथम अध्याय सारे राजपूताने का भूगोलसंबंधी चित्र उपस्थित करता है और साथ ही साथ सामाजिक, साहित्यिक, धार्मिक आदि व्यवस्थाओं का भी बोध करा देता है। दूसरे और तीसरे अध्यायों में राजपूत जाति और प्राचीन राजवंशों का विस्तारपूर्वक वर्णन है, जिनमें "राजपूत जाति को क्षत्रिय न माननेवालों की तद्विषयक दलीलों की जांच कर सप्रमाण यह बतलाया है कि जो आर्य क्षत्रिय लोग हज़ारों वर्ष पूर्व भारत भूमि पर शासन करते थे, उन्हीं के वंशधर आजकल के राजपूत हैं।"······इन अध्यायों के पढ़ने से राजपूतों की प्राचीन शासन-पद्धति, युद्ध-प्रणाली, स्वामिभक्ति, वीरता और उनकी वीरांगनाओं के पातिव्रत धर्म, शूरवीरता और साहस आदि का चित्र हृदयपट पर अनायास खिंच जाता है। इसके सिवा ग्रंथकर्ता ने उन प्राचीन घरानों का भी दिग्दर्शन करा दिया है, जो वर्त्तमान क्षत्रिय वंशों के अतिरिक्त राजपूताने में राज्य कर गए हैं। सिकन्दर और उसके यूनानी साथी भारत में कैसे आये और चन्द्रगुप्त ने उन्हें कैसे निकाला, शक, कुशन और हूण लोगों का कैसे आगमन हुआ और उनकी क्या गति हुई, गुप्तवंश कैसे बढ़ा, हर्षवर्धन ने अपना साम्राज्य कैसे स्थापित किया इत्यादि घटनाओं का परिचय संक्षिप्त रीति से करा दिया गया है। इसके साथ ही यह भी बतला दिया गया है कि राजपूत जाति अपना प्राचीन इतिहास भाटों की करतूत से कहांतक भूल गई और बाप का बेटा और बेटे का बाप कैसे बना दिया गया और शुद्ध स्रोत से उत्पन्न वंश के लोग अपावन कुलों से अपना संबंध कैसे बतलाने लगे। जो बहुतेरी भूलें टॉड सरीखे खोज के इतिहास में प्रवेश कर गई थीं, उनका भी यथोचित निवारण कर दिया गया है।······

इस ग्रंथ की खूबी यह है कि कोई बात बिना प्रमाण बतलाए नहीं

लिखी गई है। इसी कारण आधा ग्रंथ फुट-नोटों से भरा हुआ है। यह बात अंग्रेज़ी गज़ेटियरों में भी नहीं पाई जाती। यह इतिहासलेखकों के लिये विशेष उपयोगी है। लेखन-शैली उत्तम और हृदयग्राही है।......यह पुस्तक हरएक पुस्तकालय में संग्रह करने योग्य है।

'श्रीवेंकटेश्वर समाचार', बंबई, ता० २-१०-१९२५—

......रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा ने यह इतिहास लिखकर हिन्दी संसार का बड़ा उपकार किया है। हिन्दी में आज तक कोई ऐसा दूसरा मौलिक ग्रंथ नहीं बना था, जो राजस्थान के इतिहास पर पूरा प्रकाश डाले। रायबहादुर पंडित ओझाजी महाराज ने 'राजपूताने का इतिहास' लिखकर इस भारी अभाव की पूर्ति कर दी है। पुस्तक की भाषा बहुत ही रोचक, सरल, सुललित और हृदयग्राही है। ओझाजी जैसे हिन्दी के अद्वितीय विद्वान् की लेखनी से निकली पुस्तक की प्रशंसा करना सूर्य को दीपक दिखाने के बराबर है। देशभक्त इतिहास-प्रेमियों को ऐसे ग्रंथों का अवलोकन करना चाहिये।

'आज', बनारस २२ सौर कार्तिक, संवत् १९८२—

पण्डित गौरीशंकर हीराचंद ओझा प्रसिद्ध विद्वान् हैं। उन्होंने इतिहास-संबंधी कई महत्वपूर्ण शोधें की हैं, अतः उनकी पुस्तक का मौलिक होना स्वाभाविक है।......पुस्तक के पृष्ठों पर उसके अनुभवी और स्वतन्त्रचेता रचयिता के व्यक्तित्व की सुदृढ़ छाप है।......यों तो इन पृथक् इतिहासों का भी बड़ा महत्त्व है और इनमें अवश्य नये शोधों की सहायता से बहुतसी अज्ञातपूर्व बातें बतलाई जायेंगी, जिनसे भारतीय इतिहास के कई तिमिराच्छन्न अंशों पर प्रकाश पड़ेगा, परन्तु हमारी दृष्टि में भूमिका-भाग का बहुत बड़ा महत्त्व है। विशेषतः उसके दूसरे और तीसरे अध्याय (अर्थात् राजपूत और प्राचीन राजवंश) पर ओझाजी ने जो परिश्रम किया है, इसके लिये हम उनके ऋणी हैं।

......मौर्यों को शूद्र कहने का जो दस्तूर पड़ गया है, उसका

ओझाजी ने अच्छा खंडन किया है। उन्होंने सिद्ध किया है कि मौर्य नरेश एक प्राचीन सूर्यवंशीय घराने के थे। उनको मुरा नाइन की सन्तति बतलाना भारी भूल है। इसी प्रकार अग्निकुलों की उत्पत्ति पर भी उन्होंने अच्छा विचार किया है और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि इनमें तीन अर्थात् चौहान, परिहार और सोलंकी पहले सूर्य और चन्द्रवंशीय गिने जाते थे।

......प्राचीन राजवंश के संबंध में बहुतसी रोचक बातें बतलाई गई हैं, जिनसे एक ओर तो राजपूताने के अतिरिक्त सामान्य भारतीय इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है, दूसरी ओर राजपूत कुलों का प्राचीन क्षत्रिय कुलों से संबंध भी देख पड़ता है।

'प्रताप' कानपुर, ता० २४-८-२५—

......आप ही की लेखनी द्वारा लिखा हुआ 'राजपूताने का इतिहास' जिसका प्रथम खण्ड हमारे सामने है, अवश्य अत्यंत महत्त्व का ग्रंथ है।

......जिन जिन स्थानों पर आप टॉड, विसेंट, स्मिथ आदि इतिहासकारों से सहमत नहीं हैं, वहां आपने प्रबल प्रमाणों-द्वारा अपने मत को साहस, निर्भीकता और संयम से प्रकट किया है।

......वास्तव में हिन्दी का सौभाग्य है कि उसमें भी अब इतिहास सम्बन्धी मौलिक और शोध-परिपूर्ण ग्रंथ लिखे जाने लगे हैं। ओझाजी अंग्रेज़ी के भी विद्वान् हैं। वे चाहते तो अन्य भारतीय इतिहासकारों की भांति इस ग्रंथ को पहले अंग्रेज़ी ही में लिखते। परंतु आपने इसे हिन्दी ही में लिखकर हिन्दी का गौरव बढ़ाया है।

'सौराष्ट्र' (गुजराती), राणपुर, ता० २-१-१९२६—

......टॉडना ए प्रयत्न पछी आज सुधी राजपूताना नो इतिहास कोई साचा अने महान सेवक ने हाथे संस्करणनी अथवा पुनर्विधाननी राह जोतो पड्यो हतो। अने आटला वरसे पण इतिहास नो एक उद्धारक नीकली आवे छे अने दुनिया भरमां अजब श्रद्धा थी अने प्रमाण ना प्रचंड बल थी जाहेर करे छे के 'राजपूताना नो साचो अने आदर्श इतिहास आ प्रमाणे छे, आ प्रमाणे छे'।

ए उद्धारकनुं नाम पंडित गौरीशंकर ओझा। हिन्दी भाषाना आसमर्थ अने विद्वान् संशोधकनुं नाम आजे एकला हिंद ने नहीं पण सारा जगत ने महिमावंत बनावे छे। आजे ६३ वर्षनी ऊमरे पण एनां ऐतिहासिक संशोधनो यूरोप ना निष्णातोने छक करी रह्यां छे। प्राचीन लिपिविज्ञानमां तो ए पिता

छे। ए विषे एणे पोतानी शोध खोलना ग्रंथों पण दुनिया ने चरणे धर्या छे; प्राचीन लिपिना एना उकेल यूरोपियन विद्वानों पण प्रमाणभूत गणे छे······

एने हाथे लखाएला इतिहास ग्रंथना मूल केवी रीते मूलववां? प्रत्येक इतिहास-प्रेमी ने ते खरीदे लई वांचवानी भलामण कर्या बाद अमे आ पहेला खंड ना वस्तुनो निर्देश करीए छीए।······श्रीओझाए कोई पण सिद्धान्त, मान्यता के हकीकत ने लवलेश कल्पना के तरंग थी कलुषित थवा नथी दीधी। एना प्रत्येक शब्द ने माटे समर्थ प्रमाण अने पुरावा एणे आप्या छे, अने छतां इतिहास दिलने बहलावे एवी पद्मनी वगेरेनी रोमांचकार वातो पण एणे गुंथी दीधी छे। लंडन, हालेंड अने जर्मनी ना अनेक विद्वानोए आ ग्रंथ माटे उच्च अभिप्रायो आप्या छे।

'गुजराती,' मुम्बई, ता० १४-३-१९२६—

······पण्डितजीनो परिचय गुजरातना इतिहास-प्रेमी विद्वानोने नवेसरथी करावयानी आवश्यकता नथी, कारण के 'भारतीय प्राचीन-लिपिमाला', 'भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री', 'दक्षिण के सोलंकियों का इतिहास' आदि स्वतंत्र ऐतिहासिक ग्रंथों, कर्नल टॉड-कृत राजस्थान नो हिन्दी अनुवाद तथा तेमांनी भूलो दर्शावनारी टिप्पणीओ, 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' (बनारस) मां आवेला इतिहास पर नवीन प्रकाश नांखतां लेखो परथी तेओश्रीनुं नाम केवल भारतवर्षमांज नहीं किन्तु यूरोपना भिन्न भिन्न भागोमां पण एक प्रामाणिक इतिहास-लेखक तरीके जाणीतुं थयेलुं छे। बे वर्षनी वात पर भारतनी वर्तमान राजधानी दिल्लीमां भराएला 'चतुर्दश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' तरफथी पंडित श्रीने तेमना 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' नामक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा उपादेय ग्रंथ माटे रु० १२००) नुं पारितोषिक तथा ताम्रपत्र पर एक सम्मानपत्र अर्पण करवामां आव्या हतां।······जो के पंडितश्री भारतवर्षना इतिहास ना पण ज्ञाता छे परन्तु राजपूताना इतिहासना तो एक प्रामाणिक विद्वान् लेखाय छे। राजपूतानानी इतिहासविषयक सामग्री तेओश्री केटलाय वर्षोथी एकत्र करता आव्या छे। तात्पर्य के राजपूताना ना इतिहास विषेनो पंडितश्रीनो प्रस्तुत ग्रंथ इतिहास-प्रेमी विद्वानोमां एक प्रमाणभूत (Authority) ग्रंथ तरीके लेखाशे एमां कोई पण प्रकारनी शंका नथी।

······पंडितश्रीनो इतिहास परिपूर्ण थया पछी टॉड-कृत राजस्थान नी उपयोगिता पण घणे अंशे ओछी थई जशे।